अप्रैल, 2018

उच्चतम न्यायालय
निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द्र ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

---

1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा................................. द्वारा मुद्रित ।

पी एल डी (डी)-4-2018 आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

अप्रैल, 2018 अंक - 4

प्रधान संपादक
डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक
कमला कांत

सत्यमेव जयते

विधि साहित्य
प्रकाशन

[2018] 2 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

विक्रय कार्यालय : 1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

सामाजिक समरसता देश की पूंजी है । विभिन्न जाति, धर्म, संप्रदाय और पंथ के लोग एकात्मकता की भावना से समाज में सौहार्दपूर्ण ढंग से अपना जीवन-यापन करते हैं । समाज के किसी वर्ग या समुदाय के प्रति उसकी दुर्बलता या निरीहता के कारण शोषण नहीं किया जाता । फिर भी, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के लिए अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 का अधिनियमन किया गया । उच्चतम न्यायालय ने **अशरफी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** [2018] 2 उम. नि. प. 83 वाले मामले में, यह न्यादेश दिया कि बलात्संग के अपराध के मामले में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम केवल तभी लागू किया जा सकता है यदि यह साबित हो जाता है कि बलात्संग इस आधार पर किया गया था कि पीड़िता अनुसूचित जाति समुदाय की है ।

संविधान के अनुच्छेद 39क के अनुसार राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या किसी अन्य रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा । उच्चतम न्यायालय ने **बी. सुनीता** बनाम **तेलंगाना राज्य और एक अन्य** [2018] 2 उम. नि. प. 65 वाले मामले में यह मत व्यक्त किया कि न्याय प्रशासन की सफलता काफी हद तक न्याय तक पहुंच के लिए विधिक वृत्ति के सफलतापूर्वक विनियमन पर निर्भर करती है । इस न्यायालय ने विधिज्ञ वर्ग को यह अधिदेश दिया कि अन्याय के शिकार व्यक्तियों को शीघ्र और सस्ता न्याय उपलब्ध कराया जाए और उनके अधिकारों की संरक्षा की जाए । **शिवाजी बलराम हैबाती** बनाम **अविनाश मारुति पवार** [2018] 2 उम. नि. प. 13 वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यदि उच्च न्यायालय अपनी अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों और साक्ष्यों के परे जाकर ऐसे प्रश्न का विनिश्चय करता है जो न तो विधि का सारवान् प्रश्न था और न ही निचले न्यायालयों के समक्ष अंतर्वलित था, तो ऐसा विनिश्चय अधिकारातीत होने के नाते अवैध और अविधिमान्य होगा ।

उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त इस अंक में अन्य कई महत्वपूर्ण विवाद्यकों के समाधान को समाविष्ट किया गया है । इस अंक में अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 2001 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । प्रिवी कौंसिल के 1 से 81 तक के पृष्ठों को भी सम्मिलित किया गया है । सभी पाठकों से यह अनुरोध है कि अपने सुविचारों से हमें अवगत कराते रहें जिससे भावी अंकों के परिमार्जन में हमें सहायता मिले ।

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय
प्रधान संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

अप्रैल, 2018

निर्णय-सूची

पृष्ठ संख्या

अनिल अंकुश गाडेकर **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 129)	
अनिल कुमार सिंह **बनाम** विजय पाल सिंह और अन्य	25
अशरफी **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य	83
इस्साक **उर्फ** किशोर **बनाम** रोनाल्ड चेरियन और अन्य	117
उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** रघुवीर और एक अन्य आदि और अन्य	106
ज्येष्ठ प्रबंधक (पी. एंड डी.) रीको लिमिटेड **बनाम** राजस्थान राज्य और एक अन्य	1
बी. सुनीता **बनाम** तेलंगाना राज्य और एक अन्य	65
बैंक ऑफ इंडिया **बनाम** यादव कंसल्टेंसी सर्विसेज़ (प्रा.) लिमिटेड और एक अन्य	48
लतेश **उर्फ** दादू बाबूराव कार्लेकर **बनाम** महाराष्ट्र राज्य	129
विजय **उर्फ** विजय इस्त्रीवाला रामदुलारी निर्मल **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 129)	
विष्णु मारुति बुले **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 129)	
शिवाजी बलराम हैबाती **बनाम** अविनाश मारुति पवार	13
सी वेंकट स्वामी **बनाम** एच. एन. शिवन्ना (मृत) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा, और एक अन्य	39
सुनील काशी नाथ चंदनशिवा **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 129)	

	पृष्ठ संख्या
त्रिलोक सिंह चौहान **बनाम** राम लाल (मृत) **मार्फत** इसके विधिक प्रतिनिधिगण	89

संसद् के अधिनियम

अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 2001 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ	1 – 26
प्रिवी कौंसिल के निर्णय	1 – 81

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (1989 का 12) (असंशोधित)

– धारा 3(2)(v) [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 450, 376(2)(छ) और 323] – अनुसूचित जाति की स्त्री के साथ बलात्संग – दोषसिद्धि – असंशोधित अधिनियम की धारा 3(2)(v) में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति के साथ अपराध कारित करने में अभियुक्त के आशय पर जोर दिया गया है, इसलिए केवल इस कारण कि आहत अनुसूचित जाति समुदाय की है, उसके साथ अपराध कारित करने में अभियुक्त-अपीलार्थी के आशय को साबित करने वाले किसी साक्ष्य के अभाव में इस धारा के अधीन दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

अशरफी बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** 83

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 190 – अपराध का संज्ञान – कूटरचना का अभिकथन – यदि अभिलेख पर ऐसा कोई साक्ष्य विद्यमान नहीं है कि कूटरचित दस्तावेज़ वास्तव में अभियुक्त द्वारा तैयार किया गया था तो अभियुक्त के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है तथा उसके विरुद्ध संज्ञान नहीं लिया जा सकता है ।

ज्येष्ठ प्रबंधक (पी. एंड डी.) रीको लिमिटेड बनाम **राजस्थान राज्य और एक अन्य** 1

– धारा 195(1)(ख)(ii) – मिथ्या साक्ष्य विरचित करने के लिए अभियोजन – अपीलार्थी द्वारा जारी किए जाने के लिए तात्पर्यित पत्र की कूटरचना करने का अभिकथन – अभिकथित कूटरचित पत्र का एक पृथक् सिविल वाद में

पृष्ठ संख्या

पहले ही न्यायालय के समक्ष फाइल किया जाना – चूंकि सिविल मामले में न्यायालय के समक्ष पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् कूटरचना कारित करने का मामला साबित नहीं होता है इसलिए धारा 195(1)(ख)(ii) लागू नहीं होगी ।

ज्येष्ठ प्रबंधक (पी. एंड डी.) रीको लिमिटेड बनाम **राजस्थान राज्य और एक अन्य** 1

– धारा 386 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302, 394 और 34] – अपील न्यायालय की शक्तियां – विचारण न्यायालय द्वारा दो अभियुक्तों के विरुद्ध सामान्य आशय का विवाद्यक विरचित करने के बावजूद एक अभियुक्त के विरुद्ध आरोप विरचित न करके उसे दोषमुक्त किया जाना – प्राइवेट अपील – उच्च न्यायालय दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में, ऐसी आपवादिक परिस्थितियों में, प्राइवेट पक्षकारों की प्रेरणा पर भी दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त कर सकता है, जहां विचारण के संचालन में ऐसी सुस्पष्ट त्रुटि हो जिससे विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ हो या उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो, वहां उच्च न्यायालय द्वारा मामले के तथ्य और परिस्थितियों में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए मामले का पुनःविचारण करने का निदेश देना उचित होगा ।

इस्साक उर्फ **किशोर** बनाम **रोनाल्ड चेरियन और अन्य** 117

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 302 – हत्या – प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों का साक्ष्य विश्वसनीय और भरोसेमंद पाए जाने और उसकी संपुष्टि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की इस रिपोर्ट से होने पर कि मृतक पर गोलियां अभियुक्तों में से एक अभियुक्त से बरामद बंदूक से चलाई गई थीं, उस अभियुक्त को दोषसिद्ध और दंडादिष्ट करना और मामले के तथ्य और परिस्थितियों में अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध कोई संपुष्टिकारी साक्ष्य न होने के

पृष्ठ संख्या

कारण उन्हें संदेह का फायदा देकर दोषमुक्त करना न्यायोचित होगा ।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम **रघुवीर और एक अन्य आदि और अन्य** 106

– धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – आहत प्रत्यक्षदर्शी साक्षी द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभियुक्तों के नामों का उल्लेख न करना – यह स्थिर विधि है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में ऐसे छोटे-छोटे ब्यौरों और दृष्टांतों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है कि अपराध कैसे किया गया था, इसलिए केवल इस कारण कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभियुक्तों के नामों का उल्लेख नहीं है, इसकी अंतर्वस्तुओं पर संदेह करने और अभियोजन के पक्षकथन को अस्वीकार करने का आधार नहीं हो सकता है ।

लतेश उर्फ **दादू बाबूराव कार्लेकर** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 129

– धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – अभियुक्तों की शनाख्त के लिए शनाख्त परेड आयोजित न किया जाना – शनाख्त परीक्षण परेड आयोजित करने की आवश्यकता केवल तब उद्‌भूत होती है जब अभियुक्त एक-दूसरे के पहले से जानने वाले न हों और जहां अभियुक्त और क्षतिग्रस्त साक्षी पहले से एक-दूसरे को जानते थे, वहां शनाख्त परेड के अभाव में अभियोजन का पक्षकथन दूषित नहीं हो जाएगा ।

लतेश उर्फ **दादू बाबूराव कार्लेकर** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 129

– धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – दोषसिद्धि – अभियोजन पक्ष द्वारा अभियुक्तों में से दो अभियुक्तों के विरुद्ध मामले को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं करने पर उनकी दोषसिद्धि को अपास्त करना और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध निश्चायक और विश्वसनीय

पृष्ठ संख्या

साक्ष्य द्वारा मामला युक्तियुक्ति संदेह के परे साबित होने पर उनकी दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखना उचित होगा ।

लतेश उर्फ **दादू बाबूराव कार्लेकर** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 129

– धारा 450, 376(2)(छ) और 323 – गृह अतिचार और बलात्संग – अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य के साथ-साथ चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर दो निचले न्यायालयों द्वारा अभियुक्त के विरुद्ध दोषसिद्धि के निकाले गए समवर्ती निष्कर्षों में कोई अनौचित्य न होने के कारण उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश में हस्तक्षेप करना उचित नहीं होगा ।

अशरफी बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** 83

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26)

– धारा 138 और 139 – चैक का अनादरण – अधिवक्ता द्वारा मुकदमेबाजी की विषयवस्तु/मुकदमेबाजी में प्रत्याशित डिक्रीत रकम की प्रतिशतता के आधार पर फीस का दावा करना – चैक के धारक के पक्ष में उपधारणा – मुवक्किल चैक जारी करने मात्र से अधिवक्ता द्वारा दावाकृत फीस संबंधी दायित्व का विरोध करने से विवर्जित नहीं हो जाएगा और दायित्व के संबंध में विवाद किए जाने पर अधिवक्ता को स्वतंत्र रूप से संविदा साबित करनी होगी तथा आकस्मिक फीस संबंधी दावा किसी अधिवक्ता द्वारा परिवाद करने का आधार नहीं हो सकता क्योंकि आकस्मिक फीस संबंधी दावा एक वृत्तिक अवचार है और लोक नीति के विरुद्ध है ।

बी. सुनीता बनाम **तेलंगाना राज्य और एक अन्य** 65

बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51)

– धारा 5,10 और 25 [सपठित सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास अधिनियम, 2006 (2006 का 27)] – ऋण की

पृष्ठ संख्या

वसूली – 2006 के अधिनियम का लागू होना – सुरक्षा प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से करने संबंधी अधिकरण का आदेश अंतिम और बाध्यकारी – न्यायालय आयुक्त द्वारा ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण तथा उच्च न्यायालय के समक्ष मामले में कार्यवाही करने के पश्चात् सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् के समक्ष सुलह कार्यवाहियों का अवलंब लेना – चूंकि ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण में साधारण सिविल न्यायालय की शक्तियां निहित हैं इसलिए सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् के पास न्यायालय आयुक्त द्वारा फाइल किए गए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी ।

बैंक ऑफ इंडिया बनाम **यादव कंसल्टेंसी सर्विसेज़ (प्रा.) लिमिटेड और एक अन्य** 48

– धारा 25 – ऋण की वसूली – न्यायालय आयुक्त द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा सेवाओं के लिए संदाय करने की बाध्यता – चूंकि वसूली अधिकारी के आदेश द्वारा न्यायालय आयुक्त की सेवाएं नवम्बर, 2016 में समाप्त हो गईं थीं और वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील पर ऋण वसूली अधिकरण ने बैंक को नीलाम क्रेता से सुरक्षा प्रभार प्राप्त करने का निदेश दिया था तथा न्यायालय आयुक्त ने उस आदेश को चुनौती नहीं दी थी, इसलिए आयुक्त द्वारा सेवा समाप्त होने की तारीख के पश्चात् प्रदान की गई सेवाओं के लिए केवल नीलाम क्रेता ही संदाय करने का दायी होगा ।

बैंक ऑफ इंडिया बनाम **यादव कंसल्टेंसी सर्विसेज़ (प्रा.) लिमिटेड और एक अन्य** 48

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 39क – न्याय प्रशासन में विधिक वृत्ति की

पृष्ठ संख्या

भूमिका – अधिवक्ताओं के वृत्तिक मानदंड, आचार और कर्तव्य – वाणिज्यीकरण का तत्व बढ़ने और सेवा का तत्व कम होने की प्रवृत्ति – विधिक वृत्ति के कुछ सदस्यों की ओर से मुकदमेबाज़ का शोषण करने की सीमा तक वाणिज्यीकरण को और न्यायालय तथा मुकदमेबाज़ के प्रति उनके वृत्तिक कर्तव्यों के भंग को नियंत्रित करने की आवश्यकता है ।

बी. सुनीता बनाम **तेलंगाना राज्य और एक अन्य** 65

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश XXIII का नियम 1] – वादी द्वारा वाद प्रत्याहरण करने की ईप्सा करते हुए, आवेदन फाइल करना – विचारण न्यायालय द्वारा वादी को वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा मंजूर करना – पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना – उच्च न्यायालय के समक्ष इसके विरुद्ध अपील फाइल किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय उलटा जाना – यदि विचारण न्यायालय ने वादी द्वारा वाद प्रत्याहरण करने के आवेदन को मंजूर करते हुए, विधि के अनुसरण में वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी है और पुनरीक्षण न्यायालय ने इसकी पुष्टि भी कर दी है तो उच्च न्यायालय द्वारा अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, ऐसी अनुज्ञा को रद्द नहीं किया जा सकता है – प्रतिवादी द्वारा विरोध करने पर उसे मात्र खर्चे को प्राप्त करने की ही अनुज्ञा दी जा सकती है न कि वादी को पुनः वाद फाइल करने के लिए आबद्ध करने की अनुज्ञा दी जा सकती है ।

अनिल कुमार सिंह बनाम **विजय पाल सिंह और अन्य** 25

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100] – सिविल अपील – उच्च न्यायालय द्वारा अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों और साक्ष्यों के परे जाकर ऐसे प्रश्न पर विनिश्चय करना जो न तो विधि के सारवान् प्रश्न थे न ही

पृष्ठ संख्या

निचले न्यायालयों के समक्ष अन्तर्वलित थे – ऐसे विनिश्चय को अवैध और अमान्य ठहराया जाना – यदि उच्च न्यायालय ने अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों और साक्ष्यों के परे जाकर ऐसे प्रश्न पर विनिश्चय किया है जो न तो विधि के सारवान् प्रश्न थे और न ही निचले न्यायालयों के समक्ष अन्तर्वलित थे तो ऐसा विनिश्चय अधिकारातीत होने के नाते अवैध और अविधिमान्य होगा ।

शिवाजी बलराम हैबाती बनाम **अविनाश मारुति पवार** 13

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 और प्रांतीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम, 1887 की धारा 25] – अपील – पुनरीक्षण अधिकारिता – सारवान् विधिक त्रुटि – घोर अन्याय – उच्च न्यायालय अपनी पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय में तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकता है जब तक कि अभिलेख पर यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता है कि मामले में, सारवान् विधिक त्रुटि कारित हुई है या घोर अन्याय हुआ है ।

त्रिलोक सिंह चौहान बनाम **राम लाल (मृत)** मार्फत **इसके विधिक प्रतिनिधिगण** 89

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

– धारा 96 और आदेश 41, नियम 31 – प्रथम अपील – प्रथम अपील के निपटान की समुचित पद्धति – चूंकि प्रथम अपील न्यायालय ने अपीलों को सरसरी तौर पर, मामले में उद्भूत होने वाले विभिन्न मुद्दों के संबंध में साक्ष्य का मूल्यांकन किए बिना और पक्षकारों द्वारा अपने पक्षकथन के समर्थन में दी गई दलीलों पर विचार किए बिना खारिज कर दिया था इसलिए इन अपीलों के निपटान के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह आदेश 41, नियम 31 के साथ

पृष्ठ संख्या

पठित धारा 96 की अपेक्षाओं के अनुरूप है और अतः अपीलों को नए सिरे से निपटारे के लिए प्रतिप्रेषित किया गया ।

सी वेंकट स्वामी बनाम **एच. एन. शिवन्ना (मृत) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा, और एक अन्य** 39

[2018] 2 उम. नि. प. 1

ज्येष्ठ प्रबंधक (पी. एंड डी.) रीको लिमिटेड

बनाम

राजस्थान राज्य और एक अन्य

3 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 195(1)(ख)(ii) – मिथ्या साक्ष्य विरचित करने के लिए अभियोजन – अपीलार्थी द्वारा जारी किए जाने के लिए तात्पर्यित पत्र की कूटरचना करने का अभिकथन – अभिकथित कूटरचित पत्र का एक पृथक् सिविल वाद में पहले ही न्यायालय के समक्ष फाइल किया जाना – चूंकि सिविल मामले में न्यायालय के समक्ष पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् कूटरचना कारित करने का मामला साबित नहीं होता है इसलिए धारा 195(1)(ख)(ii) लागू नहीं होगी ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 190 – अपराध का संज्ञान – कूटरचना का अभिकथन – यदि अभिलेख पर ऐसा कोई साक्ष्य विद्यमान नहीं है कि कूटरचित दस्तावेज़ वास्तव में अभियुक्त द्वारा तैयार किया गया था तो अभियुक्त के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है तथा उसके विरुद्ध संज्ञान नहीं लिया जा सकता है ।

प्रस्तुत मामले में प्रादेशिक प्रबंधक, रीको, श्रीगंगानगर द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 को उसके भागीदार के माध्यम से एक पत्र जारी किया जाना तात्पर्यित था । जब अपीलार्थी को, जोकि प्रादेशिक प्रबंधक के रूप में कार्य कर रहा था और जिसने अभिकथित रूप से उक्त पत्र पर हस्ताक्षर किए थे, उस पत्र के बारे में पता चला तो उसने प्रत्यर्थी सं. 2 को 24 घंटे के भीतर पत्र की मूल प्रति प्रस्तुत करने के लिए कहा । प्रत्यर्थी सं. 2 के कार्यालय के समक्ष वह पत्र प्रस्तुत नहीं किया गया था बल्कि वह पत्र मैसर्स कान्हा रिफाइंड ऑयल एंड वनस्पति प्राइवेट लिमिटेड बनाम रीको लिमिटेड नामक वाद में उसके काउंसेल द्वारा प्रस्तुत किया गया था । अपीलार्थी ने भारतीय दंड संहिता की धारा 420 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल की जिसमें

यह अभिकथन किया गया कि प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा उस पत्र की कूटरचना की गई है और उसे कार्यालय से चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी द्वारा प्रेषित करा दिया गया । यह अभिकथित किया गया है कि प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा कपट करके, कूटरचित और मिथ्या दस्तावेज़ तैयार किया गया, इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 467, 468 और 471 के अधीन अपराध बनता है । धारा 420 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई थी । अंतिम रिपोर्ट कोतवाली पुलिस थाने के निरीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गई थी । अंतिम रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया था कि चूंकि वह पत्र वाद सं. 2/84 में फाइल किया गया है इसलिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए पुलिस मामले का अन्वेषण नहीं कर सकती है । अंतिम रिपोर्ट को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेते हुए स्वीकार कर लिया गया था । अपीलार्थी ने अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया, जिसने मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के आदेश को अपास्त कर दिया और मामले को प्रतिप्रेषित कर दिया । विचारण न्यायालय ने परिवादी को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के पश्चात् एक नया आदेश पारित किया । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने प्रतिप्रेषण के पश्चात्, पुनः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वह पत्र सिविल वाद में फाइल किया गया है इसलिए संज्ञान नहीं लिया जा सकता है । विरोध याचिका खारिज कर दी गई थी और अंतिम रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई थी । अपीलार्थी द्वारा उस आदेश को चुनौती देते हुए दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया गया था । पुनरीक्षण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का उपबंध प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है । पुनरीक्षण न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया और निचले न्यायालय को यह निदेश दिया कि वह फाइल पर उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर विधि के अनुसार आदेश पारित करे । पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश के पश्चात्, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने मामले पर पुनः विचार किया और अपीलार्थी की विरोध याचिका नामंजूर कर दी । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब नहीं लिया था बल्कि अभिलेख पर मौजूद सामग्री को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त के विरुद्ध कूटरचित दस्तावेज़ और कपट करने का प्रथमदृष्ट्या मामला साबित नहीं हुआ है । उस आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा अपर सेशन न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष

एक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया गया था, जोकि खारिज कर दिया गया है । उक्त आदेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका फाइल करके उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया है । उच्च न्यायालय के उक्त आदेश को उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील में चुनौती दी गई है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रस्तुत मामला एक ऐसा मामला है जिसमें तारीख 10 अप्रैल, 1992 के पत्र के बारे में यह दावा किया गया है कि वह कूटरचित पत्र है और उस पर अपीलार्थी ने हस्ताक्षर नहीं किए हैं । अभिलेख पर मौजूद सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि उक्त पत्र मामला सं. 2/84 में न्यायालय के समक्ष फाइल किया गया था । यह पक्षकथन नहीं है कि कूटरचना न्यायालय में पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् कारित की गई थी । इस प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के अधीन उपबंध लागू नहीं होता था । अंतिम रिपोर्ट का परिशीलन करने पर, जोकि कोतवाली पुलिस थाने के निरीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गई थी, यह स्पष्ट होता है कि निरीक्षक ने अन्वेषण करने के पश्चात् अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) को ध्यान में रखते हुए पुलिस इस मामले का अन्वेषण नहीं कर सकती है । (पैरा 9)

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के आधार पर दी गई दलील प्रस्तुत अपील का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत नहीं है । वास्तव में, जैसा कि पहले ऊपर उल्लेख किया गया है, परिवादी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के लागू न होने से संबंधित दलील को निचले न्यायालयों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार, अपीलार्थी द्वारा उपर्युक्त दलील के बल पर कोई फायदा प्राप्त नहीं किया जा सकता है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अपने आदेश में तथा पुनरीक्षण न्यायालय ने अभिलेख पर मौजूद सामग्री पर विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अभियुक्त के विरुद्ध इस संबंध में कोई प्रथमदृष्ट्या मामला साबित नहीं हुआ है कि उसने कोई कूटरचना या दस्तावेज़ की कूटरचना करके कोई कपट कारित किया है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने रिपोर्ट के प्रति भी निर्देश किया है । पुनरीक्षण न्यायालय ने भी अपीलार्थी की समस्त दलीलों पर विचार करने के पश्चात् पुनरीक्षण को गुणागुण के आधार पर खारिज कर दिया है । पुनरीक्षण न्यायालय के उपर्युक्त आदेश को उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी और उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला कि अभिलेख पर कोई ऐसा साक्ष्य नहीं है जिससे यह

संकेत मिलता हो कि वह पत्र प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा तैयार किया गया था । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश में कोई अवैधता नहीं पाई जा सकती है । यद्यपि, अंतिम रिपोर्ट दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेने के आधार पर प्रस्तुत की गई थी किन्तु रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पूर्व पुलिस थाना कोतवाली के निरीक्षक द्वारा अन्वेषण किया गया था और अंतिम रिपोर्ट में अन्वेषण के दौरान संगृहीत समस्त सामग्री के प्रतिनिर्देश किया गया था । पुनरीक्षण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होती है, अपने निर्णय द्वारा निचले न्यायालय को यह निदेश दिया है कि वह उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर विधि के अनुसार आदेश पारित करे । अतः, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री की परीक्षा की और यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त के विरुद्ध संज्ञान लेने के लिए कोई पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है । उच्च न्यायालय ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया, जिसमें कोई त्रुटि नहीं है । पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, इस अपील में कोई गुणागुण नहीं है । (पैरा 10, 11, 12 और 13)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2005]	(2005) 4 एस. सी. सी. 370 : **इकबाल सिंह मरवाह और एक अन्य** बनाम **मीनाक्षी मरवाह और एक अन्य** ;	8
[1998]	(1998) 2 एस. सी. सी. 493 : **सचिदानंद सिंह और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** ।	3

दांडिक अपीली अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 1845.

2012 की एकल न्यायपीठ प्रकीर्ण याचिका सं. 320 में राजस्थान उच्च न्यायालय की जोधपुर न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 7 फरवरी, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डा. मनीष सिंघवी, इरशाद अहमद और शैलजा नन्दा मिश्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से सुश्री रूचि कोहली, निधि जायसवाल, भव्या टंडन, सर्वश्री अजय कुमार तलेसरा,

एस. सरफराज़ करीम, तेजस्वी कुमार
और अम्बर कमरूद्दीन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – यह अपील राजस्थान उच्च न्यायालय के तारीख 7 फरवरी, 2017 के उस निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उस एकल न्यायपीठ दांडिक प्रकीर्ण याचिका को खारिज कर दिया गया था, जोकि अपीलार्थी द्वारा अपर सेशन न्यायाधीश के तारीख 22 जुलाई, 2011 के उस निर्णय को प्रश्नगत करते हुए फाइल की गई थी जिसके द्वारा अपीलार्थी की ओर से फाइल की गई दांडिक पुनरीक्षण याचिका खारिज कर दी गई थी ।

2. इस अपील को उद्‌भूत करने वाले तथ्यों से अपीलार्थी द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 420 के अधीन तारीख 29 अप्रैल, 1992 को दर्ज की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से उद्‌भूत होने वाली मुकदमेबाजी के अनेक प्रक्रम प्रकट होते हैं ।

3. इस मामले के संक्षिप्त तथ्य, जिनका इस अपील का विनिश्चय करने के लिए उल्लेख करना आवश्यक है, निम्नलिखित हैं :–

प्रादेशिक प्रबंधक, रीको, श्रीगंगानगर द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 मैसर्स कान्हा रिफाइंड ऑयल एंड वनस्पति प्राइवेट लिमिटेड को रवि सेतिया (भागीदार) के माध्यम से तारीख 10 अप्रैल, 1992 का एक पत्र जारी किया जाना तात्पर्यित था । जब अपीलार्थी को, जोकि प्रादेशिक प्रबंधक के रूप में कार्य कर रहा था और जिसने अभिकथित रूप से उक्त पत्र पर हस्ताक्षर किए थे, तारीख 10 अप्रैल, 1992 के पत्र के बारे में पता चला तो उसने तारीख 23 अप्रैल, 1992 को प्रत्यर्थी सं. 2 को 24 घंटे के भीतर पत्र की मूल प्रति प्रस्तुत करने के लिए कहा । प्रत्यर्थी सं. 2 के कार्यालय के समक्ष वह पत्र प्रस्तुत नहीं किया गया था बल्कि तारीख 27 अप्रैल, 1992 को वह पत्र मैसर्स कान्हा रिफाइंड ऑयल एंड वनस्पति प्राइवेट लिमिटेड बनाम रीको लिमिटेड नामक 1984 के वाद मामला सं. 2 में उसके काउंसेल द्वारा प्रस्तुत किया गया था । अपीलार्थी ने तारीख 29 अप्रैल, 1992 को भारतीय दंड संहिता की धारा 420 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 184 फाइल की जिसमें यह अभिकथन किया गया कि प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा तारीख 10 अप्रैल, 1992 को एक पत्र की कूटरचना की गई है और उसे कार्यालय से चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, रघुवीर सिंह द्वारा तारीख 10 अप्रैल, 1992 को प्रेषित

करा दिया गया । यह अभिकथित किया गया है कि प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा कपट करके, कूटरचित और मिथ्या दस्तावेज़ तैयार किया गया, इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 467, 468 और 471 के अधीन अपराध बनता है । धारा 420 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई थी । अंतिम रिपोर्ट कोतवाली पुलिस थाने के निरीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गई थी । अंतिम रिपोर्ट में, यह उल्लेख किया गया था कि चूंकि तारीख 10 अप्रैल, 1992 वाला पत्र मामला सं. 2/84 में फाइल किया गया है इसलिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए पुलिस मामले का अन्वेषण नहीं कर सकती है । अंतिम रिपोर्ट को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेते हुए तारीख 22 मई, 1998 के आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया गया था । अपीलार्थी ने अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया, जिसने अपने तारीख 1 मई, 2000 के आदेश द्वारा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के आदेश को अपास्त कर दिया और मामले को प्रतिप्रेषित कर दिया । विचारण न्यायालय ने परिवादी को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के पश्चात् एक नया आदेश पारित किया । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने प्रतिप्रेषण के पश्चात्, पुनः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वह पत्र सिविल वाद में फाइल किया गया है इसलिए संज्ञान नहीं लिया जा सकता है । विरोध याचिका खारिज कर दी गई थी और अंतिम रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई थी । अपीलार्थी द्वारा तारीख 12 मार्च, 2003 के आदेश को चुनौती देते हुए दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया गया था । पुनरीक्षण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का उपबंध प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है । पुनरीक्षण न्यायालय ने **सचिदानंद सिंह और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जब दस्तावेज़ न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने से पूर्व कूटरचित रीति में तैयार किया गया है तब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के उपबंध को लागू नहीं किया जा सकता है । पुनरीक्षण न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया और निचले न्यायालय को यह निदेश दिया कि वह फाइल पर उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर विधि के अनुसार आदेश पारित

---

[1] (1998) 2 एस. सी. सी. 493.

करे ।

4. निर्णय का प्रभावी भाग निम्नलिखित रूप में हैं :–

"आदेश

अतः, पुनरीक्षणकर्ता के पुनरीक्षण को मंजूर करते हुए तारीख 12 मार्च, 2003 के आदेश को एतद्द्वारा अपास्त किया जाता है और अधीनस्थ न्यायालय को यह आदेश दिया जाता है कि वह फाइल पर उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर और परिवादी को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के पश्चात् विधि के अनुसार नए सिरे से आदेश पारित करेगा । मामले से संबंधित फाइल तारीख 8 अगस्त, 2003 को अधीनस्थ न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत की जाएगी ।"

5. पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश के पश्चात्, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने मामले पर पुनः विचार किया और तारीख 20 जून, 2009 के आदेश द्वारा अपीलार्थी की विरोध याचिका नामंजूर कर दी । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने पुनरीक्षण न्यायालय के इस आदेश की अवेक्षा की कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का फायदा प्रस्तुत मामले के अभियुक्त को प्रदान नहीं किया जा सकता है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब नहीं लिया था बल्कि अभिलेख पर मौजूद सामग्री को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त के विरुद्ध कूटरचित दस्तावेज़ और कपट करने का प्रथमदृष्ट्या मामला साबित नहीं हुआ है । तारीख 20 जून, 2009 के आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा अपर सेशन न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष एक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया गया था, जोकि तारीख 22 जुलाई, 2011 को खारिज कर दिया गया है । तारीख 22 जुलाई, 2011 के आदेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका फाइल करके उच्च यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 7 फरवरी, 2017 को खारिज कर दिया गया है, जिस आदेश को इस अपील में चुनौती दी गई है ।

6. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल डा. मनीष सिंघवी ने यह दलील दी कि प्रस्तुत मामले में तारीख 10 अप्रैल, 1992 वाला कूटरचित पत्र सिविल न्यायालय में तारीख 27 अप्रैल, 1992 को, अर्थात् पत्र की कूटरचना करने के पश्चात् फाइल किया गया था । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के उपबंध लागू नहीं होते थे और विधि में अपराध का

संज्ञान लेने के लिए कोई प्रतिषेध नहीं था । उसने यह निवेदन किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 उस पत्र का फायदाग्राही था, जोकि उसे संबोधित था, अतः निचले न्यायालयों को अपराध का संज्ञान लेना चाहिए था । उसने यह दलील दी कि निचले न्यायालयों ने अपराध का संज्ञान न लेकर गलती कारित की है ।

7. प्रत्यर्थी सं. 2 की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने अपीलार्थी के काउंसेल की दलील का खंडन करते हुए यह दलील दी कि प्रस्तुत मामला ऐसा मामला है जिसमें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) से संबंधित कोई विवाद्यक नहीं है । उसने यह दलील दी कि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने तारीख 20 जून, 2009 के अपने आदेश में विरोध याचिका को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के वर्जन के आधार पर खारिज नहीं किया है बल्कि उसने अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी सं. 2 के विरुद्ध अपराध का संज्ञान लेने के लिए प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है । उसने आगे यह दलील दी कि अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य से यह स्पष्ट होता है कि वह पत्र प्रादेशिक प्रबंधक के कार्यालय से प्रेषित किया गया था और इसके अलावा यह भी अभिलेख पर लाया गया है कि कार्यालय के एक चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी श्री रघुवीर सिंह ने उस पत्र को प्रेषित किया था । उसने यह दलील दी कि अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिससे प्रथमदृष्ट्या ही यह संकेत मिलता हो कि पत्र की कूटरचना करने में प्रत्यर्थी सं. 2 अंतर्वलित था । उसने यह दलील दी कि निचले न्यायालयों ने सामग्री पर विचार करने के पश्चात् ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थी के विरुद्ध फाइल की गई विरोध याचिका को मंजूर करने के लिए कोई मामला साबित नहीं हुआ है ।

8. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की दलीलों पर विचार किया है और अभिलेख का परिशीलन किया है । जहां तक दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) के संबंध में अपीलार्थी की दलील का संबंध है, संविधान न्यायपीठ के निर्णय द्वारा विधि सुस्थापित नहीं की गई है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) केवल तभी लागू होगी जब किसी दस्तावेज़ की बाबत, जब उसे किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में प्रस्तुत करने या दिए जाने के पश्चात् उक्त उपबंध में प्रगणित अपराध कारित किए जाते हैं । **इकबाल सिंह मरवाह और एक अन्य** बनाम

मीनाक्षी मरवाह और एक अन्य[1] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ ने पैरा 33 और 34 पर निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया था :–

> "33. ऊपर की गई चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह राय है कि सचिदानंद सिंह वाला मामला ठीक तौर पर विनिश्चित किया गया है और उसमें अपनाया गया दृष्टिकोण सही है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) केवल तभी लागू होगी जब किसी दस्तावेज़ की बाबत, जब उसे किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में प्रस्तुत करने या दिए जाने के पश्चात्, उस समय के दौरान जब वह दस्तावेज़ न्यायालय की अभिरक्षा में था, उक्त उपबंध में प्रगणित अपराध कारित किए जाते हैं ।
>
> 34. प्रस्तुत मामले में वसीयत को न्यायालय में बाद में प्रस्तुत किया गया है । किसी ने भी यह पक्षकथन नहीं किया है कि उक्त वसीयत की बाबत, उसे जिला न्यायाधीश के न्यायालय में प्रस्तुत या फाइल किए जाने के पश्चात्, धारा 195(1)(ख)(ii) में यथा-प्रगणित कोई अपराध कारित किया गया था । इसलिए, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) द्वारा सृजित वर्जन लागू नहीं होगा और प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किए गए परिवाद के आधार पर अपराध का संज्ञान करने के संबंध में न्यायालय की शक्ति पर कोई प्रतिरोध नहीं है । विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश और उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण पूर्णतः सही है और उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है ।"

9. अब हम प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर पुनः विचार करते हैं, प्रस्तुत मामला एक ऐसा मामला है जिसमें तारीख 10 अप्रैल, 1992 के पत्र के बारे में यह दावा किया गया है कि वह कूटरचित पत्र है और उस पर अपीलार्थी ने हस्ताक्षर नहीं किए हैं । अभिलेख पर मौजूद सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि तारीख 10 अप्रैल, 1992 का उक्त पत्र मामला सं. 2/84 में न्यायालय के समक्ष तारीख 27 अप्रैल, 1992 को फाइल किया गया था । यह पक्षकथन नहीं है कि कूटरचना न्यायालय में पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् कारित की गई थी । इस प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) के अधीन उपबंध लागू नहीं होता था । अंतिम रिपोर्ट का परिशीलन करने पर, जोकि कोतवाली पुलिस थाने के निरीक्षक द्वारा

---

[1] (2005) 4 एस. सी. सी. 370.

प्रस्तुत की गई थी, यह स्पष्ट होता है कि निरीक्षक ने अन्वेषण करने के पश्चात् अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) को ध्यान में रखते हुए पुलिस इस मामले का अन्वेषण नहीं कर सकती है । अंतिम रिपोर्ट उपाबंध पी. 4 के रूप में फाइल की गई है, जिसका परिशीलन करने पर यह उपदर्शित होता है कि निरीक्षक ने तारीख 10 अप्रैल, 1992 का मूल पत्र मामला सं. 2/84 से अभिप्राप्त किया था और अविवादित लिखावट और अपीलार्थी की नमूना लिखावट को लिखावट विशेषज्ञ के पास भेजा था और यह राय ली गई थी कि तारीख 10 अप्रैल, 1992 के पत्र पर एस. के. शर्मा के हस्ताक्षर कूटरचित थे ।

10. पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तारीख 1 मई, 2000 को प्रतिप्रेषण के पश्चात्, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने तारीख 12 मार्च, 2003 के अपने आदेश में इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कि संज्ञान नहीं लिया जा सकता है पुनः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लिया । उक्त आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण न्यायालय के समक्ष दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया गया था और पुनरीक्षण न्यायालय ने तारीख 21 जुलाई, 2003 के अपने निर्णय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) से संबंधित विवाद्यक को विनिश्चित किया । पुनरीक्षण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) के उपबंध लागू नहीं होते हैं । पुनरीक्षण न्यायालय ने तारीख 21 जुलाई, 2003 के अपने आदेश द्वारा अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया और अधीनस्थ न्यायालय को यह निदेश दिया कि वह फाइल पर मौजूद साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् गुणागुण के आधार पर विधि के अनुसार नए सिरे से आदेश पारित करे । पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा पारित आदेश के पश्चात् मामले को अभियुक्त की ओर से आगे नहीं चलाया गया था । इस प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) से संबंधित विवाद्यक अपीलार्थी के पक्ष में समाप्त हो गया । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के तारीख 20 जून, 2009 के आदेश तथा पुनरीक्षण न्यायालय के तारीख 22 जुलाई, 2011 के आदेश में अपीलार्थी की विरोध याचिका को नामंजूर करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) (ii) का अवलंब नहीं लिया गया है । अतः, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के आधार पर दी गई दलील प्रस्तुत अपील का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत नहीं है । वास्तव में, जैसा कि पहले ऊपर उल्लेख किया गया है, परिवादी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के लागू न होने से संबंधित दलील को निचले न्यायालयों द्वारा स्वीकार कर लिया

गया है । इस प्रकार, अपीलार्थी द्वारा उपर्युक्त दलील के बल पर कोई फायदा प्राप्त नहीं किया जा सकता है ।

11. मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने तारीख 20 जून, 2009 के अपने आदेश में तथा पुनरीक्षण न्यायालय ने अभिलेख पर मौजूद सामग्री पर विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अभियुक्त के विरुद्ध इस संबंध में कोई प्रथमदृष्ट्या मामला साबित नहीं हुआ है कि उसने कोई कूटरचना या दस्तावेज़ की कूटरचना करके कोई कपट कारित किया है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने रिपोर्ट सं. 37/97 के प्रति भी निर्देश किया है । पुनरीक्षण न्यायालय ने भी अपीलार्थी की समस्त दलीलों पर विचार करने के पश्चात् पुनरीक्षण को गुणागुण के आधार पर खारिज कर दिया है । पुनरीक्षण न्यायालय की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों के प्रतिनिर्देश करना उपयोगी है :–

> "पुनरीक्षणकर्ता ने उपर्युक्त आक्रामक तत्वों के अनुसार, अन्वेषण के अनुक्रम में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अभिलिखित अपने कथनों में केवल यह कथन किया है कि रवि सेतिया ने कपट करने के लिए कूटरचना कारित करके पत्र तैयार किया था जबकि पुनरीक्षणकर्ता के कार्यालय में कनिष्ठ लेखाकार अतर सिंह ने तारीख 19 मई, 1992 को किए गए अपने कथन के दौरान यह कहा है कि तारीख 10 अप्रैल, 1992 वाला अभिकथित पत्र उसके द्वारा प्रेषित नहीं किया गया है बल्कि उसे सहायक कर्मचारी रघुवीर सिंह द्वारा प्रेषित किया गया है । इस प्रकार, उक्त पत्र की लिखावट के संदर्भ में, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी रघुवीर सिंह की लिखावट को न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला में लिखावट विशेषज्ञ के पास भेजना आवश्यक था । इसके अतिरिक्त, न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला ने तारीख 31 जनवरी, 1998 की अपनी रिपोर्ट सं. 37/97 में यह निष्कर्ष निकाला है कि पुनरीक्षणकर्ता के हस्ताक्षर और विवादित हस्ताक्षरों का मिलान करने पर चिह्न क्यू-1 और क्यू-2 के बारे में यह कहा गया है कि वे कूटरचित हैं । किन्तु इस निष्कर्ष में यह भी उल्लिखित किया गया है कि यह सिद्ध नहीं हुआ है कि ये हस्ताक्षर किनके हैं और ये हस्ताक्षर रवि सेतिया द्वारा बनाए गए होंगे । इस प्रकार, यह किसी भी रीति में स्पष्ट नहीं हुआ है कि तारीख 10 अप्रैल, 1992 वाला पत्र प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा कूटरचित रीति में तैयार किया गया है, । अतः, इस प्रक्रम पर, प्रत्यर्थी सं. 2 के

विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 467, 468 और 471 के अधीन संज्ञान लेने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं है ।"

12. पुनरीक्षण न्यायालय के उपर्युक्त आदेश को उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी और उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला कि अभिलेख पर कोई ऐसा साक्ष्य नहीं है जिससे यह संकेत मिलता हो कि तारीख 10 अप्रैल, 1992 वाला पत्र प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा तैयार किया गया था । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश में कोई अवैधता नहीं पाई जा सकती है । यद्यपि, अंतिम रिपोर्ट, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अवलंब लेने के आधार पर प्रस्तुत की गई थी किन्तु रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पूर्व पुलिस थाना कोतवाली के निरीक्षक द्वारा अन्वेषण किया गया था और अंतिम रिपोर्ट में अन्वेषण के दौरान संगृहीत समस्त सामग्री के प्रतिनिर्देश किया गया था । पुनरीक्षण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होती है, तारीख 21 जुलाई, 2003 के अपने निर्णय द्वारा निचले न्यायालय को यह निदेश दिया है कि वह उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर विधि के अनुसार आदेश पारित करे । अतः, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री की परीक्षा की और यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त के विरुद्ध संज्ञान लेने के लिए कोई पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है ।

13. उच्च न्यायालय ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया, जिसमें हम कोई त्रुटि नहीं पाते हैं । पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हम इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं । तद्नुसार, यह अपील खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

ग्रो.

[2018] 2 उम. नि. प. 13

शिवाजी बलराम हैबाती

बनाम

अविनाश मारुति पवार

20 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100] – सिविल अपील – उच्च न्यायालय द्वारा अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों और साक्ष्यों के परे जाकर ऐसे प्रश्न पर विनिश्चय करना जो न तो विधि के सारवान् प्रश्न थे न ही निचले न्यायालयों के समक्ष अन्तर्वलित थे – ऐसे विनिश्चय को अवैध और अमान्य ठहराया जाना – यदि उच्च न्यायालय ने अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों और साक्ष्यों के परे जाकर ऐसे प्रश्न पर विनिश्चय किया है जो न तो विधि के सारवान् प्रश्न थे और न ही निचले न्यायालयों के समक्ष अन्तर्वलित थे तो ऐसा विनिश्चय अधिकारातीत होने के नाते अवैध और अविधिमान्य होगा ।

वर्तमान मामले में, विट्ठल धोपेश्वरकर, वाद दुकान के साथ भूमि जिस पर वाद दुकान निर्मित है और कुछ उससे सटी हुई भूमि का स्वामी था । उसने भूमि और वाद दुकान को तारीख 20 सितम्बर, 1997 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख (उपाबंध पी-6) द्वारा अपीलार्थी को विक्रय किया । प्रत्यर्थी (प्रतिवादी), विट्ठल धोपेश्वरकर से अपीलार्थी द्वारा वाद दुकान का क्रय किए जाने के पूर्व इसके कब्जे में था । तारीख 6 जून, 1999 को अपीलार्थी ने सिविल न्यायाधीश, ज्येष्ठ खंड बेलगाम के न्यायालय में प्रत्यर्थी से वाद दुकान का कब्जा प्राप्त करने का दावा करते हुए, प्रत्यर्थी के विरुद्ध 1999 की मूल वाद सं. 115 फाइल की । वाद अन्य बातों के साथ इन अभिकथनों पर आधारित था कि अपीलार्थी, विट्ठल धोपेश्वरकर से तारीख 20 सितम्बर, 1997 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा क्रय करने के कारण वाद दुकान का स्वामी है । यह अभिकथित किया गया कि प्रत्यर्थी बिना किसी अधिकार हक और हित के दुकान के कब्जे में है । दूसरे शब्दों में, अपीलार्थी के अनुसार, प्रत्यर्थी चूंकि आरंभतः वाद दुकान के अवैध कब्जे में था । इसलिए, अपीलार्थी वाद दुकान का क्रय

करने के पश्चात् प्रत्यर्थी से वाद दुकान खाली करने का निवेदन किया, किन्तु प्रत्यर्थी ने वाद दुकान खाली नहीं किया और इसलिए, अपीलार्थी वाद दुकान पर अपने स्वामित्व के आधार पर प्रत्यर्थी से वाद दुकान का कब्जा वापस लेने का दावा करने का हकदार हो गया है । 25,00/- रुपए प्रति माह की दर से अंतःकालीन लाभ के अनुतोष का भी दावा किया गया । प्रत्यर्थी ने लिखित कथन फाइल किया । उसने अपीलार्थी के हक से इनकार किया और यह दावा किया कि वह अतिप्राचीन समय से और वाद दुकान को अपीलार्थी द्वारा क्रय करने के अत्यधिक पूर्व से वाद दुकान के कब्जे में है । प्रत्यर्थी ने यह भी अभिवाक् उद्भूत किया कि अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी और अपीलार्थी के विरुद्ध वाद दुकान पर प्रतिकूल कब्जे के कारण भी उसे सुनिश्चित हक प्राप्त है । विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने 2003 की मूल वाद सं. 115 में तारीख 3 नवम्बर, 2003 के निर्णय और डिक्री द्वारा अपीलार्थी के वाद को डिक्री कर दिया । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी, वाद दुकान का स्वामी है, यह कि प्रत्यर्थी वाद दुकान पर अपने प्रतिकूल कब्जे को साबित करने में असफल रहा है । यह कि प्रत्यर्थी वाद दुकान के अवैध कब्जे में है और यह कि अपीलार्थी वाद दुकान से प्रत्यर्थी की बेदखली का दावा करने का हकदार है और वह तीन वर्षों की अवधि के लिए 2,000/- रुपए प्रति माह की दर से अंतःकालीन लाभों तथा 5,000/- रुपए के खर्चों का दावा करने का हकदार है । तद्नुसार, विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध कब्जे और अंतःकालीन लाभों के लिए डिक्री पारित कर दिया । इससे व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने विद्वान् प्रथम अपर जिला न्यायाधीश, बेलगाम के समक्ष 2003 की नियमित अपील सं. 58 के अधीन प्रथम अपील फाइल की । प्रथम अपील न्यायालय ने तारीख 11 दिसम्बर, 2006 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील खारिज कर दी और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय/डिक्री की पुष्टि कर दी । इससे व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने कर्नाटक उच्च न्यायालय, धारवाड़ न्यायपीठ के समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 100 के अधीन 2007 की एस. ए. सं. 213 के अधीन द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा द्वितीय अपील मंजूर कर लिया और दोनों निचले न्यायालयों द्वारा पारित निर्णयों और डिक्रियों को अपास्त करते हुए, अपीलार्थी का वाद खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था और इसलिए, अपीलार्थी को उपचार, वाद

दुकान के कब्जे का दावा करने के लिए किराया विधियों और संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अधीन वाद फाइल करने में है । यह अभिनिर्धारित किया कि इसलिए, वर्तमान वाद, वाद दुकान के संबंध में प्रत्यर्थी के विरुद्ध कब्जे के लिए डिक्री पारित करने हेतु कायम रखे जाने योग्य नहीं है । इससे व्यथित होकर, वादी (इसमें का अपीलार्थी) ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल की है ।

अभिनिर्धारित – न्यायालय के सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय का पूर्वोक्त निष्कर्ष पूर्णतया अवैध है और अभिवचनों तथा साक्ष्यों के विरुद्ध होने के नाते विधि में कायम रखे जाने योग्य नहीं है । ऐसा हम निम्नलिखित कारणों से कह रहे हैं । प्रथमतः, प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) ने अपने लिखित कथन में ऐसा कोई अभिवाक् उद्भूत नहीं किया था । दूसरे शब्दों में, प्रत्यर्थी ने लिखित कथन में ऐसी कोई प्रतिरक्षा नहीं ली थी । द्वितीयतः, इसलिए, विचारण न्यायालय को लिखित कथन में आधारित किसी तथ्य के लिए ऐसे अभिवाक् पर कोई विवाद्यक विरचित करने का कोई अवसर नहीं था । तृतीयतः, विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय को इन परिस्थितियों में, किसी अन्य प्रयोजन के लिए इस अभिवाक् पर कोई निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए अवसर नहीं था । चतुर्थतः, इन तीनों कारणों के प्रकाश में, उच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए था कि ऐसा अभिवाक् वस्तुतः विचारण के लिए उद्भूत नहीं हुआ है क्योंकि इस अनुक्रम में कोई प्रश्न मामले में अंतर्वलित नहीं है, संबंधित पक्षकारों को अभिवचनों पर आधारित अपने तथ्यों को अधिकथित करना चाहिए था और ऐसे अभिवाक् पर निष्कर्ष निकालने के लिए आमंत्रित करना चाहिए था । पंचमतः, उच्च न्यायालय, प्रत्यर्थी द्वारा अपने लिखित कथन में स्थापित मामले पर विचार करने में असफल रहा । जैसा कि उपर्युक्त उल्लिखित किया गया है, प्रत्यर्थी की प्रतिरक्षा यह थी कि उसने वाद दुकान पर अपीलार्थी के हक से इनकार किया था और उसके बाद प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करते हुए, यह दलील दी थी कि वह प्रतिकूल कब्जे के माध्यम से वाद दुकान का स्वामी हो गया है, जो उसके अनुसार, अतिप्राचीन समय से चला आ रहा था । यह स्पष्ट था कि प्रत्यर्थी ने कभी भी यह दावा नहीं किया था कि वह अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । दूसरी ओर, प्रत्यर्थी ने लंबे समय से प्रतिकूल कब्जे के आधार पर वाद दुकान पर अपने स्वामित्व अधिकार का प्रत्याख्यान किया है । इसमें, ये विवाद्यक थे जिन पर दोनों निचले न्यायालयों ने विचार

किया और उन्होंने प्रत्यर्थी के विरुद्ध समवर्ती रूप से विनिश्चय किया । न्यायालय की राय में, इन विवाद्यकों पर उच्च न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकालने के लिए परीक्षा किया जाना चाहिए था क्या इन निष्कर्षों में कोई विधिक त्रुटि अंतर्विष्ट है जिससे कि द्वितीय अपील में हस्तक्षेप किया जा सकता है । तथापि, उच्च न्यायालय ने इनका प्रयोग नहीं किया और बजाय इसके इन निष्कर्षों की पुष्टि कर दी जबकि विधि के किसी सारवान् प्रश्न को विरचित करने के लिए इस पर समुचित रूप से विचार नहीं किया गया था । विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि वाद के पक्षकार अभिवचनों के परे नहीं जा सकते हैं, इसलिए, न्यायालय भी उन विवाद्यकों पर कोई निष्कर्ष अभिलिखित नहीं कर सकता है जो अभिवचनों के भाग नहीं हैं । दूसरे शब्दों में, न्यायालय मात्र उन्हीं विवाद्यकों पर निष्कर्ष अभिलिखित कर सकते हैं, जो अभिवचनों के भाग हैं, जिन पर पक्षकार मामले में लड़ रहे हैं । अभिवचनों से असंबद्ध विवाद्यकों पर अभिलिखित कोई निष्कर्ष बिना अधिकारिता के होता है । यहां ऐसा मामला है । इसके अलावा, यदि न्यायालय उच्च न्यायालय द्वारा विरचित प्रश्न, जैसा कि मामले में उद्भूत हुआ है, की परीक्षा करते हैं तो इसके बारे में, न्यायालय का यह सुविचारित राय है कि प्रश्न का उत्तर, नीचे उल्लिखित एक से अधिक कारणों से प्रत्यर्थी (उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलार्थी) के विरुद्ध और इसमें के अपीलार्थी के पक्ष में दिया जाना चाहिए । प्रथमतः, प्रत्यर्थी ने यह साबित करने के लिए कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है कि वह अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । प्रत्यर्थी और अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी (विट्ठल धोपेश्वरकर) के बीच किराएदारी को साबित करने के लिए प्रत्यर्थी के लिए यह आवश्यक था कि वह किराया प्राप्तियां/पट्टा विलेख इत्यादि फाइल करता और उस मकान मालिक की परीक्षा भी कराता जो उसके अनुसार वाद दुकान में किराएदार के रूप में उसे रखा था । ऐसा नहीं किया गया । द्वितीयतः, प्रदर्श पी-15, जो वाद दुकान का विक्रय विलेख है, में कहीं भी यह वर्णित नहीं है कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । सभी जगह यह वर्णित है कि प्रत्यर्थी वाद दुकान के कब्जे में रहा है । न्यायालय की राय में, ऐसे वर्णन किसी भी प्रकार से, किराएदारी के सृजन को साबित करने के लिए उसके द्वारा प्रस्तुत किसी स्वतंत्र साक्ष्य के अभाव में प्रत्यर्थी को किराएदार की हैसियत प्रदान नहीं करते हैं । इस प्रकार, प्रत्यर्थी द्वारा किराएदार की हैसियत का दावा करने के लिए प्रदर्श पी-15 से कोई लाभ नहीं हो सकता है । पूर्वोक्त उल्लिखित कारणों के प्रकाश में, न्यायालय का

यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय, यह अभिनिर्धारित करने में सही नहीं था कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के अधिभोग में था और यह कि अपीलार्थी को उपचार, किराया विधियों के अधीन बेदखली का दावा करते हुए सिविल वाद फाइल करने में था । न्यायालय के मत में, यह निष्कर्ष, अभिवचनों और साक्ष्यों के प्रतिकूल है । अन्यथा भी यह प्रत्यर्थी द्वारा अपने समर्थन में प्रस्तुत किसी साक्ष्य से वैध रूप से कायम रखे जाने योग्य नहीं है । (पैरा 25, 26, 27, 28, 29, 30, 31 और 32)

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 19421.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री आर. एस. हेगड़े, (श्रीमती) फरहत जहां रहमानी और राजीव सिंह, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री चारुदित्ता महिन्द्रकर और अनिरुद्ध पी. माई, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील वादी ने कर्नाटक उच्च न्यायालय, न्यायपीठ धारवाड़ द्वारा 2007 की द्वितीय अपील सं. 213 में पारित तारीख 4 अप्रैल, 2014 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इसमें के प्रत्यर्थी द्वारा फाइल अपील को मंजूर कर लिया था और विचारण तथा प्रथम अपील न्यायालय के निर्णयों और डिक्रियों को अपास्त कर दिया था ।

3. अपील में अंतर्वलित विवादों का मूल्यांकन करने के अनुक्रम में इसके कुछ सुसंगत तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है ।

4. सिविल वाद में, अपीलार्थी, वादी है जबकि प्रत्यर्थी, प्रतिवादी है जिससे यह अपील उद्भूत हुई है ।

5. अपील में अंतर्वलित विवाद्यक, बेलगाम शहर में सीटीएस 1590/ए-4 में समाविष्ट भूमि में स्थित दुकान, माप 9 फीट 9 इंच उत्तर और 5 फीट पूर्व-पश्चिम के संबंध में है (जैसा कि वादपत्र में विस्तारपूर्वक उल्लिखित है) (जिसे इसमें इसके पश्चात् "वाद दुकान" कहा गया है) ।

6. विट्ठल धोपेश्वरकर, वाद दुकान के साथ भूमि जिस पर वाद दुकान निर्मित है और कुछ उससे सटी हुई भूमि का स्वामी था । उसने भूमि और वाद दुकान को तारीख 20 सितम्बर, 1997 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख (उपाबंध पी-6) द्वारा अपीलार्थी को विक्रय किया । प्रत्यर्थी (प्रतिवादी), विट्ठल धोपेश्वरकर से अपीलार्थी द्वारा वाद दुकान का क्रय किए जाने के पूर्व इसके कब्जे में था ।

7. तारीख 6 जून, 1999 को अपीलार्थी ने सिविल न्यायाधीश, ज्येष्ठ खंड बेलगाम के न्यायालय में प्रत्यर्थी से वाद दुकान का कब्जा प्राप्त करने का दावा करते हुए, प्रत्यर्थी के विरुद्ध 1999 की मूल वाद सं. 115 फाइल की । वाद अन्य बातों के साथ इन अभिकथनों पर आधारित था कि अपीलार्थी, विट्ठल धोपेश्वरकर से तारीख 20 सितम्बर, 1997 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा क्रय करने के कारण वाद दुकान का स्वामी है । यह अभिकथित किया गया कि प्रत्यर्थी बिना किसी अधिकार हक और हित के दुकान के कब्जे में है ।

8. दूसरे शब्दों में, अपीलार्थी के अनुसार, प्रत्यर्थी चूंकि आरंभतः वाद दुकान के अवैध कब्जे में था । इसलिए, अपीलार्थी वाद दुकान का क्रय करने के पश्चात् प्रत्यर्थी से वाद दुकान खाली करने का निवेदन किया, किन्तु प्रत्यर्थी ने वाद दुकान खाली नहीं किया और इसलिए, अपीलार्थी वाद दुकान पर अपने स्वामित्व के आधार पर प्रत्यर्थी से वाद दुकान का कब्जा वापस लेने का दावा करने का हकदार हो गया है । 2,500/- रुपए प्रति माह की दर से अंतःकालीन लाभ के अनुतोष का भी दावा किया गया ।

9. प्रत्यर्थी ने लिखित कथन फाइल किया । उसने अपीलार्थी के हक से इनकार किया और यह दावा किया कि वह अतिप्राचीन समय से और वाद दुकान को अपीलार्थी द्वारा क्रय करने के अत्यधिक पूर्व से वाद दुकान के कब्जे में है । प्रत्यर्थी ने यह भी अभिवाक् उद्भूत किया कि अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी और अपीलार्थी के विरुद्ध वाद दुकान पर प्रतिकूल कब्जे के कारण भी उसे सुनिश्चित हक प्राप्त है ।

10. विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने 2003 की मूल वाद सं. 115 में तारीख 3 नवम्बर, 2003 के निर्णय और डिक्री द्वारा अपीलार्थी के वाद को डिक्री कर दिया । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी, वाद दुकान का स्वामी है, यह कि प्रत्यर्थी वाद दुकान पर अपने

प्रतिकूल कब्जे को साबित करने में असफल रहा है । यह कि प्रत्यर्थी वाद दुकान के अवैध कब्जे में है और यह कि अपीलार्थी वाद दुकान से प्रत्यर्थी की बेदखली का दावा करने का हकदार है और वह तीन वर्षों की अवधि के लिए 2,000/- रुपए प्रति माह की दर से अंतःकालीन लाभों तथा 5,000/- रुपए के खर्चों का दावा करने का हकदार है । तद्नुसार, विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध कब्जे और अंतःकालीन लाभों के लिए डिक्री पारित कर दिया ।

11. इससे व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने विद्वान् प्रथम अपर जिला न्यायाधीश, बेलगाम के समक्ष 2003 की नियमित अपील सं. 58 के अधीन प्रथम अपील फाइल की । प्रथम अपील न्यायालय ने तारीख 11 दिसम्बर, 2006 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील खारिज कर दी और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय/डिक्री की पुष्टि कर दी । ।

12. इससे व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने कर्नाटक उच्च न्यायालय, धारवाड़ न्यायपीठ के समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 100 के अधीन 2007 की एस. ए. सं. 213 के अधीन द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा द्वितीय अपील मंजूर कर लिया और दोनों निचले न्यायालयों द्वारा पारित निर्णयों और डिक्रियों को अपास्त करते हुए, अपीलार्थी का वाद खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था और इसलिए, अपीलार्थी को उपचार, वाद दुकान के कब्जे का दावा करने के लिए किराया विधियों और संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अधीन वाद फाइल करने में है । यह अभिनिर्धारित किया कि इसलिए, वर्तमान वाद, वाद दुकान के संबंध में प्रत्यर्थी के विरुद्ध कब्जे के लिए डिक्री पारित करने हेतु कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

13. इससे व्यथित होकर, वादी (इसमें का अपीलार्थी) ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल की है ।

14. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री आर. एस. हेगड़े और प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल श्री चारुदित्ता महिन्द्रकर को सुना ।

15. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और मामले के अभिलेखों का परिशीलन करने के पश्चात्, हम अपील मंजूर करने के लिए आबद्ध हैं

और उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णयों को अपास्त करते हुए, विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय को प्रतिस्थापित करते हैं जिन्होंने वाद दुकान के संबंध में प्रत्यर्थी के विरुद्ध वादी के वाद को सही ही डिक्री किया है ।

16. हमारे सुविचारित राय में, द्वितीय अपील विनिश्चित करने में उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी के अपील को मंजूर कर लिया था, पूर्णतया अनुचित है और द्वितीय अपील में प्रयोज्य सुस्थिर विधि के सिद्धांतों के विरुद्ध है और मामले में अंतर्वलित तथ्यों के विरुद्ध है जैसा कि हमारे द्वारा इसमें नीचे दिए गए कारणों से स्पष्ट होता है ।

17. संहिता, 1908 की धारा 100 द्वितीय अपील पर विचार करती है । उपधारा (4) यह कहती है कि जहां उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि किसी मामले में सारवान् विधि का प्रश्न अंतर्वलित है, तो वह उस प्रश्न को बनाएगा । उपधारा (5) यह कहती है कि अपील "इस प्रकार बनाए गए" प्रश्न पर सुनी जाएगी । यह भी उपबंध है कि प्रत्यर्थी को अपील की सुनवाई के समय पर यह आक्षेप उद्भूत करने की अनुज्ञा दी जाएगी कि वह प्रश्न जो इस प्रकार विरचित किया गया है, मामले में अंतर्वलित नहीं है । दूसरे शब्दों में, वह "विधि का सारवान् प्रश्न" नहीं है और इसलिए अपील खारिज किए जाने योग्य है क्योंकि संहिता, 1908 की धारा 100 के अर्थान्तर्गत विधि का कोई सारवान् प्रश्न अंतर्वलित नहीं है ।

18. तथापि, उपधारा (5) का परंतुक उच्च न्यायालय को कोई अन्य विधि का सारवान् प्रश्न बनाए जाने की अनुज्ञा देता है, जो आरंभतः नहीं बनाए गए थे, किन्तु न्यायालय की राय में मामले में उद्भूत हुआ है । न्यायालय, कारणों को समनुदेशित करते हुए ऐसा प्रश्न बना सकता है ।

19. संहिता, 1908 की धारा 100 की उपधारा (4) और (5) के स्पष्ट निबंधनों के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि प्रथमतः, उच्च न्यायालय, इस प्रकार बनाए गए प्रश्नों पर ही द्वितीय अपील की सुनवाई कर सकता है, द्वितीयतः, उसे द्वितीय अपील खारिज करने की अधिकारिता है, यदि प्रत्यर्थी सुनवाई के समय पर यह आक्षेप उद्भूत करता है कि इस प्रकार बनाए गए प्रश्न मामले में उद्भूत नहीं हुए हैं अथवा यह कि वह विधि का सारवान् प्रश्न नहीं है और तृतीयतः, वह किसी अन्य प्रश्न पर अपील की सुनवाई कर सकता है जो आरंभतः नहीं बनाए गए हैं, परंतु

ऐसा प्रश्न मामले में उद्भूत हुआ है और वह विधि का सरवान् प्रश्न है । उसके बाद वह कारणों को समनुदेशित करते हुए, ऐसा प्रश्न बना सकता है ।

20. अब, मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, हमारा यह निष्कर्ष है कि उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित विधि के प्रश्न को विरचित करते हुए, द्वितीय अपील स्वीकार की थी :–

> "क्या निचले न्यायालयों ने अभिलेख पर उपलब्ध अभिवचनों के साथ ही साक्ष्यों पर विचार करने के तरीकों में त्रुटि कारित की है और क्या वे प्रदर्श पी-15, दस्तावेजों में वर्णित तथ्यों के प्रतिकूल हैं ?"

21. पूर्वोक्त उल्लिखित प्रश्न के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि मात्र प्रश्न, जिस पर उच्च न्यायालय द्वारा अपील में विचार किया जाना अपेक्षित था, वह यह था कि क्या विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय ने अभिवचनों और साक्ष्यों, विनिर्दिष्टतः प्रदर्श पी-15 में वर्णित तथ्यों के प्रतिकूल मामले का विनिश्चय किया है ।

22. तथापि, उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालयों द्वारा विरचित विवाद्यकों पर अभिलिखित विनिर्दिष्ट निष्कर्षों की वैधता और सत्यता की परीक्षा करने के लिए कोई अन्य विधि का प्रश्न विरचित नहीं किया है ।

23. दोनों निचले न्यायालयों द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध अभिलिखित प्रतिकूल निष्कर्षों पर विरचित किसी विधि के प्रश्न के अभाव में, वे निष्कर्ष अंतिमतः प्राप्त कर लिए हैं । दूसरे शब्दों में, चूंकि दोनों निचले न्यायालयों के किसी भी निष्कर्ष में कोई त्रुटि उल्लिखित नहीं की गई है, उच्च न्यायालय ने ऐसे निष्कर्षों के संबंध में कोई सारवान् प्रश्न विरचित नहीं किया है, इसलिए, जिसे चुनौती देने की अपेक्षा की गई है वह अंतिम हो गया है ।

24. तथापि, उच्च न्यायालय ने यह साधारण विधि का प्रश्न विरचित किया था कि क्या दोनों निचले न्यायालयों के निष्कर्ष, अभिवचनों और साक्ष्यों, विनिर्दिष्टतया प्रदर्श पी-15 के प्रतिकूल थे और प्रदर्श पी-15 का अवलंब लेते हुए, यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी किराएदार के रूप में वाद दुकान के अधिभोग में था और इसलिए, अपीलार्थी को उपचार, प्रत्यर्थी के विरुद्ध किराएदारी वाद फाइल करने में था और उसे ऐसे वाद में, राज्य किराएदारी विधियों अथवा/और संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अधीन

वाद दुकान से उसकी बेदखली का दावा करने में था । किन्तु वर्तमान वाद में ऐसा नहीं किया गया जो उसके हक पर आधारित है । तद्नुसार, उच्च न्यायालय ने इस निष्कर्ष के साथ अपील मंजूर कर ली थी और अपीलार्थी का वाद भ्रांतिपूर्ण होने के नाते खारिज कर दी थी ।

25. हमारे सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय का पूर्वोक्त निष्कर्ष पूर्णतया अवैध है और अभिवचनों तथा साक्ष्यों के विरुद्ध होने के नाते विधि में कायम रखे जाने योग्य नहीं है । ऐसा हम निम्नलिखित कारणों से कह रहे हैं ।

26. प्रथमतः, प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) ने अपने लिखित कथन में ऐसा कोई अभिवाक् उद्भूत नहीं किया था । दूसरे शब्दों में, प्रत्यर्थी ने लिखित कथन में ऐसी कोई प्रतिरक्षा नहीं ली थी । द्वितीयतः, इसलिए, विचारण न्यायालय को लिखित कथन में आधारित किसी तथ्य के लिए ऐसे अभिवाक् पर कोई विवाद्यक विरचित करने का कोई अवसर नहीं था । तृतीयतः, विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय को इन परिस्थितियों में, किसी अन्य प्रयोजन के लिए इस अभिवाक् पर कोई निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए अवसर नहीं था । चतुर्थतः, इन तीनों कारणों के प्रकाश में, उच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए था कि ऐसा अभिवाक् वस्तुतः विचारण के लिए उद्भूत नहीं हुआ है क्योंकि इस अनुक्रम में कोई प्रश्न मामले में अंतर्वलित नहीं है, संबंधित पक्षकारों को अभिवचनों पर आधारित अपने तथ्यों को अधिकथित करना चाहिए था और ऐसे अभिवाक् पर निष्कर्ष निकालने के लिए आमंत्रित करना चाहिए था । पंचमतः, उच्च न्यायालय, प्रत्यर्थी द्वारा अपने लिखित कथन में स्थापित मामले पर विचार करने में असफल रहा । जैसा कि उपर्युक्त उल्लिखित किया गया है, प्रत्यर्थी की प्रतिरक्षा यह थी कि उसने वाद दुकान पर अपीलार्थी के हक से इनकार किया था और उसके बाद प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करते हुए, यह दलील दी थी कि वह प्रतिकूल कब्जे के माध्यम से वाद दुकान का स्वामी हो गया है, जो उसके अनुसार, अतिप्राचीन समय से चला आ रहा था ।

27. यह स्पष्ट था कि प्रत्यर्थी ने कभी भी यह दावा नहीं किया था कि वह अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । दूसरी ओर, प्रत्यर्थी ने लंबे समय से प्रतिकूल कब्जे के आधार पर वाद दुकान पर अपने स्वामित्व अधिकार का प्रत्याख्यान किया है ।

28. इसमें, ये विवाद्यक थे जिन पर दोनों निचले न्यायालयों ने विचार

किया और उन्होंने प्रत्यर्थी के विरुद्ध समवर्ती रूप से विनिश्चय किया । हमारी राय में, इन विवाद्यकों पर उच्च न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकालने के लिए परीक्षा किया जाना चाहिए था क्या इन निष्कर्षों में कोई विधिक त्रुटि अंतर्विष्ट है जिससे कि द्वितीय अपील में हस्तक्षेप किया जा सकता है । तथापि, उच्च न्यायालय ने इनका प्रयोग नहीं किया और बजाय इसके इन निष्कर्षों की पुष्टि कर दी जबकि विधि के किसी सारवान् प्रश्न को विरचित करने के लिए इस पर समुचित रूप से विचार नहीं किया गया था । विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि वाद के पक्षकार अभिवचनों के परे नहीं जा सकते हैं, इसलिए, न्यायालय भी उन विवाद्यकों पर कोई निष्कर्ष अभिलिखित नहीं कर सकता है जो अभिवचनों के भाग नहीं हैं । दूसरे शब्दों में, न्यायालय मात्र उन्हीं विवाद्यकों पर निष्कर्ष अभिलिखित कर सकते हैं, जो अभिवचनों के भाग हैं, जिन पर पक्षकार मामले में लड़ रहे हैं । अभिवचनों से असंबद्ध विवाद्यकों पर अभिलिखित कोई निष्कर्ष बिना अधिकारिता के होता है । यहां ऐसा मामला है ।

29. इसके अलावा, यदि हम उच्च न्यायालय द्वारा विरचित प्रश्न, जैसा कि मामले में उद्भूत हुआ है, की परीक्षा करते हैं तो इसके बारे में, हमारी यह सुविचारित राय है कि प्रश्न का उत्तर, नीचे उल्लिखित एक से अधिक कारणों से प्रत्यर्थी (उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलार्थी) के विरुद्ध और इसमें के अपीलार्थी के पक्ष में दिया जाना चाहिए ।

30. प्रथमतः, प्रत्यर्थी ने यह साबित करने के लिए कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है कि वह अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । प्रत्यर्थी और अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी (विट्ठल धोपेश्वरकर) के बीच किराएदारी को साबित करने के लिए प्रत्यर्थी के लिए यह आवश्यक था कि वह किराया प्राप्तियां/पट्टा विलेख इत्यादि फाइल करता और उस मकान मालिक की परीक्षा भी कराता जो उसके अनुसार वाद दुकान में किराएदार के रूप में उसे रखा था । ऐसा नहीं किया गया ।

31. द्वितीयतः, प्रदर्श पी-15, जो वाद दुकान का विक्रय विलेख है, में कहीं भी यह वर्णित नहीं है कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था । सभी जगह यह वर्णित है कि प्रत्यर्थी वाद दुकान के कब्जे में रहा है । हमारी राय में, ऐसे वर्णन किसी भी प्रकार से, किराएदारी के सृजन को साबित करने के लिए उसके द्वारा प्रस्तुत किसी स्वतंत्र साक्ष्य के अभाव में प्रत्यर्थी को किराएदार की हैसियत प्रदान नहीं करते हैं । इस

प्रकार, प्रत्यर्थी द्वारा किराएदार की हैसियत का दावा करने के लिए प्रदर्श पी-15 से कोई लाभ नहीं हो सकता है ।

32. पूर्वोक्त उल्लिखित कारणों के प्रकाश में, हमारी यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय, यह अभिनिर्धारित करने में सही नहीं था कि प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में वाद दुकान के अधिभोग में था और यह कि अपीलार्थी को उपचार, किराया विधियों के अधीन बेदखली का दावा करते हुए सिविल वाद फाइल करने में था । हमारे मत में, यह निष्कर्ष, अभिवचनों और साक्ष्यों के प्रतिकूल है । अन्यथा भी यह प्रत्यर्थी द्वारा अपने समर्थन में प्रस्तुत किसी साक्ष्य से वैध रूप से कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

33. पूर्ववर्ती चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह सुविचारित मत है कि विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय अपीलार्थी को वाद दुकान के पूर्ववर्ती स्वामी से तारीख 20 सितम्बर, 1997 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा इसे क्रय करने के नाते वाद दुकान का स्वामी अभिनिर्धारित करने में न्यायानुमत थे । यह भी सही ही अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी, अतिक्रमणकर्ता के रूप में वाद दुकान के कब्जे में था और वाद दुकान पर अपने प्रतिकूल कब्जे को साबित करने में असफल रहा है । ये निष्कर्ष, तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष होने के नाते उच्च न्यायालय पर आबद्धकर थे और इसलिए, द्वितीय अपील, विधि का कोई सारवान् प्रश्न अंतर्वलित नहीं होने के नाते आरंभतः खारिज होना चाहिए था ।

34. पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में, अपील सफल होती है और मंजूर की जाती है । उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है और परिणामतः, प्रथम अपील न्यायालय और विचारण न्यायालय के निर्णय प्रतिस्थापित किए जाते हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

क.

[2018] 2 उम. नि. प. 25

अनिल कुमार सिंह

बनाम

विजय पाल सिंह और अन्य

30 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति मनोहर सप्रे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश XXIII का नियम 1] – वादी द्वारा वाद प्रत्याहरण करने की ईप्सा करते हुए, आवेदन फाइल करना – विचारण न्यायालय द्वारा वादी को वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा मंजूर करना – पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना – उच्च न्यायालय के समक्ष इसके विरुद्ध अपील फाइल किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय उलटा जाना – यदि विचारण न्यायालय ने वादी द्वारा वाद प्रत्याहरण करने के आवेदन को मंजूर करते हुए, विधि के अनुसरण में वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी है और पुनरीक्षण न्यायालय ने इसकी पुष्टि भी कर दी है तो उच्च न्यायालय द्वारा अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, ऐसी अनुज्ञा को रद्द नहीं किया जा सकता है – प्रतिवादी द्वारा विरोध करने पर उसे मात्र खर्चे को प्राप्त करने की ही अनुज्ञा दी जा सकती है न कि वादी को पुनः वाद फाइल करने के लिए आबद्ध करने की अनुज्ञा दी जा सकती है ।

वर्तमान मामले में, अपीलार्थी, वादी है जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 से 4, प्रतिवादी सं. 1 से 4 हैं और प्रत्यर्थी सं. 5, प्रोफार्मा प्रत्यर्थी के रूप में वादी सं. 2 है । इस मामले में विवाद्यक, तत्वतः अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 1 से 4 के बीच में है और ग्राम असोली, परगना बंजर, तहसील और जिला हरदोई (उत्तर प्रदेश) में स्थित भूमि सं. 629-ए/0.0320 हेक्टेयर और 629-बी/1.5820 हेक्टेयर (जिसे इसे इसमें इसके पश्चात् "वाद भूमि" कहा गया है) से संबंधित है । वाद भूमि को मूलतः श्री जिंता, पुत्र धम्मा से संबंधित होने का दावा किया गया है । उसने इसे दो व्यक्तियों – अभिशेख सिंह ओर अजित प्रताप सिंह को विक्रय कर दिया था । उसके बाद अभिशेख सिंह ने अपने आधे हिस्से को तारीख 25 फरवरी, 2003 को अपीलार्थी को विक्रय करने का दावा किया है जबकि अजित प्रताप सिंह ने अपने आधे हिस्से को पहले ही तारीख 15 नवम्बर, 2000 को खानू लाल मिश्रा को

विक्रय कर दिया था । उसके बाद खानू लाल ने तारीख 4 जून, 2003 को अपने हिस्से में से 1/4 हिस्से अपीलार्थी को और शेष आधे हिस्से को अजित प्रताप सिंह को विक्रय करने का दावा किया है । इस प्रकार, अपीलार्थी ने 3/4 हिस्से तक की वाद भूमि और अजित प्रताप सिंह के हिस्से में आने वाले शेष 1/4 हिस्से तक की वाद भूमि का स्वामी होने का दावा किया है । तद्नुसार, क्रमशः अपने हिस्सों के आधार पर वाद भूमि के स्वामियों के नामों में नामांतरण होने का दावा भी किया गया है । अपीलार्थी ने वाद भूमि का क्रय करने के पश्चात् मैसर्स सुषमा ब्रिक फिल्ड के नाम से प्रत्यर्थी सं. 5 के साथ साझेदारी में वाद भूमि पर भट्टा चलाने का कारबार करने का दावा किया है । मई 2006 में, अपीलार्थी (वादी) ने प्रथम अपर सिविल न्यायाधीश, हरदोई के न्यायालय में 2006 की सिविल वाद सं. 271 फाइल की और वाद भूमि पर उसके कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करते हुए स्थायी व्यादेश जारी करने का दावा किया । अपीलार्थी ने भी वाद भूमि, जिसे उसने क्रय करने का दावा किया है, पर उसके कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करने के लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) के आदेश XXXIX के नियम 1 और 2 के अधीन अस्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए आवेदन किया । तारीख 31 मई, 2006 को विचारण न्यायालय ने वाद भूमि, जैसा दावाकृत है, पर अपीलार्थी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करते हुए, एकपक्षीय अस्थायी व्यादेश मंजूर कर लिया और वाद नोटिस जारी किया तथा प्रत्यर्थी सं. 1 को अस्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए आवेदन फाइल करना मंजूर कर लिया । इसी बीच में, अपीलार्थी ने भी यह सुनिश्चित करने के लिए पुलिस संरक्षण पाने के लिए आवेदन किया कि तारीख 31 मई, 2006 के आदेश को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा अधिक्रमण नहीं किया जाए जो तारीख 12 जुलाई, 2006 को मंजूर किया गया था । इसी बीच में, पक्षकारों ने एक समझौता होने का दावा किया जिसमें प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपीलार्थी के कब्जे में हस्तक्षेप नहीं करने को सहमत हुआ था । तद्नुसार, अपीलार्थी ने वाद प्रत्याहृत करने के लिए आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । प्रत्यर्थी सं. 1 ने आवेदन का विरोध किया । विचारण न्यायालय ने तारीख 14 अगस्त, 2007 के आदेश द्वारा आवेदन मंजूर कर लिया और अपीलार्थी को प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को देय 350/- रुपए के खर्चे का संदाय करने के अध्यधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी थी । तद्नुसार, अपीलार्थी का वाद प्रत्याहृत के रूप में खारिज कर दिया गया था ।

प्रत्यर्थी सं. 1 व्यथित हुआ और उसने अपर जिला न्यायाधीश, हरदोई के समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । अपर जिला न्यायाधीश ने तारीख 5 अगस्त, 2008 के आदेश द्वारा पुनरीक्षण आवेदन खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के आदेश को कायम रखा । प्रत्यर्थी सं. 1 व्यथित हुआ और उच्च न्यायालय, इलाहाबाद के समक्ष संविधान, 1950 के अनुच्छेद 227 के अधीन अपर जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध रिट याचिका (2008 की रिट याचिका सं. 5453) फाइल की । उच्च न्यायालय ने तारीख 28 मई, 2010 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की रिट याचिका मंजूर कर ली और अपर जिला न्यायाधीश तथा विचारण न्यायालयों के आदेशों को अपास्त कर दिया और अपीलार्थी (वादी) को यह भी निर्देश दिया कि वह वाद भूमि कब्जा प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को सौंप दें । इस आदेश के विरुद्ध, वादी ने व्यथित महसूस किया और इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से यह अपील फाइल की । न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – संक्षिप्त प्रश्न, जो प्रतिवादी सं. 1 (प्रत्यर्थी सं. 1) द्वारा फाइल रिट याचिका में उच्च न्यायालय के समक्ष विचार के लिए उद्‌भूत हुआ था, वह यह था कि क्या दोनों निचले न्यायालय, संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन अपीलार्थी (वादी) द्वारा फाइल आवेदन को मंजूर करने में न्यायानुमत थे और तद्द्वारा, वे वाद प्रत्याहरण करने के लिए अपीलार्थी (वादी) को अनुज्ञा देने में न्यायानुमत थे । दूसरे शब्दों में, मात्र यह प्रश्न जिस पर उच्च न्यायालय को रिट याचिका में परीक्षा करनी थी वह यह थी कि क्या अपीलार्थी (वादी) द्वारा संहिता,1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वाद का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा की प्रार्थना करते हुए, फाइल आवेदन को विचारण न्यायालय द्वारा सही ही मंजूर किया गया था या नहीं । आदेश XXIII के नियम 1, जो इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत है । आदेश XXIII के नियम 1 के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि वादी को वाद संस्थित किए जाने के पश्चात् किसी भी समय अपने वाद या उसके भाग का परित्याग करने के लिए आवेदन फाइल करने का अधिकार है । तथापि, यदि नियम 1(3) के अधीन वाद, चाहे पूर्ण या उसके भाग को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दी जाती है तो वादी को ऐसे निबंधनों पर नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता मंजूर की जाएगी जैसा न्यायालय वाद या उसके भाग के उसी विषयवस्तु के संबंध में वादी पर अधिरोपित करने के लिए उचित और ठीक समझता है । यदि नियम 1 के उपनियम (1) के साथ पठित नियम 4(क)

या (ख) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा मंजूर की जाती है तो ऐसी दशा में, वादी, प्रतिवादी को मात्र खर्चे का संदाय करने के लिए ही दायी होगा । तथापि, ऐसी स्थिति में, वह उसी विषयवस्तु या उसके भाग के संबंध में नया वाद फाइल करने से वर्जित हो जाता है । नियम 1 का उपनियम (5) यह कहता है कि यदि एक से अधिक वादी हैं तो जब तक सभी वादियों ने वाद प्रत्याहृत करने की सहमति नहीं दे दी है तब तक उपनियम (1) या (3) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती है । अब, वर्तमान मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, हमारा यह निष्कर्ष है कि अपीलार्थी (वादी) ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन अपने वाद का प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन किया था । विचारण न्यायालय ने प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था और तद्नुसार, वादी और प्रतिवादियों को 350/- रुपए के खर्चे का संदाय करने पर वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी थी । विचारण न्यायालय ने ऐसा आदेश XXIII के नियम 1 के उपनियम (4)(क) के अधीन प्रदर्श शक्तियों का अवलंब लेते हुए किया था । यद्यपि, अपीलार्थी को ऐसी अनुज्ञा मंजूर करने का प्रभाव यह हुआ कि उसे वाद प्रत्याहृत करना मंजूर कर लिया गया था, किन्तु उसे उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की अनुज्ञा नहीं दी गई । चूंकि, मात्र एक व्यक्ति ने वाद फाइल किया था और इसलिए, नियम 1 का उपनियम (5) लागू नहीं होता था । हमारे सुविचारित राय में, जब वादी ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन आवेदन फाइल किया और वाद, चाहे पूर्ण या उसके भाग को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा देने की प्रार्थना की तब उसे ऐसा करने की हमेशा ही स्वतंत्रता थी और ऐसे मामलों में, प्रतिवादी को वादी द्वारा किए जाने वाले ऐसे प्रार्थना पर आक्षेप उद्भूत करने का कोई अधिकार नहीं था, सिवाय इसके कि वह वादी द्वारा उसे खर्चे का संदाय करने के लिए कहता, जैसा कि उपनियम (4) में यथा उपबंधित है । नियम 1 के उपनियम (1) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की प्रार्थना के कारण, वादी को उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की कोई इजाजत देने के लिए नहीं कहा जा सकता है । इसलिए, कुछ और कथन किए बिना वाद को मात्र प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा हमेशा ही दी जा सकती है । दूसरे शब्दों में, प्रतिवादी को उसके विरुद्ध वाद फाइल करने के लिए खर्चों का दावा करने के सिवाय वादी द्वारा ईप्सित वाद के प्रत्याहरण करने का विरोध करते हुए वाद को अभियोजित करने के लिए वादी को आबद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है । तथापि, जब वादी नियम 1 के उपनियम (3) में उपबंधित रूप से उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की

उसे अनुज्ञा मंजूर करने की प्रार्थना करने के साथ वाद का प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन करता है तो ऐसी दशा में, प्रतिवादी वादी द्वारा किए गए ऐसी प्रार्थना का विरोध कर सकता है । ऐसी दशा में, न्यायालय को यह विनिश्चय करना चाहिए कि क्या वाद का प्रत्याहरण करने की ईप्सा करने की अनुज्ञा वादी को मंजूर की जानी चाहिए और यदि ऐसा है तो किन निबंधनों पर, जैसा कि नियम 1 के उपनियम (3) में उपबंधित है । अब, मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, हमारी यह सुविचारित राय है कि विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, नियम 1 के उपनियम (2) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने के लिए अपीलार्थी (वादी) को अनुज्ञा प्रदान करने में न्यायानुमत थे । दूसरे शब्दों में, चूंकि अपीलार्थी ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वाद प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन किया था, इसलिए, विचारण न्यायालय, प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को 350/- रुपए के खर्चों का संदाय करने के अध्यधीन अपीलार्थी को वाद का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा देने में न्यायोचित था । हमारे मत में, ऐसा आदेश नियम 1 के उपनियम (3) की पुष्टि में था और पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा सही ही कायम रखा गया है । तथापि, उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय के आदेशों में गलती पाते हुए प्रतिवादी की रिट याचिका को मंजूर करने में और किसी आधार के बिना, चाहे जो भी हो, वाद भूमि का कब्जा प्रतिवादी सं. 1 को सौंपने के लिए वादी को निर्देश देने में अधिकारिता संबंधी त्रुटि कारित की है । (पैरा 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28 और 29)

जैसा कि उपर्युक्त उल्लिखित है, उच्च न्यायालय की रिट याचिका का क्षेत्र इस प्रश्न की परीक्षा करने तक सीमित प्रतीत होता है कि क्या विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वादी द्वारा फाइल आवेदन को मंजूर करने में न्यायानुमत थे और इस प्रश्न का विनिश्चय करने में कि उच्च न्यायालय को इस बात की परीक्षा करने में स्वयं को सीमित रखना चाहिए था कि क्या आदेश XXIII के नियम 1 की अपेक्षाओं का अनुपालन किया गया था या नहीं, किन्तु वह इसके परे नहीं जा सकता था । इसलिए, उच्च न्यायालय को वाद भूमि के संबंध में व्यादेश मंजूर करने से संबंधित विवाद्यकों से परे जाने और अपीलार्थी (वादी) को वाद भूमि का कब्जा प्रत्यर्थी सं. 1 को सौंपे जाने का निर्देश देने की कोई अधिकारिता नहीं थी । उच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए था कि व्यादेश मंजूर करने का विवाद्यक, रिट याचिका की विषयवस्तु नहीं थी और इसलिए, उसे वाद का

प्रत्याहरण करने के प्रश्न पर कुछ नहीं करना था और द्वितीयतः, वाद का प्रत्याहरण, संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 द्वारा शासित था, जबकि व्यादेश, आदेश XXXIX के नियम 1 और 2 द्वारा शासित था । दोनों विभिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित होते हैं । इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी ने आदेश XLIII के नियम 1(द) के अधीन अपील में व्यादेश को एकपक्षीय मंजूर करने को चुनौती नहीं दी है और न ही इसका विचारण न्यायालय के समक्ष विरोध किया है । मात्र यही दो फोरम थे, जिनमें व्यादेश के विवाद्यक पर न्यायालयों द्वारा विचार किया जा सकता था, किन्तु न केवल वर्तमान कार्यवाहियों को जो उपर्युक्त उल्लिखित हैं, वाद के प्रत्याहरण प्रश्न तक सीमित रखा गया है, अपितु, इसके परे भी कुछ नहीं किया गया । पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में, हमारी यह सुविचारित राय है कि विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, अपीलार्थी (वादी) को वाद प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा देने में न्यायानुमत थे, जबकि उच्च न्यायालय को पुनरीक्षण न्यायालय और विचारण न्यायालयों के आदेशों को अपास्त करने और वाद भूमि का कब्जा प्रतिवादी सं. 1 को सौंपने का निर्देश देने का कोई अधिकार नहीं था । (पैरा 29, 30, 31 और 32)

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 के सिविल अपील सं. 2007.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री प्रदीप कांत, ज्येष्ठ अधिवक्ता, दिब्यांशु सहाय, सुनील कुमार जैन, संजय गोयल, संजय कुमार सिंह और कौशिक चौधरी, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री अनुराग किशोर, मोर्धवाज सिंह, निखिल जैन और राजेश कुमार, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत प्रदान की जाती है ।

2. यह अपील, वादी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय, लखनऊ न्यायपीठ, लखनऊ द्वारा 2008 के रिट याचिका सं. 5453 (एम/एस) में पारित तारीख 28 मई, 2010 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इसमें के प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल याचिका को मंजूर कर लिया था और अपर सिविल न्यायाधीश

(कनिष्ठ खंड) I, हरदोई द्वारा 2006 की आर. एस. सं. 271 में पारित तारीख 14 अगस्त, 2007 के आदेश और अपर जिला न्यायाधीश – III, हरदोई द्वारा 2007 की सी. आर. सं. 63 में पारित तारीख 5 अगस्त, 2008 के आदेश को अपास्त कर दिया था ।

3. मामले में उद्भूत होने वाले विवाद्यकों का मूल्यांकन करने के अनुक्रम में, निम्नलिखित तथ्यों को निर्दिष्ट करना आवश्यक है । विशेष इजाजत याचिका पुस्तिका से निम्नलिखित तथ्य उद्भूत होते हैं ।

4. अपीलार्थी, वादी है जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 से 4, प्रतिवादी सं. 1 से 4 हैं और प्रत्यर्थी सं. 5, प्रोफार्मा प्रत्यर्थी के रूप में वादी सं. 2 है ।

5. इस मामले में विवाद्यक, तत्वतः अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 1 से 4 के बीच में है और ग्राम असोली, परगना बंजर, तहसील और जिला हरदोई (उत्तर प्रदेश) में स्थित भूमि सं. 629-ए/0.0320 हेक्टेयर और 629-बी/1.5820 हेक्टेयर (जिसे इसमें इसके पश्चात् "वाद भूमि" कहा गया है) से संबंधित है ।

6. वाद भूमि को मूलतः श्री जिंता, पुत्र धम्मा से संबंधित होने का दावा किया गया है । उसने इसे दो व्यक्तियों – अभिशेख सिंह ओर अजित प्रताप सिंह को विक्रय कर दिया था । उसके बाद अभिशेख सिंह ने अपने आधे हिस्से को तारीख 25 फरवरी, 2003 को अपीलार्थी को विक्रय करने का दावा किया है जबकि अजित प्रताप सिंह ने अपने आधे हिस्से को पहले ही तारीख 15 नवम्बर, 2000 को खानू लाल मिश्रा को विक्रय कर दिया था । उसके बाद खानू लाल ने तारीख 4 जून, 2003 को अपने हिस्से में से 1/4 हिस्से अपीलार्थी को और शेष आधे हिस्से को अजित प्रताप सिंह को विक्रय करने का दावा किया है । इस प्रकार, अपीलार्थी ने 3/4 हिस्से तक कि वाद भूमि और अजित प्रताप सिंह के हिस्से में आने वाले शेष 1/4 हिस्से तक की वाद भूमि का स्वामी होने का दावा किया है । तद्नुसार, क्रमशः अपने हिस्सों के आधार पर वाद भूमि के स्वामियों के नामों में नामांतरण होने का दावा भी किया गया है ।

7. अपीलार्थी ने वाद भूमि का क्रय करने के पश्चात् मैसर्स सुषमा ब्रिक फिल्ड के नाम से प्रत्यर्थी सं. 5 के साथ साझेदारी में वाद भूमि पर भट्टा चलाने का कारबार करने का दावा किया है ।

8. मई 2006 में, अपीलार्थी (वादी) ने प्रथम अपर सिविल न्यायाधीश, हरदोई के न्यायालय में 2006 की सिविल वाद सं. 271 फाइल की और

वाद भूमि पर उसके कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करते हुए स्थायी व्यादेश जारी करने का दावा किया । अपीलार्थी ने भी वाद भूमि, जिसे उसने क्रय करने का दावा किया है, पर उसके कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करने के लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) के आदेश XXXIX के नियम 1 और 2 के अधीन अस्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए आवेदन किया ।

9. तारीख 31 मई, 2006 को विचारण न्यायालय ने वाद भूमि, जैसा दावाकृत है, पर अपीलार्थी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रत्यर्थी सं. 1 को अवरुद्ध करते हुए, एकपक्षीय अस्थायी व्यादेश मंजूर कर लिया और वाद नोटिस जारी किया तथा प्रत्यर्थी सं. 1 को अस्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए आवेदन फाइल करना मंजूर कर लिया । इसी बीच में, अपीलार्थी ने भी यह सुनिश्चित करने के लिए पुलिस संरक्षण पाने के लिए आवेदन किया कि तारीख 31 मई, 2006 के आदेश को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा अधिक्रमण नहीं किया जाए जो तारीख 12 जुलाई, 2006 को मंजूर किया गया था ।

10. इसी बीच में, पक्षकारों ने एक समझौता होने का दावा किया जिसमें प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपीलार्थी के कब्जे में हस्तक्षेप नहीं करने को सहमत हुआ था । तद्नुसार, अपीलार्थी ने वाद प्रत्याहृत करने के लिए आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । प्रत्यर्थी सं. 1 ने आवेदन का विरोध किया । विचारण न्यायालय ने तारीख 14 अगस्त, 2007 के आदेश द्वारा आवेदन मंजूर कर लिया और अपीलार्थी को प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को देय 350/- रुपए के खर्चे का संदाय करने के अध्यधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी थी । तद्नुसार, अपीलार्थी का वाद प्रत्याहृत के रूप में खारिज कर दिया गया था । आदेश निम्नलिखित है :–

> "मामले में बुलाया गया । पक्षकार उपस्थित हुए । विरोधी पक्षकार द्वारा 56 सी-2 के विरुद्ध 61 सी-2 आक्षेप फाइल किए गए, जिसे अभिलेख में सम्मिलित किया गया है । सुनवाई की गई । आवेदन को इस शर्त के साथ 350/- रुपए के खर्चों पर वापस कर दिया गया कि इस वाद हेतु पर वर्तमान मामले की विषयवस्तु के बारे में और कोई अन्य वाद लाने से वादी को अवरुद्ध कर दिया जाएगा । तद्नुसार, आक्षेप 61 सी-2 को निपटाया गया ।

आवश्यक कार्यवाहियों को करने के पश्चात् मामले को अभिलेखागार को भेजा जाए ।"

11. प्रत्यर्थी सं. 1 व्यथित हुआ और उसने अपर जिला न्यायाधीश, हरदोई के समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । अपर जिला न्यायाधीश ने तारीख 5 अगस्त, 2008 के आदेश द्वारा पुनरीक्षण आवेदन खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के आदेश को कायम रखा ।

12. प्रत्यर्थी सं. 1 व्यथित हुआ और उच्च न्यायालय, इलाहाबाद के समक्ष संविधान, 1950 के अनुच्छेद 227 के अधीन अपर जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध रिट याचिका (2008 की रिट याचिका सं. 5453) फाइल की । उच्च न्यायालय ने तारीख 28 मई, 2010 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की रिट याचिका मंजूर कर ली और अपर जिला न्यायाधीश तथा विचारण न्यायालयों के आदेशों को अपास्त कर दिया और अपीलार्थी (वादी) को यह भी निर्देश दिया कि वह वाद भूमि कब्जा प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को सौंप दें ।

13. इस आदेश के विरुद्ध, वादी ने व्यथित महसूस किया और इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से यह अपील फाइल की ।

14. अपीलार्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री प्रदीप कांत और प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री अनुराग किशोर, श्री निखिल जैन और श्री राजेश कुमार को सुना ।

15. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और मामले के अभिलेखों का परिशीलन करने के पश्चात्, हम, अपील मंजूर करने और आक्षेपित आदेशों को अपास्त करने और विचारण न्यायालय तथा पुनरीक्षण न्यायालय के आदेशों को पुनः स्थापित करने के लिए आबद्ध हैं ।

16. संक्षिप्त प्रश्न, जो प्रतिवादी सं. 1 (प्रत्यर्थी सं. 1) द्वारा फाइल रिट याचिका में उच्च न्यायालय के समक्ष विचार के लिए उद्‌भूत हुआ था, वह यह था कि क्या दोनों निचले न्यायालय, संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन अपीलार्थी (वादी) द्वारा फाइल आवेदन को मंजूर करने में न्यायानुमत थे और तद्द्वारा, वे वाद प्रत्याहरण करने के लिए अपीलार्थी (वादी) को अनुज्ञा देने में न्यायानुमत थे ।

17. दूसरे शब्दों में, मात्र यह प्रश्न जिस पर उच्च न्यायालय को रिट याचिका में परीक्षा करनी थी वह यह थी कि क्या अपीलार्थी (वादी) द्वारा

संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वाद का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा की प्रार्थना करते हुए, फाइल आवेदन को विचारण न्यायालय द्वारा सही ही मंजूर किया गया था या नहीं ।

18. आदेश XXIII के नियम 1, जो इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत है, निम्नलिखित है :–

"आदेश XXIII नियम 1

1. वाद का प्रत्याहरण या दावे के भाग का परित्याग – (1) वाद संस्थित किए जाने के पश्चात् किसी भी समय वादी सभी प्रतिवादियों या उनमें से किसी के विरुद्ध अपने वाद का परित्याग या अपने दावे के भाग का परित्याग कर सकेगा :

परंतु जहां वादी अवयस्क है या ऐसा व्यक्ति है, जिसे आदेश 32 के नियम 1 से नियम 14 तक के उपबंध लागू होते हैं वहां न्यायालय की इजाजत बिना न तो वाद का और न दावे के किसी भाग का परित्याग किया जाएगा ।

(2) उपनियम (1) के परंतुक के अधीन इजाजत के लिए आवेदन के साथ वाद-मित्र का शपथपत्र देना होगा और यदि अवयस्क या ऐसे अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व प्लीडर द्वारा किया जाता है तो, प्लीडर को इस आशय का प्रमाणपत्र भी देना होगा कि प्रस्थापित परित्याग उसकी राय में अवयस्क या ऐसे अन्य व्यक्ति के फायदे के लिए है ।

(3) जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि –

(क) वाद किसी प्ररूपिक त्रुटि के कारण विफल हो जाएगा, अथवा

(ख) वाद की विषयवस्तु या दावे के भाग के लिए नया वाद संस्थित करने के लिए वादी को अनुज्ञात करने के पर्याप्त आधार है,

वहां वह ऐसे निबंधनों पर जिन्हें वह ठीक समझे, वादी को ऐसे वाद की विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के संबंध में नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता रखते हुए ऐसे वाद से या दावे के ऐसे भाग से अपने का प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे सकेगा ।

(4) जहां वादी, –

(क) उपनियम (1) के अधीन किसी वाद का या दावे के भाग का परित्याग करता है, अथवा

(ख) उपनियम (3) में निर्दिष्ट अनुज्ञा के बिना वाद से या दावे के भाग से प्रत्याहृत कर लेता है,

वहां वह ऐसे खर्चे के लिए दायी होगा जो न्यायालय अधिनिर्णीत करे और वह ऐसी विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के बारे में कोई नया वाद संस्थित करने से प्रवारित होगा ।

(5) इस नियम की किसी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह न्यायालय को अनेक वादियों में से एक वादी को उपनियम (1) के अधीन वाद या दावे के किसी भाग का परित्याग करने या किसी वाद या दावे का अन्य वादियों की सहमति के बिना उपनियम (3) के अधीन प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा देने के लिए प्राधिकृत करती है ।"

19. आदेश XXIII के नियम 1 के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि वादी को वाद संस्थित किए जाने के पश्चात् किसी भी समय अपने वाद या उसके भाग का परित्याग करने के लिए आवेदन फाइल करने का अधिकार है । तथापि, यदि नियम 1(3) के अधीन वाद, चाहे पूर्ण या उसके भाग को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दी जाती है तो वादी को ऐसे निबंधनों पर नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता मंजूर की जाएगी जैसा न्यायालय वाद या उसके भाग के उसी विषयवस्तु के संबंध में वादी पर अधिरोपित करने के लिए उचित और ठीक समझता है ।

20. यदि नियम 1 के उपनियम (1) के साथ पठित नियम 4(क) या (ख) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा मंजूर की जाती है तो ऐसी दशा में, वादी, प्रतिवादी को मात्र खर्चे का संदाय करने के लिए ही दायी होगा । तथापि, ऐसी स्थिति में, वह उसी विषयवस्तु या उसके भाग के संबंध में नया वाद फाइल करने से वर्जित हो जाता है ।

21. नियम 1 का उपनियम (5) यह कहता है कि यदि एक से अधिक वादी हैं तो जब तक सभी वादियों ने वाद प्रत्याहृत करने की सहमति नहीं दे दी है तब तक उपनियम (1) या (3) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती है ।

22. अब, वर्तमान मामले के तथ्यो पर विचार करते हैं, हमारा यह

निष्कर्ष है कि अपीलार्थी (वादी) ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन अपने वाद का प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन किया था । विचारण न्यायालय ने प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था और तद्नुसार, वादी को प्रतिवादियों को 350/- रुपए के खर्चे का संदाय करने पर वाद प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे दी थी । विचारण न्यायालय ने ऐसा आदेश XXIII के नियम 1 के उपनियम (4)(क) के अधीन प्रदर्श शक्तियों का अवलंब लेते हुए किया था ।

23. यद्यपि, अपीलार्थी को ऐसी अनुज्ञा मंजूर करने का प्रभाव यह हुआ कि उसे वाद प्रत्याहृत करना मंजूर कर लिया गया था, किन्तु उसे उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की अनुज्ञा नहीं दी गई । चूंकि, मात्र एक व्यक्ति ने वाद फाइल किया था और इसलिए, नियम 1 का उपनियम (5) लागू नहीं होता था ।

24. हमारे सुविचारित राय में, जब वादी ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन आवेदन फाइल किया और वाद, चाहे पूर्ण या उसके भाग को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा देने की प्रार्थना की तब उसे ऐसा करने की हमेशा ही स्वतंत्रता थी और ऐसे मामलों में, प्रतिवादी को वादी द्वारा किए जाने वाले ऐसे प्रार्थना पर आक्षेप उद्भूत करने का कोई अधिकार नहीं था, सिवाय इसके कि वह वादी द्वारा उसे खर्चे का संदाय करने के लिए कहता, जैसा कि उपनियम (4) में यथा उपबंधित है ।

25. नियम 1 के उपनियम (1) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने की प्रार्थना के कारण, वादी को उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की कोई इजाजत देने के लिए नहीं कहा जा सकता है । इसलिए, कुछ और कथन किए बिना वाद को मात्र प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा हमेशा ही दी जा सकती है । दूसरे शब्दों में, प्रतिवादी को उसके विरुद्ध वाद फाइल करने के लिए खर्चों का दावा करने के सिवाय वादी द्वारा ईप्सित वाद के प्रत्याहरण करने का विरोध करते हुए वाद को अभियोजित करने के लिए वादी को आबद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है ।

26. तथापि, जब वादी नियम 1 के उपनियम (3) में उपबंधित रूप से उसी विषयवस्तु पर नया वाद फाइल करने की उसे अनुज्ञा मंजूर करने की प्रार्थना करने के साथ वाद का प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन करता है तो ऐसी दशा में, प्रतिवादी वादी द्वारा किए गए ऐसी प्रार्थना का विरोध कर सकता है । ऐसी दशा में, न्यायालय को यह विनिश्चय करना चाहिए कि क्या वाद का प्रत्याहरण करने की ईप्सा करने की अनुज्ञा वादी को मंजूर

की जानी चाहिए और यदि ऐसा है तो किन निबंधनों पर, जैसा कि नियम 1 के उपनियम (3) में उपबंधित है ।

27. अब, मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, हमारी यह सुविचारित राय है कि विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, नियम 1 के उपनियम (2) के अधीन वाद प्रत्याहृत करने के लिए अपीलार्थी (वादी) को अनुज्ञा प्रदान करने में न्यायानुमत थे । दूसरे शब्दों में, चूंकि अपीलार्थी ने आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वाद प्रत्याहरण करने के लिए आवेदन किया था, इसलिए, विचारण न्यायालय, प्रत्यर्थी सं. 1 (प्रतिवादी सं. 1) को 350/- रुपए के खर्चों का संदाय करने के अध्यधीन अपीलार्थी को वाद का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा देने में न्यायोचित था । हमारे मत में, ऐसा आदेश नियम 1 के उपनियम (3) की पुष्टि में था और पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा सही ही कायम रखा गया है ।

28. तथापि, उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय के आदेशों में गलती पाते हुए प्रतिवादी की रिट याचिका को मंजूर करने में और किसी आधार के बिना, चाहे जो भी हो, वाद भूमि का कब्जा प्रतिवादी सं. 1 को सौंपने के लिए वादी को निर्देश देने में अधिकारिता संबंधी त्रुटि कारित की है ।

29. जैसा कि उपर्युक्त उल्लिखित है, उच्च न्यायालय की रिट याचिका का क्षेत्र इस प्रश्न की परीक्षा करने तक सीमित प्रतीत होता है कि क्या विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, संहिता, 1908 के आदेश XXIII के नियम 1 के अधीन वादी द्वारा फाइल आवेदन को मंजूर करने में न्यायानुमत थे और इस प्रश्न का विनिश्चय करने में कि उच्च न्यायालय को इस बात की परीक्षा करने में स्वयं को सीमित रखना चाहिए था कि क्या आदेश XXIII के नियम 1 की अपेक्षाओं का अनुपालन किया गया था या नहीं, किन्तु वह इसके परे नहीं जा सकता था ।

30. इसलिए, उच्च न्यायालय को वाद भूमि के संबंध में व्यादेश मंजूर करने से संबंधित विवाद्यकों से परे जाने और अपीलार्थी (वादी) को वाद भूमि का कब्जा प्रत्यर्थी सं. 1 को सौंपे जाने का निर्देश देने की कोई अधिकारिता नहीं थी ।

31. उच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए था कि व्यादेश मंजूर करने का विवाद्यक, रिट याचिका की विषयवस्तु नहीं थी और इसलिए, उसे वाद का प्रत्याहरण करने के प्रश्न पर कुछ नहीं करना था और द्वितीयतः, वाद का प्रत्याहरण, संहिता, 1908 का आदेश XXIII के नियम 1 द्वारा शासित

था, जबकि व्यादेश, आदेश XXXIX के नियम 1 और 2 द्वारा शासित था । दोनों विभिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित होते हैं । इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी ने आदेश XLIII के नियम 1(द) के अधीन अपील में व्यादेश को एकपक्षीय मंजूर करने को चुनौती नहीं दी है और न ही इसका विचारण न्यायालय के समक्ष विरोध किया है । मात्र यही दो फोरम थे, जिनमें व्यादेश के विवाद्यक पर न्यायालयों द्वारा विचार किया जा सकता था, किन्तु न केवल वर्तमान कार्यवाहियों को जो उपर्युक्त उल्लिखित हैं, वाद के प्रत्याहरण प्रश्न तक सीमित रखा गया है, अपितु, इसके परे भी कुछ नहीं किया गया ।

32. पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में, हमारी यह सुविचारित राय है कि विचारण न्यायालय और पुनरीक्षण न्यायालय, अपीलार्थी (वादी) को वाद प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा देने में न्यायानुमत थे, जबकि उच्च न्यायालय को पुनरीक्षण न्यायालय और विचारण न्यायालयों के आदेशों को अपास्त करने और वाद भूमि का कब्जा प्रतिवादी सं. 1 को सौंपने का निर्देश देने का कोई अधिकार नहीं था ।

33. तथापि, हम यह स्पष्ट करते हैं कि प्रतिवादी सं. 1 को विधि के अनुसरण में, समुचित कार्यवाहियों में वाद भूमि के संबंध में स्वामित्व और कब्जा से संबंधित विवाद्यकों को उद्‌भूत करने की स्वतंत्रता होगी ।

34. पूर्ववर्ती चर्चा को ध्यान में रखते हुए, इस प्रकार यह अपील सफल होती है और मंजूर की जाती है । आक्षेपित आदेश अपास्त किए जाते हैं और विचारण न्यायालय तथा पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश प्रतिस्थापित किए जाते हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

क.

सी. वेंकट स्वामी

बनाम

एच. एन. शिवन्ना (मृत) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा, और एक अन्य

4 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे और न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908(1908 का 5) – धारा 96 और आदेश 41, नियम 31 – प्रथम अपील – प्रथम अपील के निपटान की समुचित पद्धति – चूंकि प्रथम अपील न्यायालय ने अपीलों को सरसरी तौर पर, मामले में उद्भूत होने वाले विभिन्न मुद्दों के संबंध में साक्ष्य का मूल्यांकन किए बिना और पक्षकारों द्वारा अपने पक्षकथन के समर्थन में दी गई दलीलों पर विचार किए बिना खारिज कर दिया था इसलिए इन अपीलों के निपटान के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह आदेश 41, नियम 31 के साथ पठित धारा 96 की अपेक्षाओं के अनुरूप है और अतः अपीलों को नए सिरे से निपटारे के लिए प्रतिप्रेषित किया गया ।

प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध वादपत्र में विस्तारपूर्वक वर्णित भूमि के संबंध में घोषणा और स्थायी व्यादेश के लिए मूल वाद फाइल किया जबकि मूल प्रत्यर्थी सं. 1 ने भी वादगत भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध एक प्रतिवाद फाइल किया । दोनों वादों को उनके निपटान के लिए एक-साथ मिला लिया गया था क्योंकि दोनों वाद एक ही पक्षकारों के बीच और एक ही विषयवस्तु के संबंध में थे । पक्षकारों ने वादों का विरोध किया और साक्ष्य पेश किए । विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी की ओर से फाइल किए गए वाद को खारिज कर दिया और प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल किए गए वाद को डिक्री कर दिया । अपीलार्थी ने व्यथित महसूस किया और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष दो प्रथम अपीलें फाइल कीं । एकल न्यायाधीश ने आक्षेपित निर्णय/डिक्री द्वारा दोनों प्रथम अपीलों को खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अभिपुष्ट कर दिया, जिसके कारण अपीलार्थी द्वारा उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत अपीलें फाइल की गईं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करके

मामला उच्च न्यायालय के प्रतिप्रेषित करते हुए,

अभिनिर्धारित – उच्च न्यायालय को मामला प्रतिप्रेषित करने की आवश्यकता इस कारण उद्भूत हुई क्योंकि एकल न्यायाधीश ने अपीलों को सरसरी तौर पर और साक्ष्य का कोई मूल्यांकन किए बिना, मामले में उद्भूत विभिन्न विवाद्यकों पर विचार किए बिना और पक्षकारों द्वारा अपने मामले के समर्थन में दिए गए तर्कों पर विचार-विमर्श किए बिना खारिज कर दिया था । दूसरे शब्दों में, दोनों प्रथम अपीलों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41, नियम 31 के साथ पठित धारा 96 की अपेक्षाओं के अनुरूप है । विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि संहिता की धारा 96 के अधीन डिक्री के विरुद्ध प्रथम अपील फाइल करने का अधिकार मुकदमेबाज का एक बहुमूल्य विधिक अधिकार है । प्रथम अपील की सुनवाई करते समय प्रथम अपील न्यायालय की अधिकारिता विचारण न्यायालय की भांति अत्यधिक व्यापक है और अपीलार्थी प्रथम अपील में तथ्य या/और विधि संबंधी सभी निष्कर्षों को चुनौती देने के लिए स्वतंत्र है । प्रथम अपील न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह संपूर्ण साक्ष्य का मूल्यांकन करे और दिए गए कारणों से अभिपुष्टि या मतभेद संबंधी अपना स्वतंत्र निष्कर्ष निकाले । इसी प्रकार, प्रथम अपील का विनिश्चय करते समय प्रथम अपील न्यायालय की शक्तियां वास्तव में इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों द्वारा सुपरिभाषित हैं और इसलिए अब वे अनिर्णीत विषय नहीं हैं । (पैरा 10,11 और 12)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2016]	(2016) 13 एस. सी. सी. 124 : **भारत संघ** बनाम **के. वी. लक्ष्मण और अन्य** ;	21
[2011]	(2011) 12 एस. सी. सी. 174 : **भारतीय स्टेट बैंक और एक अन्य** बनाम **एमसन्स इंटरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य** ;	21
[2010]	(2010) 13 एस. सी. सी. 530 : **बी. वी. नागेश और एक अन्य** बनाम **एच. वी. श्रीनिवास मूर्ति** ;	20
[2005]	(2005) 12 एस. सी. सी. 303 : **जगन्नाथ** बनाम **अरूलप्पा और एक अन्य** ;	19

[2005]	(2005) 10 एस. सी. सी. 243 : **एच. के. एन. स्वामी** बनाम **इरशाद बसीथ** ;	18
[2001]	(2001) 4 एस. सी. सी. 756 : **मधुकर और अन्य** बनाम **संग्राम और अन्य** ;	17
[2001]	(2001) 3 एस. सी. सी. 179 : **संतोष हज़ारी** बनाम **पुरुषोत्तम तिवारी (मृत) विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत** ;	16
[1969]	ए. आई. आर. 1969 केरल 316 : **कुरियन चाको** बनाम **वर्की ओसेफ** ।	13

सिविल अपीली अधिकारिता : 2011 की सिविल अपील सं. 670-671.

2005 की नियमित प्रथम अपील सं. 159 के साथ सम्मिलित नियमित प्रथम अपील सं. 158 में कर्नाटक उच्च न्यायालय की बंगलौर न्यायपीठ के तारीख 2 नवम्बर, 2016 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गई अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री किरण सूरी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एस. जे. एमिथ और डा. (श्रीमती) विपिन गुप्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री राजेश महाले

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – ये अपीलें वादी द्वारा 2005 की नियमित प्रथम अपील सं. 158 और 159 में कर्नाटक उच्च न्यायालय की बंगलौर न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 2 नवम्बर, 2006 के उस अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं, जिनके द्वारा उच्च न्यायालय ने इस मामले में के अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपीलें खारिज कर दी थीं ।

2. इस मामले के तथ्य संकीर्ण परिधि में हैं । इन अपीलों में उद्‌भूत होने वाला मुद्दा भी बहुत छोटा है । यह इसमें इसके नीचे उल्लिखित तथ्य से स्पष्ट हो जाएगा ।

3. उन वादों में, जिनमें से ये अपीलें उद्‌भूत हुई हैं, अपीलार्थी, 1996 के मूल वाद सं. 6640 में वादी है और 1992 के मूल वाद सं. 2150 में प्रतिवादी है जबकि प्रत्यर्थी 1996 के मूल वाद सं. 6640 में प्रतिवादी और

1992 के मूल वाद सं. 2150 में वादी हैं ।

4. अपीलार्थी ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध वादपत्र में विस्तारपूर्वक वर्णित भूमि (जिसे इसमें इसके पश्चात् "वादगत भूमि" कहा गया है) के संबंध में घोषणा और स्थायी व्यादेश के लिए नगर सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के न्यायालय में 1996 का मूल वाद सं. 6640 फाइल किया जबकि मूल प्रत्यर्थी सं. 1 ने भी वादगत भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध 1992 के मूल वाद सं. 2150 के रूप में एक प्रतीपवाद फाइल किया ।

5. दोनों वादों को उनके निपटान के लिए एक-साथ मिला लिया गया था क्योंकि दोनों वाद एक ही पक्षकारों के बीच और एक ही विषयवस्तु के संबंध में थे ।

6. पक्षकारों ने वादों का विरोध किया और साक्ष्य पेश किए । विचारण न्यायालय ने तारीख 4 दिसम्बर, 2004 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपीलार्थी की ओर से फाइल किए गए वाद, अर्थात्, 1996 के मूल वाद सं. 6640 को खारिज कर दिया और प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल किए गए वाद, अर्थात् 1992 के मूल वाद सं. 2150 को डिक्री कर दिया ।

7. 1996 के मूल वाद सं. 6640 में वादी ने व्यथित महसूस किया और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 96 के अधीन कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष दो प्रथम अपीलें फाइल कीं । एकल न्यायाधीश ने आक्षेपित निर्णय/डिक्री द्वारा दोनों प्रथम अपीलों को खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अभिपुष्ट कर दिया, जिसके कारण वादी द्वारा इस न्यायालय में 1996 के मूल वाद सं. 6640 में विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत अपीलें फाइल की गईं ।

8. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री किरण सूरी और प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री राजेश महाले की सुनवाई की गई ।

9. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की सुनवाई करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात्, हम इन अपीलों को मंजूर करने, आक्षेपित निर्णय को अपास्त करने और दोनों प्रथम अपीलों पर विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने के लिए बाध्य हैं ।

10. उच्च न्यायालय को मामला प्रतिप्रेषित करने की आवश्यकता इस कारण उद्भूत हुई क्योंकि एकल न्यायाधीश ने अपीलों को सरसरी तौर पर और साक्ष्य का कोई मूल्यांकन किए बिना, मामले में उद्भूत विभिन्न विवाद्यकों पर विचार किए बिना और पक्षकारों द्वारा अपने मामले के समर्थन में दिए गए तर्कों पर विचार-विमर्श किए बिना खारिज कर दिया था । दूसरे शब्दों में, दोनों प्रथम अपीलों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे संहिता के आदेश 41, नियम 31 के साथ पठित धारा 96 की अपेक्षाओं के अनुरूप है ।

11. विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि संहिता की धारा 96 के अधीन डिक्री के विरुद्ध प्रथम अपील फाइल करने का अधिकार मुकदमेबाज़ का एक बहुमूल्य विधिक अधिकार है । प्रथम अपील की सुनवाई करते समय प्रथम अपील न्यायालय की अधिकारिता विचारण न्यायालय की भांति अत्यधिक व्यापक है और अपीलार्थी प्रथम अपील में तथ्य या/और विधि संबंधी सभी निष्कर्षों को चुनौती देने के लिए स्वतंत्र है । प्रथम अपील न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह संपूर्ण साक्ष्य का मूल्यांकन करे और दिए गए कारणों से अभिपुष्टि या मतभेद संबंधी अपना स्वतंत्र निष्कर्ष निकाले ।

12. इसी प्रकार, प्रथम अपील का विनिश्चय करते समय प्रथम अपील न्यायालय की शक्तियां वास्तव में इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों द्वारा सुपरिभाषित हैं और इसलिए अब वे अनिर्णीत विषय नहीं हैं। इस मुद्दे के संबंध में विधि का उल्लेख करना उपयुक्त है ।

13. बहुत पहले वर्ष 1969 में, विद्वान् न्यायाधीश वी. आर. कृष्ण अय्यर ने (जैसे कि माननीय न्यायमूर्ति तब केरल उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे) **कुरियन चाको** बनाम **वर्की ओसेफ**[1] वाले मामले में संहिता की धारा 96 के अधीन प्रथम अपील का विनिश्चय करते समय प्रथम अपील न्यायालय को प्रथम अपील का विनिश्चय करने संबंधी उसका स्मरण कराया । विद्वान् न्यायाधीश ने अभिव्यक्ति की प्रखर शक्ति सहित लेखन की अपनी सुभिन्न शैली में निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

> "1. वादी, जोकि दो न्यायालयों में असफल रहा, अपने उस वाद की खारिजी से व्यथित होकर इस न्यायालय में आया है, जोकि हक की घोषणा और कब्ज़े के प्रत्युद्धरण के लिए था । प्रतिवादी ने

[1] ए. आई. आर. 1969 केरल 316.

संपत्ति पर वादी के हक तथा उसके कब्जे के संबंध में विवाद किया और दोनों के संबंध में अपना दावा किया । विद्वान् मुंसिफ ने, जिसने वाद का विचारण किया था, हक और कब्ज़े दोनों के संबंध में वादी के विरुद्ध निष्कर्ष लेखबद्ध किए । किन्तु, अपील में, विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने संपूर्ण मामले का निपटारा सहज और संक्षिप्त रूप से कुछ वाक्यों में कर दिया ।

2. साधारणतया, कोई अपील न्यायालय तथ्य संबंधी अंतिम न्यायालय होता है और इसलिए मुकदमेबाज़ अपीली प्रक्रम पर साक्ष्य के पूर्ण और ऋजु तथा निष्पक्ष विचारण का हकदार होता है । इसमें कुछ भी कमी उसके लिए अन्यायपूर्ण है और मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रस्तुत मामले में, विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने जितना अपील न्यायालय के रूप में उससे प्रत्याशित था उसमें काफी कमी की थी । यद्यपि अपीलार्थी के काउंसेल और प्रत्यर्थी के काउंसेल के बीच प्रचंड विरोध है तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस मताभिव्यक्ति के संबंध में मुझसे सहमत हैं ।......"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

14. इस न्यायालय ने भी विभिन्न मामलों में उपर्युक्त सिद्धांत पर जोर दिया है और प्रथम अपील को विनिश्चित करते समय संहिता की धारा 96 के अधीन अपील न्यायालय की शक्तियों को अधिकथित किया है ।

15. हम कुछ विनिश्चयों के प्रतिनिर्देश करना उपयुक्त समझते हैं ।

16. **संतोष हज़ारी** बनाम **पुरुषोत्तम तिवारी (मृत) विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने (पृष्ठ 188-189 पर) निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"........अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को उलटने या अभिपुष्ट करने की अधिकारिता प्राप्त है । प्रथम अपील पक्षकारों का एक बहुमूल्य अधिकार है और जब तक विधि द्वारा निर्बंधित न हो, संपूर्ण मामले में तथ्य और विधि दोनों से संबंधित प्रश्नों पर पुनः सुनवाई की जा सकती है । इसलिए, अपील न्यायालय के निर्णय से उसकी सचेत विवेकबुद्धि का प्रयोग अवश्य ही प्रतिबिंबित होना चाहिए और पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत की गई और अपील न्यायालय के विनिश्चय के लिए जोर दी गई दलीलों सहित उद्भूत

---

[1] (2001) 3 एस. सी. सी. 179.

होने वाले सभी मुद्दों के संबंध में कारणों सहित निष्कर्ष अभिलिखित किए जाने चाहिएं..... अपील न्यायालय को तथ्य संबंधी निष्कर्ष को उलटते समय विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए तर्काधार की सूक्ष्म रूप से परीक्षा करनी चाहिए और इसके पश्चात् भिन्न निष्कर्ष पर पहुंचने के संबंध में अपने कारण देने चाहिएं । इससे आगे अपील की सुनवाई करने वाले न्यायालय का इस संबंध में समाधान हो जाएगा कि प्रथम अपील न्यायालय ने अपने कर्तव्य का निर्वहन उसी प्रकार किया था जैसा कि उससे प्रत्याशित था .... ।"

17. उपरोक्त मत का **मधुकर और अन्य** बनाम **संग्राम और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा अनुसरण किया गया था, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि प्रथम अपील न्यायालय के रूप में उच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपने निष्कर्ष अभिलिखित करने से पूर्व सभी मुद्दों पर और पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विचार करे ।

18. **एच. के. एन. स्वामी** बनाम **इरशाद बसीथ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने (पृष्ठ 244 पर) निम्न प्रकार कथन किया :–

"3. प्रथम अपील का विनिश्चय तथ्यों तथा विधि की दृष्टि से किया जाना होता है । प्रथम अपील में, पक्षकारों को विधि तथा तथ्यों, दोनों से संबंधित प्रश्नों पर सुने जाने का अधिकार प्राप्त होता है और प्रथम अपील न्यायालय से अपेक्षित होता है कि वह स्वयं सभी मुद्दों पर विचार करे और कारण देते हुए मामले का विनिश्चय करे । दुर्भाग्यवश, प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने न तो तथ्यों और न ही विधि के संबंध में कोई निष्कर्ष लेखबद्ध किया है । प्रथम अपील न्यायालय के रूप में आसीन होते हुए, उच्च न्यायालय का यह कर्तव्य था कि वह हक के संबंध में निष्कर्ष अभिलिखित करने से पूर्व समस्त मुद्दों पर और पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विचार करता ।"

19. पुनः **जगन्नाथ** बनाम **अरूलप्पा और एक अन्य**[3] वाले मामले में, इस न्यायालय ने संहिता की धारा 96 की परिधि पर विचार करते समय निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की (पृष्ठ 303-304 पर) :–

---

[1] (2001) 4 एस. सी. सी. 756.

[2] (2005) 10 एस. सी. सी. 243.

[3] (2005) 12 एस. सी. सी. 303.

"2. प्रथम अपील न्यायालय संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन कर सकता है और भिन्न निष्कर्ष निकाल सकता है ।"

20. पुनः, **बी. वी. नागेश और एक अन्य** बनाम **एच. वी. श्रीनिवास मूर्ति**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस न्यायालय के सभी संपूर्ण निर्णयों का उल्लेख करते हुए इन शब्दों में ऊपर उल्लिखित सिद्धांत पर जोर दिया :–

"इस न्यायालय द्वारा विभिन्न विनिश्चयों में इस बात पर विचार किया गया है कि अपील न्यायालय/उच्च न्यायालय द्वारा नियमित प्रथम अपील का निपटारा किस प्रकार किया जाना है । सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 41 मूल डिक्रियों से उद्भूत होने वाली अपीलों के संबंध में है । विभिन्न नियमों में से, नियम 31 में यह आदिष्ट है कि अपील न्यायालय के निर्णय में यह कथन होगा :–

(क) अवधारणार्थ प्रश्न ;

(ख) उसके संबंध में विनिश्चय ;

(ग) विनिश्चय के लिए कारण ; और

(घ) जहां उस डिक्री को, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, उलटा जाता है या उसमें फेरफार किया जाता है वहां वह अनुतोष जिसके लिए अपीलार्थी हकदार है ।

4. अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को उलटने या अभिपुष्ट करने की अधिकारिता प्राप्त है । प्रथम अपील पक्षकारों का एक बहुमूल्य अधिकार है और जब तक विधि द्वारा निर्बंधित न हो, संपूर्ण मामले में तथ्य और विधि दोनों से संबंधित प्रश्नों पर पुनः सुनवाई की जा सकती है । इसलिए, अपील न्यायालय के निर्णय से उसकी सचेत विवेकबुद्धि का प्रयोग अवश्य ही प्रतिबिंबित होना चाहिए और पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत की गई और अपील न्यायालय के विनिश्चय के लिए जोर दी गई दलीलों सहित उद्भूत होने वाले सभी मुद्दों के संबंध में कारणों सहित निष्कर्ष अभिलिखित किए जाने चाहिए । प्रथम अपील न्यायालय के रूप में उच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपने निष्कर्ष अभिलिखित करने से पूर्व सभी मुद्दों पर और पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विचार करे ।

---

[1] (2010) 13 एस. सी. सी. 530.

प्रथम अपील एक बहुमूल्य अधिकार है और पक्षकारों को विधि और तथ्य, दोनों से संबंधित प्रश्नों के संबंध में सुने जाने का अधिकार प्राप्त है और प्रथम अपील के निर्णय में विधि और तथ्य संबंधी सभी मुद्दों पर विचार किया जाना चाहिए और निष्कर्षों के समर्थन में कारण देते हुए विनिश्चय किया जाना चाहिए । [देखिए – संतोष हजारी **बनाम** पुरुषोत्तम तिवारी (2001) 3 एस. सी. सी. 179, पृष्ठ 188, पैरा 15 और मधुकर **बनाम** संग्राम (2001) 4 एस. सी. सी. 756, पृष्ठ 758, पैरा 5] ।

5. उपर्युक्त उपयोगी सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, आक्षेपित निर्णय का परिशीलन करने के पश्चात्, हम यह महसूस करते हैं कि उच्च न्यायालय उस बाध्यता का निर्वहन करने में असफल रहा जो कि प्रथम अपील न्यायालय के रूप में उस पर डाली गई है । हमारी राय में, अपीलाधीन निर्णय अप्रकट है और किसी भी सुसंगत पहलू की अवेक्षा नहीं की गई है । इस अपील का विनिश्चय असमाधानप्रद रीति में किया गया है । नियमित प्रथम अपील के निर्णय का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने पर हमें यह दर्शित होता है कि इसमें उन विचारणाओं की कमी है जोकि प्रथम अपील न्यायालय से प्रत्याशित हैं । तद्नुसार, हम दोनों पक्षकारों के दावे के गुणागुण की परीक्षा किए बिना उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय और डिक्री को अपास्त करते हैं और नियमित प्रथम अपील को विधि के अनुसार नए सिरे से निपटारे के लिए उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करते हैं ।"

21. इस न्यायालय द्वारा ऊपर उल्लिखित मामलों का, **भारतीय स्टेट बैंक और एक अन्य** बनाम **एमसन्स इंटरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य**[1] और **भारत संघ** बनाम **के. वी. लक्ष्मण और अन्य**[2] वाले मामलों में इसी सिद्धांत को दोहराते समय अवलंब लिया गया था ।

22. पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हमारे पास इन अपीलों को मंजूर करने, आक्षेपित निर्णय को अपास्त करने और अपीलों का हमारी उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए, विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है ।

---

[1] (2011) 12 एस. सी. सी. 174.

[2] (2016) 13 एस. सी. सी. 124.

23. तथापि, हम यह स्पष्ट कर देते हैं कि हम उच्च न्यायालय को मामला प्रतिप्रेषित करने संबंधी राय बनाने के लिए इस संविवाद के गुणागुण के बारे में कोई मताभिव्यक्ति करने से विरत रहे हैं । अतः, उच्च न्यायालय इन अपीलों का विनिश्चय किसी भी मताभिव्यक्ति से प्रभावित हुए बिना, विधि के अनुसार करेगा । चूंकि ये अपीलें काफी पुरानी हैं इसलिए हम उच्च न्यायालय से यह अनुरोध करते हैं कि वह इन अपीलों का तुरंत निपटान सुनिश्चित करे ।

24. तद्नुसार, अपीलें मंजूर की जाती हैं । उपर्युक्त निदेशों के साथ आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

ग्रो.

[2018] 2 उम. नि. प. 48

बैंक ऑफ इंडिया

बनाम

यादव कंसल्टेंसी सर्विसेज़ (प्रा.) लिमिटेड और एक अन्य

5 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ और न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती

बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51) – धारा 25 – ऋण की वसूली – न्यायालय आयुक्त द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा सेवाओं के लिए संदाय करने की बाध्यता – चूंकि वसूली अधिकारी के आदेश द्वारा न्यायालय आयुक्त की सेवाएं नवम्बर, 2016 में समाप्त हो गईं थीं और वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील पर ऋण वसूली अधिकरण ने बैंक को नीलाम क्रेता से सुरक्षा प्रभार प्राप्त करने का निदेश दिया था तथा न्यायालय आयुक्त ने उस आदेश को चुनौती नहीं दी थी, इसलिए आयुक्त द्वारा सेवा समाप्त होने की तारीख के पश्चात् प्रदान की गई सेवाओं के लिए केवल नीलाम क्रेता ही संदाय करने का दायी होगा ।

बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 – धारा 5, 10 और 25 [सपठित सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास अधिनियम, 2006 (2006 का 27)] – ऋण की वसूली – 2006 के अधिनियम का लागू होना – सुरक्षा प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से करने संबंधी अधिकरण का आदेश अंतिम और बाध्यकारी – न्यायालय आयुक्त द्वारा ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण तथा उच्च न्यायालय के समक्ष मामले में कार्यवाही करने के पश्चात् सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् के समक्ष सुलह कार्यवाहियों का अवलंब लेना – चूंकि ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण में साधारण सिविल न्यायालय की शक्तियां निहित हैं इसलिए सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् के पास न्यायालय आयुक्त द्वारा फाइल किए गए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी ।

अपीलार्थी बैंक ने मैसर्स सोना एल्यूमिनियम फिनिशर्स (प्रा.) लिमिटेड नामक कंपनी के विरुद्ध ब्याज सहित 9.55 लाख रुपए की वसूली के लिए वाद फाइल किया । उक्त वाद डिक्री कर दिया गया था । चूंकि डिक्रीत रकम दस लाख रुपए से अधिक थी इसलिए बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 31-क को ध्यान में रखते हुए वसूली कार्यवाहियां वसूली अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण को अंतरित कर दी गईं थीं । संपत्ति की कुर्की के पश्चात्, संपत्ति को नीलाम कर दिया गया था । ऋण वसूली अधिकरण द्वारा नीलाम-क्रेता प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 के पक्ष में विक्रय प्रमाणपत्र जारी कर दिया गया था । चूंकि प्रमाणपत्र ऋणी (बंधककर्ता/प्रत्याभूतिकर्ता) के बारे में यह कहा गया था कि वे नीलाम क्रेताओं को कब्ज़े के परिदान के संबंध में बाधा उत्पन्न कर रहा था इसलिए वसूली अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण ने प्रत्यर्थी सं. 1 को "न्यायालय आयुक्त" के रूप में नियुक्त कर दिया । अपीलार्थी बैंक को प्रथम प्रत्यर्थी को सेवा प्रभारों का संदाय करने का निदेश दिया गया । प्रत्यर्थी सं. 1 ने संपत्ति को कब्ज़े में ले लिया । अपीलार्थी बैंक ने प्रथम प्रत्यर्थी को यह सूचित करते हुए एक पत्र भेजा कि उन्होंने न्यायालय आयुक्त को 8 मई, 2007 से उन्मोचित करने का विनिश्चय किया था और बैंक ने प्रत्यर्थी सं. 1 को 8 मई, 2007 तक के प्रभारों का संदाय भी कर दिया । तथापि, वसूली अधिकारी ने तारीख 12 जून, 2007 के अपने आदेश द्वारा अपीलार्थी बैंक को यह निदेश दिया कि प्रत्यर्थी सं. 1 को

प्रभारों का संदाय जारी रखा जाए, जिसे अपीलार्थी बैंक द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष चुनौती दी गई थी । ऋण वसूली अधिकरण ने वसूली अधिकारी के आदेश को अपास्त कर दिया और प्रथम प्रत्यर्थी को यह निदेश दिया कि वह 8 मई, 2007 से अपने प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से करने के लिए कदम उठाए । प्रत्यर्थी सं. 1 ने उस आदेश को चुनौती नहीं दी थी किन्तु नीलाम क्रेताओं को उसके प्रभारों का संदाय करने का निदेश देने की ईप्सा करने के लिए एक आवेदन फाइल किया था । केवल नीलाम क्रेताओं ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष चुनौती दी थी जिसमें प्रत्यर्थी सं. 1 प्रत्यर्थियों में से एक था । जब नीलाम क्रेताओं द्वारा फाइल की गई उक्त अपील ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष लंबित थी तब प्रथम प्रत्यर्थी ने एक रिट याचिका फाइल की, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय से उक्त अपील की शीघ्र सुनवाई करने और उसका यथाशीघ्र विनिश्चय करने की ईप्सा की गई थी । तद्नुसार, 2008 की उक्त अपील को व्यतिक्रम के आधार पर खारिज कर दिया गया था । प्रथम प्रत्यर्थी ने ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण और उच्च न्यायालय के समक्ष मामले को इस प्रकार अग्रसर करने के पश्चात्, तारीख 30 मई, 2012 के आदेश को चुनौती देने की बजाय सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास (एम. एस. एम. ई. डी.) अधिनियम, 2006 के अधीन सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् (एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद्), पुणे के समक्ष माध्यस्थम् की ईप्सा की । एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् ने एक एकपक्षीय अधिनिर्णय पारित किया जिसके द्वारा अपीलार्थी बैंक को अधिनिर्णय की तारीख से एक मास की अवधि के भीतर प्रत्यर्थी सं. 1 को 24 प्रतिशत की दर पर ब्याज सहित 1,62,82,079/- रुपए की राशि का संदाय करने का निदेश दिया गया । एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा पारित अधिनिर्णय से उद्भूत होने वाली आनुषंगिक कार्यवाहियों में, अपीलार्थी बैंक द्वारा फाइल की गई रिट याचिका में तारीख 19 मार्च, 2013 के आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने मुम्बई उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास एक सप्ताह के भीतर संपूर्ण डिक्रीत रकम, अर्थात्, 1,93,22,590/- रुपए जमा करने के अधीन रहते हुए जिला न्यायाधीश के उस आदेश पर रोक लगा दी जोकि 2012 के डी. के. टी. सं. 1741 में पारित किया गया था और अपीलार्थी बैंक ने उक्त रकम जमा करा दी थी । अपीलार्थी बैंक द्वारा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 34

के अधीन फाइल की गई अपील जिला न्यायाधीश द्वारा खारिज कर दी गई थी । अपीलार्थी बैंक द्वारा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 37 के अधीन फाइल की गई अगली अपील उच्च न्यायालय द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ विभिन्न आधारों पर खारिज कर दी गई थीं । अपीलार्थी बैंक ने इससे व्यथित होकर यह अपील फाइल की है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस अपील में विचारणार्थ मुद्दे ये हैं – (i) जब प्रभारों का संदाय करने संबंधी अपीलार्थी बैंक की बाध्यता 30 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गई थी, जब प्रश्नगत संपत्ति का भौतिक कब्ज़ा नीलाम क्रेताओं को सौंप दिया गया था और जब ऋण वसूली अपील अधिकरण, पुणे के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश ने अंतिमता प्राप्त कर ली थी, तब क्या प्रथम प्रत्यर्थी अपीलार्थी बैंक से सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का दावा कर सकता है ? (ii) क्या उच्च न्यायालय का यह कहना सही था कि ऋण वसूली अधिकरण को अपील ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी और तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा ? (iii) जब प्रथम प्रत्यर्थी को 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष वाली कार्यवाहियों में वसूली अधिकारी के आदेश के माध्यम से न्यायालय आयुक्त के रूप में नियुक्त किया था और जब पक्षकार ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण और उच्च न्यायालय के समक्ष भी मामले को जोरदार रूप से अग्रसर कर रहे थे तब क्या प्रथम प्रत्यर्थी का सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता (एम. एस. एम. ई. डी. एफ.) परिषद्, पुणे में समावेदन करना सही था ; और (iv) क्या सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् (एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद्), पुणे द्वारा पारित, जिला न्यायालय द्वारा तथा उच्च न्यायालय द्वारा भी अभिपुष्ट अधिनिर्णय कायम रखे जाने योग्य है ? (पैरा 6)

वसूली अधिकारी के तारीख 25 मार्च, 2009 के आदेश से यह स्पष्ट होता है कि प्रथम प्रत्यर्थी की सेवाओं का जारी रहना केवल नीलाम क्रेताओं की ओर से था और यह कि केवल नीलाम क्रेता ही प्रथम प्रत्यर्थी को सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का संदाय करने के लिए बाध्य थे । वसूली अधिकारी के उपर्युक्त आदेश से यह स्पष्ट होता है कि नीलाम की गई संपत्ति की सुरक्षा के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 का बने रहना एकमात्र रूप से नीलाम क्रेताओं की ओर से था और प्रथम प्रत्यर्थी का "न्यायालय आयुक्त" के रूप में कर्तव्य 13 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गया था । तारीख 13

नवम्बर, 2006 के पश्चात् या कम से कम 24 जुलाई, 2008 (ऋण वसूली अधिकरण के आदेश) के पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 1 की सेवाओं के लिए, यदि नीलाम क्रेताओं द्वारा किसी सेवा का उपभोग किया गया था तो केवल नीलाम क्रेता ही प्रत्यर्थी सं. 1 को उक्त प्रभारों का संदाय करने के लिए दायी हैं । इसलिए, अपीलार्थी बैंक किसी भी दशा में, 24 जुलाई, 2008 के पश्चात् प्रथम प्रत्यर्थी को प्रभारों का संदाय करने के बाध्यताधीन नहीं था । उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश और वसूली अधिकारी के तारीख 25 मार्च, 2009 के आदेश को ध्यान में नहीं रखा । उच्च न्यायालय का यह कहना सही नहीं था कि ऋण वसूली अधिकरण को अपील ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी और इसलिए तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा । (पैरा 10)

उच्च न्यायालय ने इस बात को ध्यान में नहीं रखा कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को चुनौती नहीं दी थी ; और तारीख 24 जुलाई, 2008 के उक्त आदेश को उपमति प्रदान कर दी थी और उसके अनुसार कार्यवाही भी की थी । पश्चात्वर्ती कार्यवाहियों से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 और अन्य पक्षकारों ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को स्वीकार कर लिया था और उसके अनुसार कार्यवाही की थी । उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि ऋण वसूली अधिकरण को वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी, कायम नहीं रखा जा सकता है । (पैरा 11)

जब कार्यवाहियां ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण जैसे न्यायिककल्प प्राधिकारियों के समक्ष विधिपूर्वक चलाई जा रही थी, जिनके पास सिविल न्यायालय का साज-सामान था, तो एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् को प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी, विशेषकर तब जबकि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा पारित आदेशों को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्वीकार कर लिया गया था और उसके अनुसार कार्य भी किया गया था । उच्च न्यायालय ने एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् की अधिकारिता की कमी से संबंधित प्रश्न पर विचार नहीं किया था । ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने इस मामले में इस प्रकार कार्यवाही की मानो वह एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा पारित अधिनिर्णय से उद्भूत होने वाली एक नियमित अपील है जिसमें बैंक के संचालन के बारे में यह टिप्पणी की गई है कि उसने अधिनिर्णय को

चुनौती देते हुए मामले के संबंध में गंभीरतापूर्वक कार्यवाही नहीं की है । उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष और उच्च न्यायालय के समक्ष पूर्ववर्ती कार्यवाहियों पर विचार नहीं किया था सिवाय इसके कि उसने ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष कतिपय कार्यवाहियों के प्रतिनिर्देश मात्र किया था । उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण द्वारा पारित विभिन्न आदेशों पर और उन पक्षकारों के आचरण पर, जो ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष मामले पर जोरदार रूप से अग्रसर हो रहे थे, विचार नहीं किया था । उच्च न्यायालय ने इस बात को भी ध्यान में नहीं रखा कि पक्षकार ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी द्वारा पारित पूर्ववर्ती आदेशों द्वारा बाध्य थे जिसमें स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सुरक्षा सेवाओं मद्दे प्रभार केवल नीलाम क्रेताओं द्वारा संदेय हैं । अतः, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित आदेश गंभीर त्रुटि से ग्रस्त है और वह अपास्त किए जाने योग्य है । (पैरा 12 और 13)

उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 19 मार्च, 2013 के आदेश के अनुसरण में, अपीलार्थी बैंक द्वारा 1,93,22,590/- रुपए की रकम जमा करा दी गई थी । प्रत्यर्थी सं. 1 ने ऋण वसूली अधिकरण पुणे द्वारा पारित तारीख 30 मार्च, 2016 के आदेश द्वारा 1,22,00,000/- रुपए की रकम (1,00,00,000/- रुपए तथा प्रोद्‌भूत ब्याज) निकाल ली है । 93,22,590/- रुपए की शेष रकम जिला न्यायालय, पुणे में निक्षेप के रूप में जमा पड़ी है । इस न्यायालय ने तारीख 22 अप्रैल, 2016 के आदेश द्वारा उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेश के संबंध में अंतरिम रोक मंजूर कर दी है । तथापि, तारीख 24 अक्तूबर, 2016 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी सं. 1 को बैंक गारंटी प्रस्तुत करने पर 93,22,590/- रुपए की उक्त रकम में से 50 प्रतिशत रकम निकालने की अनुज्ञा दी गई थी । प्रथम प्रत्यर्थी ने 93,22,590/- रुपए के 50 प्रतिशत की उक्त रकम नहीं निकाली है क्योंकि वह बैंक गारंटी प्रस्तुत करने में असफल रहा है । इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को अपास्त कर दिया है और परिणामस्वरूप एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा पारित अधिनिर्णय भी अपास्त किया जाता है । अपीलार्थी बैंक प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा निकाली गई 1,22,00,000/- रुपए की रकम 24 जुलाई, 2008 तक देय संदायों को समायोजित करने के पश्चात् वसूल करने के लिए स्वतंत्र है । बैंक को 93,22,590/- रुपए की रकम, उस पर प्रोद्‌भूत ब्याज सहित निकालने की

अनुज्ञा दी जाती है । जहां तक प्रथम प्रत्यर्थी को 24 जुलाई, 2008 के पश्चात् संदेय सुरक्षा सेवाओं मद्दे प्रभारों का संबंध है, प्रथम प्रत्यर्थी को नीलाम क्रेता सं. 2 और 3 के विरुद्ध विधि के अनुसार कार्यवाही करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है । (पैरा 14 और 15)

सिविल अपीली अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 5150.

2014 के ए. आर. ए. सं. 15 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 19 नवम्बर, 2015 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री दुष्यंत ए. दवे, ज्येष्ठ अधिवक्ता, विपिन कुमार जय, विपुर जय, और (सुश्री) शैली दिनकर

प्रत्यर्थी की ओर से स्वयं

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती – यह अपील 2014 के ए. आर. ए. सं. 15 में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 19 नवम्बर, 2015 के उस निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा अपीलार्थी बैंक की अपील खारिज कर दी गई थी और जिला न्यायाधीश, पुणे के निर्णय और एम. एस. एम. ई. डी. एफ. द्वारा पारित उस अधिनिर्णय को पुष्ट कर दिया गया था जिसमें अपीलार्थी बैंक को यह निदेश दिया गया था कि वह प्रत्यर्थी सं. 1 को 24 प्रतिशत की दर से ब्याज सहित 1,62,82,079/- रुपए का संदाय करे और प्रत्यर्थी सं. 1 को 5,00,000/- रुपए के खर्चे का भी संदाय करे ।

2. इस मामले का इतिहास दो दशाब्दी पुराना है । वे संक्षिप्त तथ्य जिनके परिणामस्वरूप यह अपील फाइल की गई है, निम्नलिखित रूप में हैं – अपीलार्थी बैंक ने मैसर्स सोना एल्यूमिनियम फिनिशर्स (प्रा.) लिमिटेड नामक कंपनी के विरुद्ध ब्याज सहित 9.55 लाख रुपए की वसूली के लिए 1998 के विशेष वाद सं. 628 में वाद फाइल किया । उक्त वाद तारीख 30 जनवरी, 1999 को डिक्री कर दिया गया था । चूंकि डिक्रीत रकम दस लाख रुपए से अधिक थी इसलिए बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 31क को ध्यान में रखते हुए वसूली कार्यवाहियां वसूली अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण, पुणे को अंतरित कर दी गई थीं और उन्हें 2002 की वसूली कार्यवाहियां (आर. पी.) सं. 06 के

रूप में रजिस्ट्रीकृत किया गया था । संपत्ति की कुर्की के पश्चात्, संपत्ति को 8 मार्च, 2006 को नीलाम कर दिया गया था । ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 14 जुलाई, 2006 के आदेश द्वारा नीलाम-क्रेता प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 के पक्ष में विक्रय प्रमाणपत्र जारी कर दिया गया था । चूंकि प्रमाणपत्र ऋणी (बंधककर्ता/प्रत्याभूतिकर्ता) के बारे में यह कहा गया था कि वे नीलाम क्रेताओं को कब्ज़े के परिदान के संबंध में बाधा उत्पन्न कर रहे थे इसलिए वसूली अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण, पुणे ने तारीख 26 जुलाई, 2006 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी सं. 1 को "न्यायालय आयुक्त" के रूप में नियुक्त कर दिया । अपीलार्थी बैंक को प्रथम प्रत्यर्थी को सेवा प्रभारों का संदाय करने का निदेश दिया गया । प्रत्यर्थी सं. 1 ने 9 नवम्बर, 2006 को संपत्ति को कब्ज़े में ले लिया । नीलाम क्रेताओं ने तारीख 13 नवम्बर, 2006 को 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में एक आवेदन फाइल किया और ऋण वसूली अधिकरण, पुणे ने उसी तारीख, अर्थात् 13 नवम्बर, 2006 को प्रत्यर्थी सं. 1 को यह निदेश दिया कि वह प्रश्नगत संपत्ति का कब्ज़ा नीलाम क्रेताओं को सौंप दे ।

3. इसके बाद, अपीलार्थी बैंक और मैसर्स सोना एल्यूमिनियम फिनिशर्स (प्रा.) लिमिटेड-प्रमाणपत्र ऋणी के बीच विवाद हो गया और उसके संबंध में समझौता हो गया ; तथापि, वह समझौता, समझौते के निबंधनों और शर्तों के अननुपालन के कारण असफल हो गया । अपीलार्थी बैंक ने प्रथम प्रत्यर्थी को यह सूचित करते हुए तारीख 4 मई, 2007 का एक पत्र भेजा कि उन्होंने न्यायालय आयुक्त को 8 मई, 2007 से उन्मोचित करने का विनिश्चय किया था और बैंक ने प्रत्यर्थी सं. 1 को 8 मई, 2007 तक के प्रभारों का संदाय भी कर दिया । तथापि, वसूली अधिकारी ने तारीख 12 जून, 2007 के अपने आदेश द्वारा अपीलार्थी बैंक को यह निदेश दिया कि प्रत्यर्थी सं. 1 को प्रभारों का संदाय जारी रखा जाए, जिसे अपीलार्थी बैंक द्वारा पीठासीन अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण, पुणे के समक्ष 2007 की अपील सं. 25 फाइल करके चुनौती दी गई थी । ऋण वसूली अधिकरण ने, 2007 की अपील सं. 25 में, तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश द्वारा वसूली अधिकारी के आदेश को अपास्त कर दिया और प्रथम प्रत्यर्थी को यह निदेश दिया कि वह 8 मई, 2007 से अपने प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से करने के लिए कदम उठाए । यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को चुनौती नहीं दी थी किन्तु नीलाम क्रेताओं को उसके प्रभारों

का संदाय करने का निदेश देने की ईप्सा करने के लिए 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में 7 नवम्बर, 2008 को एक आवेदन फाइल किया था । केवल नीलाम क्रेताओं ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को ऋण वसूली अपील अधिकरण, मुम्बई के समक्ष 2008 की अपील सं. 589 में चुनौती दी थी जिसमें प्रत्यर्थी सं. 1 प्रत्यर्थियों में से एक था । जब नीलाम क्रेताओं द्वारा फाइल की गई उक्त अपील ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष लंबित थी तब प्रथम प्रत्यर्थी ने 2011 की रिट याचिका सं. 10259 फाइल की, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय से उक्त अपील की शीघ्र सुनवाई करने और उसका यथाशीघ्र विनिश्चय करने की ईप्सा की गई थी । उक्त रिट याचिका का निपटारा तारीख 16 जनवरी, 2012 के आदेश द्वारा कर दिया गया था, जिसके द्वारा ऋण वसूली अपील अधिकरण, मुम्बई को तीन मास की अवधि के भीतर अपील का विनिश्चय करने का निदेश दिया गया था और तद्नुसार, 2008 की उक्त अपील सं. 589 तारीख 30 मई, 2012 को व्यतिक्रम के आधार पर खारिज कर दी गई थी ।

4. प्रथम प्रत्यर्थी ने ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण और उच्च न्यायालय के समक्ष मामले को इस प्रकार अग्रसर करने के पश्चात्, तारीख 30 मई, 2012 के आदेश को चुनौती देने के बजाय सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास (एम. एस. एम. ई. डी.) अधिनियम, 2006 के अधीन सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् (एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद्), पुणे के समक्ष माध्यस्थम् की ईप्सा की । एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् ने 12 सितम्बर, 2012 को एक एकपक्षीय अधिनिर्णय पारित किया जिसके द्वारा अपीलार्थी बैंक को अधिनिर्णय की तारीख, अर्थात् 12 सितम्बर, 2012 से एक मास की अवधि के भीतर प्रत्यर्थी सं. 1 को 24 प्रतिशत की दर पर ब्याज सहित 1,62,82,079/- रुपए की राशि का संदाय करने का निदेश दिया गया । एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा पारित अधिनिर्णय से उद्भूत होने वाली आनुषंगिक कार्यवाहियों में, अपीलार्थी बैंक द्वारा फाइल की गई 2013 की रिट याचिका सं. 2877 में तारीख 19 मार्च, 2013 के आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने मुम्बई उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास एक सप्ताह के भीतर संपूर्ण डिक्रीत रकम, अर्थात्, 1,93,22,590/- रुपए जमा करने के अधीन रहते हुए जिला न्यायाधीश, पुणे के उस आदेश पर रोक लगा दी जो कि 2012 के डी. के. टी. सं. 1741 में पारित किया गया था

और अपीलार्थी बैंक ने उक्त रकम जमा करा दी थी । अपीलार्थी बैंक द्वारा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 34 के अधीन फाइल की गई अपील, जोकि 2013 का सिविल आवेदन सं. 352 था, जिला न्यायाधीश, पुणे द्वारा तारीख 16 जून, 2014 के आदेश द्वारा खारिज कर दी गई थी । अपीलार्थी बैंक द्वारा 2014 की माध्यस्थम् याचिका सं. 15 में माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 37 के अधीन फाइल की गई अगली अपील उच्च न्यायालय द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ विभिन्न आधारों पर खारिज कर दी गई थी – (i) ऋण वसूली अधिकरण को अपील ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं है और इसलिए तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा ; (ii) एम. एस. एम. ई. डी. अधिनियम सेवा प्रदाताओं को किए जाने वाले संदायों के विलंब से संबंधित विवाद पर कार्यवाही करने के लिए विशेष रूप से अधिनियमित किया गया था और एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् को विवाद का अधिनिर्णय करने की अधिकारिता थी ; और (iii) बैंक ने न्यायालय आयुक्त से प्रभारों का संदाय करने के पश्चात् कब्ज़ा लेने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की है किन्तु उसने केवल प्रभारों का संदाय करने से इनकार किया है और मुकदमेबाजी को लंबा खींचा है । अपीलार्थी बैंक ने इससे व्यथित होकर यह अपील फाइल की है ।

5. हमने अपीलार्थी बैंक की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री दुष्यंत दवे और श्री प्रकाश वामन राव यादव-प्रथम प्रत्यर्थी की, जो स्वयं उपसंजात हुए, विस्तारपूर्वक सुनवाई की है । हमने परस्पर-विरोधी दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है और आक्षेपित निर्णय और अभिलेख पर मौजूद सामग्री का परिशीलन किया है ।

6. परस्पर-विरोधी दलीलों पर विचार करने पर इस अपील में निम्नलिखित मुद्दे विचारणार्थ उद्‌भूत होते हैं :–

(i) जब प्रभारों का संदाय करने संबंधी अपीलार्थी बैंक की बाध्यता 30 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गई थी, जब प्रश्नगत संपत्ति का भौतिक कब्ज़ा नीलाम क्रेताओं को सौंप दिया गया था और जब ऋण वसूली अपील अधिकरण, पुणे के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश ने अंतिमता प्राप्त कर ली थी, तब क्या प्रथम प्रत्यर्थी अपीलार्थी बैंक से सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का दावा कर सकता है ?

(ii) क्या उच्च न्यायालय का यह कहना सही था कि ऋण वसूली अधिकरण को अपील ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी और तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा ?

(iii) जब प्रथम प्रत्यर्थी को 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष वाली कार्यवाहियों में वसूली अधिकारी के आदेश के माध्यम से न्यायालय आयुक्त के रूप में नियुक्त किया था और जब पक्षकार ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण और उच्च न्यायालय के समक्ष भी मामले को जोरदार रूप से अग्रसर कर रहे थे तब क्या प्रथम प्रत्यर्थी का सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता (एम. एस. एम. ई. डी. एफ.) परिषद्, पुणे में समावेदन करना सही था ; और

(iv) क्या सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास सुगमता परिषद् (एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद्), पुणे द्वारा पारित, जिला न्यायालय द्वारा तथा उच्च न्यायालय द्वारा भी अभिपुष्ट अधिनिर्णय कायम रखे जाने योग्य है ?

7. संपत्ति की नीलामी 8 मार्च, 2006 को की गई थी और नीलाम संपत्ति के विक्रय की पुष्टि 14 जुलाई, 2006 को की गई थी और नीलाम-क्रेताओं के पक्ष में विक्रय प्रमाणपत्र उसी तारीख को जारी कर दिया गया था । वसूली अधिकारी ने प्रथम प्रत्यर्थी को 26 जुलाई, 2006 को न्यायालय आयुक्त के रूप में नियुक्त किया और प्रथम प्रत्यर्थी की फीस का संदाय प्रमाणपत्र-धारक बैंक द्वारा सीधे किया जाना था । तारीख 13 नवम्बर, 2006 को, अपीलार्थी बैंक ने प्रश्नगत संपत्ति (पवित्र हॉल) का कब्ज़ा नीलाम-क्रेताओं को सौंपने की प्रार्थना करते हुए पुर्शी फाइल की और उसी तारीख, अर्थात् 13 नवम्बर, 2006 को, नीलाम क्रेताओं द्वारा फाइल किए गए आवेदन पर प्रश्नगत संपत्ति का कब्ज़ा नीलाम क्रेताओं को सौंप दिया गया था और उन्होंने कब्ज़े की अभिस्वीकृति भी जारी की है । उसी तारीख, अर्थात् 13 नवम्बर, 2006 को, नीलाम क्रेताओं की ओर से भी ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में पुर्शी फाइल की गई थी, जिसमें और जिसके द्वारा नीलाम क्रेताओं ने अपने कब्ज़े को संरक्षित करने के लिए यथापेक्षित सभी व्ययों का संदाय करने का वचन दिया । नीलाम क्रेताओं द्वारा फाइल की गई व्ययों की पुर्शी निम्नलिखित रूप में है :–

"व्ययों की पुर्शी

नीलाम क्रेता की ओर से पुर्शी निम्नलिखित रूप में है –

(क) यह कि नीलाम की गई संपत्ति, अर्थात् 'पवित्र हॉल' का क्रेता के रूप में कब्ज़ा लेने के समय से, अर्थात् 13 नवम्बर, 2006 से, नीलाम क्रेता ऐसे सभी व्ययों को वहन करेगा जो उनके कब्ज़े को संरक्षित करने के लिए अपेक्षित हों, जिसके अंतर्गत, यदि आवश्यक हो तो, सुरक्षा कार्मिकों को किए जाने वाले संदाय भी हैं । यह कि नीलाम क्रेता सभी अन्य व्यक्तियों को अपवर्जित करते हुए कब्ज़े को सुरक्षित करने के लिए दायी, जवाबदेह और कर्तव्यबद्ध होगा ।

(ख) अतः यह पुर्शी की गई ।"

8. अपीलार्थी बैंक ने प्रथम प्रत्यर्थी को उससे यह मांग करते हुए तारीख 4 मई, 2007 को संसूचना भेजी कि वह 30,866/- रुपए के अपने बिल का भुगतान कराए, जो कि "पवित्र हॉल" की सुरक्षा सेवाओं के लिए 8 मई, 2007 तक के प्रभार हैं । उक्त संसूचना में, बैंक ने यह स्पष्ट कर दिया था कि "......आपको (यादव कंसल्टेंसी) बैंक द्वारा कोई और संदाय नहीं किया जाएगा........."; तथापि, वसूली अधिकारी ने अपने तारीख 12 जून, 2007 के पत्र द्वारा अपीलार्थी बैंक को यह निदेश दिया कि वह प्रथम प्रत्यर्थी को सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का संदाय जारी रखे । अपीलार्थी बैंक ने वसूली अधिकारी के तारीख 12 जून, 2007 के उक्त आदेश को 2007 की अपील सं. 25 में ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष चुनौती दी । ऋण वसूली अधिकरण ने वसूली अधिकारी के उक्त आदेश को अपास्त कर दिया और वसूली अधिकारी को 8 मई, 2007 से न्यायालय आयुक्त के प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से करने का निदेश दिया । हम ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के उक्त आदेश के प्रति उपयोगी रूप से निर्देश कर सकते हैं, जो कि निम्नलिखित रूप में है :–

" ..... न्यायालय आयुक्त की नियुक्ति वसूली अधिकारी के कहने पर की गई थी और वसूली अधिकारी ने प्रभारों का संदाय करने के लिए अपीलार्थी को बाध्य बनाकर गलत किया है । वर्तमान कार्यवाही में न्यायालय आयुक्त को नुकसान नहीं होना चाहिए और इसलिए वसूली अधिकारी को यह निदेश दिया जाता है कि 8 मई, 2007 से उसके उन्मोचित होने तक न्यायालय आयुक्त के प्रभारों की वसूली नीलाम क्रेताओं से की जाए ......।"

9. प्रथम प्रत्यर्थी ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को चुनौती नहीं दी है बल्कि ऋण वसूली अधिकरण, पुणे के समक्ष तारीख 7 नवम्बर, 2008 को नीलाम क्रेताओं को यह निदेश देने की ईप्सा करते हुए आवेदन भी फाइल किया कि वह प्रथम प्रत्यर्थी को न्यायालय आयुक्त के प्रभारों का संदाय करे । प्रथम प्रत्यर्थी ने भी अपीलार्थी बैंक और नीलाम क्रेताओं के विरुद्ध अवमान याचिका फाइल की थी । वसूली अधिकारी ने सभी पक्षकारों की सुनवाई की, जिसके अंतर्गत प्रणामपत्र ऋणी भी हैं, जिन्होंने नीलाम संपत्ति "पवित्र हॉल" के विक्रय को अपास्त करने की प्रार्थना की । बैंक ने अन्य बातों के साथ-साथ यह प्रार्थना की कि नीलाम क्रेताओं को यह निदेश दिया जाए कि वे न्यायालय आयुक्त के केवल 13 नवम्बर, 2006 तक के प्रभारों का संदाय करें और उस तारीख से न्यायालय आयुक्त को उन्मोचित कर दे । वसूली अधिकारी ने, सभी पक्षकारों के परस्पर-विरोधी दावों पर विचार करने के पश्चात् 2002 की वसूली कार्यवाही सं. 06 में तारीख 25 मार्च, 2009 के आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि नीलाम की गई संपत्ति की सुरक्षा करने के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 का बने रहना एकमात्र नीलाम क्रेताओं की ओर से था और "न्यायालय आयुक्त" के रूप में उसका कर्तव्य 13 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गया था ।

10. वसूली अधिकारी के तारीख 25 मार्च, 2009 के आदेश से यह स्पष्ट होता है कि प्रथम प्रत्यर्थी की सेवाओं का जारी रहना केवल नीलाम क्रेताओं की ओर से था और यह कि केवल नीलाम क्रेता ही प्रथम प्रत्यर्थी को सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का संदाय करने के लिए बाध्य थे । वसूली अधिकारी के आदेश का सुसंगत भाग निम्नलिखित रूप में है :–

> "8...... नीलाम क्रेताओं ने उक्त अभिकरण को उन्मोचित करने के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया है, इसलिए उन्होंने अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए और अपने प्रदर्श 225 को अग्रसर करते हुए उक्त अभिकरण की सेवाएं जारी रखने का विकल्प अपनाया है । अतः, यह अधिकरण प्रमाणपत्र धारक बैंक (सी. एच.) की इस प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं होगा कि उक्त अभिकरण को उन्मोचित कर दिया जाए क्योंकि ऐसा करने से नीलाम की गई संपत्ति के परिरक्षण और संरक्षण के मामले में नीलाम क्रेता के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने और उनके अधिकारों और विवेकाधिकार का अतिक्रमण होने की संभावना है क्योंकि प्रमाणपत्र

> धारक को 13 नवम्बर, 2006 से, अर्थात् जब से नीलाम क्रेताओं ने प्रदर्श 225 पर वचनबंध फाइल किया था, नीलाम की गई संपत्ति के परिरक्षण या संरक्षण की कोई चिन्ता नहीं है ।
>
> 9. ...... ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त अभिकरण की 'न्यायालय आयुक्त' के रूप में हैसियत 13 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गई थी क्योंकि इसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय आयुक्त नीलाम की गई संपत्ति की सुरक्षा नीलाम क्रेताओं की ओर से, उनकी प्राइवेट व्यवस्था को अग्रसर करते हुए, विशेष रूप से नीलाम क्रेता के प्रदर्श 225 को ध्यान में रखते हुए करता रहा । अतः, प्रमाणपत्र धारक द्वारा अपने आवेदन, प्रदर्श 308 में यथा प्रयुक्त 'न्यायालय आयुक्त' पद मिथ्या नाम है । ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त अभिकरण ने 13 नवम्बर, 2008 से नीलाम क्रेताओं को 'न्यायालय आयुक्त' के रूप में सेवाएं प्रदान नहीं की हैं बल्कि एक प्राइवेट अभिकरण के रूप में सेवाएं प्रदान की हैं........ । 2007 की प्रकीर्ण सिविल अपील सं. 25 में पारित माननीय पीठासीन अधिकारी का तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश, जिसके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि नीलाम क्रेताओं को अनुतोष प्रदान किया गया है, जिन्हें 8 मई, 2007 से न्यायालय आयुक्त के प्रभारों का संदाय करने का निदेश दिया गया है । इसलिए, मुझे उक्त पहलुओं की पुनः जांच करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे अंतिमता प्राप्त कर चुके हैं क्योंकि उपलब्ध अभिलेख और कागजपत्रों से यह प्रतीत होता है कि तारीख 24 जुलाई, 2008 के उक्त आदेश के विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की गई है ।...."

वसूली अधिकारी के उपर्युक्त आदेश से यह स्पष्ट होता है कि नीलाम की गई संपत्ति की सुरक्षा के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 का बने रहना एकमात्र रूप से नीलाम क्रेताओं की ओर से था और प्रथम प्रत्यर्थी का "न्यायालय आयुक्त" के रूप में कर्तव्य 13 नवम्बर, 2006 को समाप्त हो गया था । तारीख 13 नवम्बर, 2006 के पश्चात् या कम से कम 24 जुलाई, 2008 (ऋण वसूली अधिकरण के आदेश) के पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 1 की सेवाओं के लिए, यदि नीलाम क्रेताओं द्वारा किसी सेवा का उपभोग किया गया था तो केवल नीलाम क्रेता ही प्रत्यर्थी सं. 1 को उक्त प्रभारों का संदाय करने के लिए दायी हैं । इसलिए, अपीलार्थी बैंक किसी भी दशा में, 24 जुलाई, 2008 के पश्चात् प्रथम प्रत्यर्थी को प्रभारों का संदाय करने के बाध्यताधीन नहीं था ।

उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश और वसूली अधिकारी के तारीख 25 मार्च, 2009 के आदेश को ध्यान में नहीं रखा । उच्च न्यायालय का यह कहना सही नहीं था कि ऋण वसूली अधिकरण को अपील ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी और इसलिए तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा ।

11. वसूली अधिकारी के उपर्युक्त आदेश के पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 ने ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष 2009 का प्रकीर्ण आवेदन सं. 35 फाइल किया, जिसमें नीलाम क्रेताओं से, जैसा कि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश में निदेश दिया गया था, सुरक्षा सेवाओं के लिए प्रभारों का संदाय करने की ईप्सा की गई थी, जिससे स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि प्रथम प्रत्यर्थी ने ऋण वसूली अधिकरण के उक्त आदेश को स्वीकार कर लिया था और उस पर कार्यवाही भी की थी । यह उल्लेखनीय है कि वसूली अधिकारी की तारीख 25 मार्च, 2009 की कार्यवाहियां, जिनमें सभी पक्षकारों ने भाग लिया था, मुख्यतः ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश के आधार पर की गई थीं । किन्तु, प्रत्यर्थी सं. 1 ने आश्चर्यजनक रूप से उच्च न्यायालय के समक्ष यह निवेदन किया कि " ...... ऋण वसूली अधिकरण को वसूली अधिकारी के तारीख 12 जून, 2007 के आदेश के विरुद्ध 2007 की अपील सं. 25 को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी.... ।" प्रत्यर्थी सं. 1 के उक्त निवेदन को उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार कर लिया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि "......ऋण वसूली अधिकरण को 2007 की अपील सं. 25 को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी, उसके द्वारा पारित तारीख 24 जुलाई, 2008 का आदेश नास्ति तथ्य होगा और इसलिए इसे अवश्य ही अनदेखा किया जाना चाहिए ।" हमारे मतानुसार, उच्च न्यायालय ने इस बात को ध्यान में नहीं रखा कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को चुनौती नहीं दी थी ; और तारीख 24 जुलाई, 2008 के उक्त आदेश को उपमति प्रदान कर दी थी और उसके अनुसार कार्यवाही भी की थी । जैसा कि पहले चर्चा की गई है, पश्चात्‌वर्ती कार्यवाहियों से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 और अन्य पक्षकारों ने ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश को स्वीकार कर लिया था और उसके अनुसार कार्यवाही की थी । उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि ऋण वसूली अधिकरण को वसूली अधिकारी

के आदेश के विरुद्ध अपील को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी, कायम नहीं रखा जा सकता है ।

12. विचारणार्थ उत्पन्न होने वाला अगला प्रश्न यह है कि क्या इस मामले के तथ्यों के आधार पर, सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम विकास अधिनियम, 2006 लागू होगा । जैसी कि पहले चर्चा की गई है, कार्यवाहियां ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम, 1993 के अधीन की गई थी, जिसकी अंततः परिणति ऋण वसूली अधिकरण के तारीख 24 जुलाई, 2008 के आदेश में हुई और वह आदेश अंतिम और बाध्यकारी हो गया था और प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा उसे स्वीकार कर लिया गया था और उसके अनुसार कार्यवाही भी की गई थी । बैंकों और वित्तीय संस्थानों को देय ऋण वसूली अधिनियम की धारा 5 के अनुसार, ऋण वसूली अधिकरण की अध्यक्षता पीठासीन अधिकारी द्वारा की जाती है, जोकि जिला न्यायाधीश है या रहा है या उसके लिए अर्हित है । इसी प्रकार, उक्त अधिनियम की धारा 10 के अनुसार, अपील अधिकरण की अध्यक्षता अध्यक्ष द्वारा की जाती है , जोकि उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है या उसके लिए अर्हित है । ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण केवल न्यायालयों का साज-सामान नहीं रखते बल्कि उनमें साधारण सिविल न्यायालय की शक्तियां निहित होती हैं, जिसके अंतर्गत समन करने, साक्षियों की शपथ पर परीक्षा करने, दस्तावेज़ों का निरीक्षण करने का आदेश करने की शक्ति, आदि भी हैं । जब कार्यवाहियां ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण जैसे न्यायिककल्प प्राधिकारियों के समक्ष विधिपूर्वक चलाई जा रही थीं, जिनके पास सिविल न्यायालय का साज-सामान था, तो एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् को प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी, विशेषकर तब जबकि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा पारित आदेशों को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्वीकार कर लिया गया था और उसके अनुसार कार्य भी किया गया था । उच्च न्यायालय ने एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् की अधिकारिता की कमी से संबंधित प्रश्न पर विचार नहीं किया था ।

13. ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने इस मामले में इस प्रकार कार्यवाही की मानो वह एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा

पारित अधिनिर्णय से उद्भूत होने वाली एक नियमित अपील है जिसमें बैंक के संचालन के बारे में यह टिप्पणी की गई है कि उसने अधिनिर्णय को चुनौती देते हुए मामले के संबंध में गंभीरतापूर्वक कार्यवाही नहीं की है । उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण, ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष और उच्च न्यायालय के समक्ष पूर्ववर्ती कार्यवाहियों पर विचार नहीं किया था सिवाय इसके कि उसने ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष कतिपय कार्यवाहियों के प्रतिनिर्देश मात्र किया था । उच्च न्यायालय ने ऋण वसूली अधिकरण और ऋण वसूली अपील अधिकरण द्वारा पारित विभिन्न आदेशों पर और उन पक्षकारों के आचरण पर, जो ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष मामले पर जोरदार रूप से अग्रसर हो रहे थे, विचार नहीं किया था । उच्च न्यायालय ने इस बात को भी ध्यान में नहीं रखा कि पक्षकार ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी द्वारा पारित पूर्ववर्ती आदेशों द्वारा बाध्य थे जिसमें स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सुरक्षा सेवाओं मद्दे प्रभार केवल नीलाम क्रेताओं द्वारा संदेय हैं । अतः, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित आदेश गंभीर त्रुटि से ग्रस्त है और वह अपास्त किए जाने योग्य है ।

14. उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 19 मार्च, 2013 के आदेश के अनुसरण में, अपीलार्थी बैंक द्वारा 1,93,22,590/- रुपए की रकम जमा करा दी गई थी । प्रत्यर्थी सं. 1 ने ऋण वसूली अधिकरण पुणे द्वारा पारित तारीख 30 मार्च, 2016 के आदेश द्वारा 1,22,00,000/- रुपए की रकम (1,00,00,000/- रुपए तथा प्रोद्भूत ब्याज) निकाल ली है । 93,22,590/- रुपए की शेष रकम जिला न्यायालय, पुणे में निक्षेप के रूप में जमा पड़ी है । इस न्यायालय ने तारीख 22 अप्रैल, 2016 के आदेश द्वारा उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेश के संबंध में अंतरिम रोक मंजूर कर दी है । तथापि, तारीख 24 अक्तूबर, 2016 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी सं. 1 को बैंक गारंटी प्रस्तुत करने पर 93,22,590/- रुपए की उक्त रकम में से 50 प्रतिशत रकम निकालने की अनुज्ञा दी गई थी । प्रथम प्रत्यर्थी ने 93,22,590/- रुपए के 50 प्रतिशत की उक्त रकम नहीं निकाली है क्योंकि वह बैंक गारंटी प्रस्तुत करने में असफल रहा है । हमने उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को अपास्त कर दिया है और परिणामस्वरूप एम. एस. एम. ई. डी. एफ. परिषद् द्वारा पारित अधिनिर्णय भी अपास्त किया जाता है ।

15. आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है और यह अपील मंजूर की जाती है । अपीलार्थी बैंक प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा निकाली गई 1,22,00,000/- रुपए की रकम 24 जुलाई, 2008 तक देय संदायों को समायोजित करने के पश्चात् वसूल करने के लिए स्वतंत्र है । बैंक को 93,22,590/- रुपए की रकम, उस पर प्रोद्भूत ब्याज सहित निकालने की अनुज्ञा दी जाती है । जहां तक प्रथम प्रत्यर्थी को 24 जुलाई, 2008 के पश्चात् संदेय सुरक्षा सेवाओं मद्दे प्रभारों का संबंध है, प्रथम प्रत्यर्थी को नीलाम क्रेता सं. 2 और 3 के विरुद्ध विधि के अनुसार कार्यवाही करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपील मंजूर की जाती है ।

ग्रो.

[2018] 2 उम. नि. प. 65

बी. सुनीता

बनाम

तेलंगाना राज्य और एक अन्य

5 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल और न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) – धारा 138 और 139 – चैक का अनादरण – अधिवक्ता द्वारा मुकदमेबाजी की विषयवस्तु/मुकदमेबाजी में प्रत्याशित डिक्रीत रकम की प्रतिशतता के आधार पर फीस का दावा करना – चैक के धारक के पक्ष में उपधारणा – मुवक्किल चैक जारी करने मात्र से अधिवक्ता द्वारा दावाकृत फीस संबंधी दायित्व का विरोध करने से विवर्जित नहीं हो जाएगा और दायित्व के संबंध में विवाद किए जाने पर अधिवक्ता को स्वतंत्र रूप से संविदा साबित करनी होगी तथा आकस्मिक फीस संबंधी दावा किसी अधिवक्ता द्वारा परिवाद करने का आधार नहीं हो सकता क्योंकि आकस्मिक फीस संबंधी दावा एक वृत्तिक अवचार है और लोक नीति के विरुद्ध है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 39क – न्याय प्रशासन में विधिक वृत्ति

की भूमिका – अधिवक्ताओं के वृत्तिक मानदंड, आचार और कर्तव्य – वाणिज्यीकरण का तत्व बढ़ने और सेवा का तत्व कम होने की प्रवृत्ति – विधिक वृत्ति के कुछ सदस्यों की ओर से मुकदमेबाज का शोषण करने की सीमा तक वाणिज्यीकरण को और न्यायालय तथा मुकदमेबाज के प्रति उनके वृत्तिक कर्तव्यों के भंग को नियंत्रित करने की आवश्यकता है ।

प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी के पति की एक मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गई । उसने अपने बालकों और मृतक के माता-पिता के साथ मिलकर एक अधिवक्ता के रूप में प्रत्यर्थी के माध्यम से मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष एक दावा फाइल किया । मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण ने प्रतिकर अधिनिर्णीत किया । अपीलार्थी ने भिन्न-भिन्न तारीखों को फीस मद्दे 10 लाख रुपए की राशि का संदाय किया । तथापि, प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को उसके यह कहने के बावजूद कि वह अधिक फीस का संदाय करने में असमर्थ है क्योंकि उसके खाते में कोई जमाराशि नहीं है, उसे 3 लाख रुपए के एक अन्य चैक पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया । प्रत्यर्थी ने बाद में एक ईमेल भेजा जिसमें उसने यह दावा किया कि उसकी फीस अपीलार्थी द्वारा प्राप्त रकम का 16 प्रतिशत होनी चाहिए । न्यायालय के समक्ष परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 के अधीन एक परिवाद फाइल किया गया था जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह कथन किया गया कि चूंकि वह चैक जो कि दायित्व के निर्वहन में जारी किया गया था, निधियों की कमी के कारण असंदत्त वापस आ गया है इसलिए अपीलार्थी ने ऐसा अपराध कारित किया है जिसके लिए वह दंड की दायी है । अपीलार्थी को न्यायालय द्वारा समन किया गया, जिसके विरुद्ध उसने यह कथन करते हुए उच्च न्यायालय में समावेदन किया कि विधिक रूप से कोई प्रवर्तनीय ऋण नहीं था क्योंकि दावाकृत फीस अत्यधिक थी और विधि के विरुद्ध थी । यह दावा अधिवक्ता फीस नियम और आचार के अतिक्रमण में था क्योंकि फीस की मांग अपीलार्थी को प्रतिकर के रूप में अधिनिर्णीत रकम के प्रतिशत के आधार पर नहीं की जा सकती थी । उसके हस्ताक्षर तब लिए गए थे जब वह दुखी थी । इस आवेदन का प्रत्यर्थी द्वारा यह निवेदन करते हुए विरोध किया गया था कि चूंकि अपीलार्थी वृत्तिक फीस का संदाय करने के लिए सहमत थी और उसने उसकी वृत्तिक सेवाएं ली हैं इसलिए वह फीस के लिए दावे का विरोध नहीं कर सकती थी । यह दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी ने अन्य ज्येष्ठ अधिवक्ताओं की सेवाएं भी ली थीं और उसने विभिन्न न्यायालयों में,

जिसमें उच्चतम न्यायालय भी है, उनकी सेवाओं के लिए बड़ी रकम का संदाय किया था । अपीलार्थी ने, दावे को अभिखंडित करने वाली अपनी प्रार्थना के समर्थन में, उच्च न्यायालय के समक्ष, अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी कि प्रत्यर्थी द्वारा दावा की गई फीस अधीनस्थ न्यायालय के लिए आन्ध्र प्रदेश अधिवक्ता फीस नियम, 2010 के विरुद्ध थी । यह भी दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी का दावा आचारों और लोक नीति के विरुद्ध था और संविदा अधिनियम की धारा 23 के प्रतिकूल था । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिवक्ता फीस नियम केवल मार्गदर्शन के लिए है और नियमों के अधीन नियत फीस से परे फीस का दावा करने के संबंध में कोई वर्जन नहीं है । प्रत्यर्थी का दावा यह था कि इस रकम में उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में एक अधिवक्ता को नियुक्त करने की उसकी फीस भी शामिल है । अतः, उच्च न्यायालय ने अभिखंडित करने संबंधी आवेदन को खारिज कर दिया । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – कोई चैक जारी करने मात्र से यह उपधारणा उद्भूत नहीं हो सकेगी कि चैक में अनुबंधित रकम फीस मद्दे संदेय थी । किसी स्वतंत्र साक्ष्य के अभाव में, चैक जारी किए जाने से किसी अधिवक्ता या मुवक्किल के संदर्भ में परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन वाद हेतुक उत्पन्न नहीं होता । मुवक्किल द्वारा चैक जारी किए जाने मात्र से वह दायित्व का विरोध करने के लिए विवर्जित नहीं हो सकता है । यदि दायित्व के संबंध में विवाद किया जाता है तो अधिवक्ता को स्वतंत्र रूप से संविदा साबित करनी होती है । मुकदमेबाज़ी में विषयवस्तु की प्रतिशतता पर आधारित दावा अधिनियम की धारा 138 के अधीन किसी परिवाद का आधार नहीं हो सकता है । (पैरा 12 और 18)

किसी मामले की सफलता के आधार पर सशर्त फीस से, जिससे वकील की विषयवस्तु में रुचि पैदा होती है, इस वृत्ति की प्रतिष्ठा कम होती है । इसे सदैव विधिक वृत्ति के लिए अयोग्य मानकर इसकी भर्त्सना की गई है । यदि किसी अधिवक्ता का मुकदमेबाज़ी की सफलता में हित है तो वह आचारों से विचलन कर सकेगा । (पैरा 14)

प्रत्यर्थी अधिवक्ता का दावा लोक नीति के विरुद्ध होने के कारण और वृत्तिक अवचार का एक कार्य होने के कारण, उसके द्वारा फाइल किए गए

परिवाद में की कार्यवाहियों के संबंध में यह अभिनिर्धारित किया जाना होगा कि उनसे विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग होता है और उन्हें अभिखंडित किया जाना चाहिए । चूंकि प्रत्यर्थी सं. 2 ने एक गंभीर वृत्तिक अवचार कारित किया है इसलिए उसे प्रतिकूल परिणामों से बचने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती थी जो कि उसे अपने वृत्तिक अवचार के लिए भुगतने होंगे । वृत्तिक अवचार के मुद्दे पर समुचित पीठ में कार्यवाही की जा सकती है । (पैरा 19 और 20)

निस्संदेह, विधिक वृत्ति न्याय परिदान प्रणाली का प्रमुख संघटक है और विधिसम्मत शासन को कायम रखने में उसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है । इस वृत्ति का महत्व न्याय सुलभ कराने में उसकी भूमिका और नागरिकों की उनके मूल और अन्य अधिकार सुनिश्चित करने में सहायता प्रदान करने के कारण है । क्या ऐसे विधिक वृत्तिकों की सहायता से न्याय की प्राप्ति की जा सकती है जो वृत्तिक आचार को कायम रखने में असफल रहते हैं । इस न्यायालय ने इससे पहले भी विधिक वृत्ति में गिरते वृत्तिक मानदंडों पर चिन्ता व्यक्त की है । इस न्यायालय ने इसमें वाणिज्यीकरण का तत्व बढ़ने और सेवा के तत्व की कमी आने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि विधिक वृत्ति में जनता का विश्वास, विधिक प्रणाली में जनता के विश्वास का अभिन्न अंग है । विधिक वृत्ति के कुछ सदस्यों की ओर से मुकदमेबाज़ों का शोषण करने की सीमा तक वाणिज्यीकरण और न्यायालय पर धौंस जमाने की सीमा तक कदाचार, न्यायालय और मुकदमेबाज़ के प्रति वृत्तिक कर्तव्यों के भंग को, जिससे मुकदमेबाज़ों के शीघ्र और सस्ता न्याय प्राप्त करने के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, नियंत्रित करने की आवश्यकता है । (पैरा 23)

भारत के विधि आयोग ने अपनी 131वीं रिपोर्ट, तारीख 31 अगस्त, 1988 में न्याय प्रशासन की प्रणाली को सुदृढ़ करने के लिए विधिक वृत्ति की भूमिका की परीक्षा की । न्याय प्रशासन को सुदृढ़ बनाने में विधिक वृत्ति की भूमिका अनुच्छेद 39क के अधिदेश के अनुरूप होनी चाहिए जिससे कि न्याय तक पहुंच के लिए समान अवसर सुनिश्चित किए जा सकें । विधिक वृत्ति को अपना लोक क्षेत्र विकसित करके अपनी सेवाएं जरूरतमंद लोगों तक उपलब्ध करानी चाहिएं । यह मत व्यक्त किया गया था कि चिकित्सा सेवाओं के लिए सार्वजनिक अस्पतालों की तरह ऐसे लोगों को, जो फीस का संदाय नहीं कर सकते, विधिक सेवाएं प्रदान करने में लोक क्षेत्र की

एक भूमिका होनी चाहिए । विधिक वृत्ति की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए वृत्ति के अपरिवर्तनीय न्यूनतम मानदंड बनाए रखना आवश्यक था । वृत्ति की सामाजिक लेखापरीक्षा के भाग के रूप में एक कार्यपद्धति तैयार करना अपेक्षित था जहां कि न्याय के उपभोक्ताओं को भूमिका दी जानी अपेक्षित थी। (पैरा 24 और 25)

यद्यपि 131वीं रिपोर्ट वर्ष 1988 में प्रस्तुत की गई थी तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि फीस को नियमित करने या अत्यधिक जरूरतमंद मुकदमेबाज़ों को किसी फीस के बिना या मानकीकृत फीस सहित लोक क्षेत्र की सेवाएं प्रदान करने के लिए कोई प्रभावी विधि अधिनियमित नहीं की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिक आचार के अतिक्रमण से निपटने के लिए प्रणाली को भी सुदृढ़ नहीं किया गया है । न्याय प्रशासन की सफलता काफी हद तक न्याय तक पहुंच के लिए अनुच्छेद 39क के अधीन अधिदेश के प्रकाश में विधिक वृत्ति के सफलतापूर्वक विनियमन पर निर्भर करती है । वर्तमान विनियमनकारी प्रणाली के कार्यकरण में कमी को इस न्यायालय द्वारा अनेक विनिश्चयों में स्वीकार किया गया है । न्यायालय और विधिज्ञ वर्ग के लिए अधिदेश यह है कि अन्याय के शिकार व्यक्तियों को शीघ्र और सस्ता न्याय उपलब्ध कराया जाए और उनके अधिकारों की संरक्षा की जाए । विधिक प्रणाली को अन्याय के शिकार व्यक्तियों की सेवा करते रहना चाहिए । आशा है कि सरकार में संबंधित प्राधिकारी, वृत्तिक आचार को नियंत्रित करने और विधिक सेवाओं की उपलभ्यता सुनिश्चित करने के लिए, जो कि संविधान के अनुच्छेद 39क के अधीन आदिष्ट न्याय तक पहुंच के लिए प्रमुख संघटक है, प्रभावी विनियमनकारी प्रणाली के लिए अपेक्षित विधायी परिवर्तन पुनःस्थापित करने संबंधी मुद्दे का संज्ञान लेंगे । (पैरा 28 और 31)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2016]	(2016) 8 एस. सी. सी. 335 : **महीपाल सिंह राणा, अधिवक्ता** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	28
[2011]	(2011) 6 एस. सी. सी. 86 : **ओ. पी. शर्मा** बनाम **पंजाब राज्य** ;	23
[2009]	(2009) 8 एस. सी. सी. 106 : **आर. के. आनन्द** बनाम **दिल्ली उच्च न्यायालय** ;	23

[2000]	(2000) 7 एस. सी. सी. 264 : **आर. डी. सक्सेना** बनाम **बलराम प्रसाद शर्मा** ;	10,23
[1995]	(1995) 3 एस. सी. सी. 619 : **संजीव दत्ता, उप-सचिव, सूचना और प्रसारण मंत्रालय वाला मामला** ;	23
[1993]	(1993) (सप्ली.) 3 एस. सी. सी. 256 : **ताहिल राम इसरदास सदारंगानी** बनाम **रामचन्द इसरदास सदारंगानी** ;	23
[1979]	(1979) 1 एस. सी. सी. 308 **वी. सी. रंगादुरई** बनाम **डी. गोपालन** ।	10,16

निर्दिष्ट निर्णय

[2004]	(2004) क्रिमिनल ला जर्नल 443 : **सी. मनोहर** बनाम **बी. आर. पूर्णिमा** ;	13
[1994]	(1994) 1 एस. सी. सी. 184 : **जे. एस. वासु** बनाम **पंजाब राज्य** ;	12
[1955]	[1955] 1 एस. सी. आर. 490 : **श्री जी, उच्चतम न्यायालय का एक ज्येष्ठ अधिवक्ता वाला मामला** ;	10,15
[1954]	ए. आई. आर. 1954 मुम्बई 478 : **मुम्बई उच्च न्यायालय** बनाम **के. एल. गाबा** ।	14

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 2068.

2015 के दांडिक आवेदन सं. 3526 में तेलंगाना राज्य और आन्ध्र प्रदेश राज्य के लिए हैदराबाद उच्च न्यायालय के तारीख 14 अक्तूबर, 2015 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री के. परमेश्वर और जी. शेषागिरी

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री राकेश कुमार खन्ना, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एस. उदय कुमार सागर,

मृत्युंजय सिंह, अज़ीम एच. लश्कर, सचिन दास, आदित्य आचार्य, (सुश्री) महिमा राठी, मोहित नाय और सी. एस. एन. मोहन राव

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल ने दिया ।

न्या. गोयल – यह अपील 2015 के दांडिक आवेदन सं. 3526 में हैदराबाद उच्च न्यायालय के तारीख 14 अक्तूबर, 2015 के आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी के विरुद्ध परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 138 के अधीन संस्थित कार्यवाहियों को अभिखंडित करने से इनकार कर दिया है ।

2. ये कार्यवाहियां प्रत्यर्थी द्वारा संस्थित की गई थीं, जो कि एक अधिवक्ता है, जिसके पक्ष में अपीलार्थी ने अभिकथित रूप से उसकी फीस मद्दे एक चैक निष्पादित किया था । वह चैक अनादृत हो गया । अपीलार्थी का पक्षकथन यह है कि अधिनियम की धारा 138 लागू नहीं होती है क्योंकि विधिक रूप से प्रवर्तनीय कोई ऋण नहीं था । चूंकि अपीलार्थी ने फीस मद्दे पहले ही 10 लाख रुपए की राशि का संदाय कर दिया था इसलिए अपीलार्थी से यह चैक पद का दुरुपयोग करके लिया गया था और यह संव्यवहार भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संविदा अधिनियम" कहा गया है) की धारा 23 के अधीन शून्य था । डिक्रीत रकम के प्रतिशत के आधार पर फीस का दावा अनैतिक है । यह निवेदन किया गया था कि चूंकि अपीलार्थी का मुवक्किल के रूप में एक वैश्वासिक संबंध था, इसलिए यह साबित करने का भार अधिवक्ता पर है कि फीस युक्तिसंगत थी और उसका संदाय करने के लिए स्वैच्छिक रूप से करार किया गया था । अधिवक्ता को अपनी वृत्तिक हैसियत का प्रयोग करके चैक पर मुवक्किल के हस्ताक्षर लेकर उसका शोषण करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता और प्रवर्तनीय ऋण की कोई उपधारणा उद्भूत नहीं होती है, विशेष रूप से तब जबकि कारबार के नियमित अनुक्रम में रखा गया कोई खाता प्रस्तुत नहीं किया गया था ।

3. अभिलेख पर के तथ्यों के प्रति संक्षेप में निर्देश किया जा सकता है । अपीलार्थी के पति की 30 जुलाई, 1998 को एक मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गई । उसने अपने बालकों और मृतक के माता-पिता के साथ

मिलकर एक अधिवक्ता के रूप में प्रत्यर्थी के माध्यम से मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष एक दावा फाइल किया । मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण ने प्रतिकर अधिनिर्णीत किया । अपीलार्थी ने भिन्न-भिन्न तारीखों को फीस मद्दे 10 लाख रुपए की राशि का संदाय किया । तथापि, प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को उसके यह कहने के बावजूद कि वह अधिक फीस का संदाय करने में असमर्थ है क्योंकि उसके खाते में कोई जमाराशि नहीं है, उसे 25 अक्तूबर, 2014 को 3 लाख रुपए के एक अन्य चैक पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया । प्रत्यर्थी ने तारीख 2 नवम्बर, 2014 को एक ईमेल भेजा जिसमें उसने यह दावा किया कि उसकी फीस अपीलार्थी द्वारा प्राप्त रकम का 16 प्रतिशत होनी चाहिए ।

4. न्यायालय के समक्ष अधिनियम की धारा 138 के अधीन तारीख 11 दिसम्बर, 2014 का परिवाद फाइल किया गया था जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह कथन किया गया कि चूंकि वह चैक जो कि दायित्व के निर्वहन में जारी किया गया था, निधियों की कमी के कारण असंदत्त वापस आ गया है इसलिए अपीलार्थी ने ऐसा अपराध कारित किया है जिसके लिए वह दंड की दायी है । अपीलार्थी को न्यायालय द्वारा समन किया गया, जिसके विरुद्ध उसने यह कथन करते हुए उच्च न्यायालय में समावेदन किया कि विधिक रूप से कोई प्रवर्तनीय ऋण नहीं था क्योंकि दावाकृत फीस अत्यधिक थी और विधि के विरुद्ध थी । यह दावा अधिवक्ता फीस नियम और आचार के अतिक्रमण में था क्योंकि फीस की मांग अपीलार्थी को प्रतिकर के रूप में अधिनिर्णीत रकम के प्रतिशत के आधार पर नहीं की जा सकती थी । उसके हस्ताक्षर तब लिए गए थे जब वह दुखी थी ।

5. इस आवेदन का प्रत्यर्थी द्वारा यह निवेदन करते हुए विरोध किया गया था कि चूंकि अपीलार्थी वृत्तिक फीस का संदाय करने के लिए सहमत थी और उसने उसकी वृत्तिक सेवाएं ली हैं इसलिए वह फीस के लिए दावे का विरोध नहीं कर सकती थी । यह दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी ने अन्य ज्येष्ठ अधिवक्ताओं की सेवाएं भी ली थीं और उसने विभिन्न न्यायालयों में, जिसमें उच्चतम न्यायालय भी है, उनकी सेवाओं के लिए बड़ी रकम का संदाय किया था ।

6. अपीलार्थी ने, दावे को अभिखंडित करने वाली अपनी प्रार्थना के समर्थन में, उच्च न्यायालय के समक्ष, अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी कि प्रत्यर्थी द्वारा दावा की गई फीस अधीनस्थ न्यायालय के लिए आन्ध्र प्रदेश अधिवक्ता फीस नियम, 2010 के विरुद्ध थी । यह भी दलील दी गई

थी कि प्रत्यर्थी का दावा आचारों और लोक नीति के विरुद्ध था और संविदा अधिनियम की धारा 23 के प्रतिकूल था ।

7. उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिवक्ता फीस नियम केवल मार्गदर्शन के लिए है और नियमों के अधीन नियत फीस से परे फीस का दावा करने के संबंध में कोई वर्जन नहीं है । प्रत्यर्थी का दावा यह था कि इस रकम में उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में एक अधिवक्ता को नियुक्त करने की उसकी फीस भी शामिल है । अतः, उच्च न्यायालय ने अभिखंडित करने संबंधी आवेदन को खारिज कर दिया ।

8. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की सुनवाई की है और अभिलेख का परिशीलन किया है ।

9. अपीलार्थी की ओर से दी गई मुख्य दलील यह है कि किसी अधिवक्ता द्वारा डिक्रीत रकम की प्रतिशतता के आधार पर फीस प्रभारित करना संविदा अधिनियम की धारा 23 के प्रतिकूल है चूंकि ऐसा करना वृत्तिक आचार और लोक नीति के विरुद्ध है, इसलिए अपीलार्थी द्वारा जारी किए गए चैक को अपीलार्थी द्वारा किसी दायित्व के निर्वहन में जारी किया गया नहीं माना जा सकता था । प्रत्यर्थी के पक्ष में ऐसी कोई उपधारणा उद्‌भूत नहीं हुई कि चैक विधिक रूप से प्रवर्तनीय ऋण का प्रतिनिधित्व करता था । ऐसी उपधारणा का, हर हालत में इस स्थापित विधि द्वारा खंडन होता है कि मुकदमेबाज़ी के परिणाम की प्रतिशतता पर आधारित अधिवक्ता फीस मद्दे दावा अवैध था । चैक पर हस्ताक्षर करना, अधिवक्ता और मुवक्किल के बीच वैश्वासिक संबंधों के शोषण के रूप में था ।

10. अपनी इस दलील के समर्थन में कि अत्यधिक फीस प्रभारित करना और धनराशि की गणना मुकदमेबाज़ी के परिणाम के प्रतिनिर्देश से करना, लोक नीति के विरुद्ध था, **श्री जी, उच्चतम न्यायालय का एक ज्येष्ठ अधिवक्ता वाले मामले**[1], **आर. डी. सक्सेना** बनाम **बलराम प्रसाद शर्मा**[2], **वी. सी. रंगादुरई** बनाम **डी. गोपालन**[3] वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णयों का अवलंब लिया गया है ।

11. प्रत्यर्थी सं. 2 परिवादी की ओर से विद्वान् काउंसेल ने आक्षेपित आदेश का समर्थन किया । उसने यह दलील दी कि चूंकि अपीलार्थी का

---

[1] [1955] 1 एस. सी. आर. 490.
[2] (2000) 7 एस. सी. सी. 264.
[3] (1979) 1 एस. सी. सी. 308.

चैक अनादृत हो गया था इसलिए कानूनी उपधारणा उसके पक्ष में उपलब्ध थी और अभिखंडित करने के लिए कोई आधार साबित नहीं किया था । परिवादी की वृत्तिक फीस मद्दे उसके दावे के संबंध में कोई विधिक वर्जन नहीं था । परिवादी के विद्वान् काउंसेल ने इस संबंध में कोई विवाद नहीं किया था कि 10 लाख रुपए की राशि पहले ही फीस मद्दे प्राप्त की जा चुकी है । फीस की मात्रा के बारे में कोई लिखित करार नहीं था और न ही कोई लेखा रखा गया था । उसने तारीख 2 नवम्बर, 2014 के ईमेल के बारे में भी कोई विवाद नहीं किया था, जिसमें फीस के दावे का आधार अपीलार्थी द्वारा प्राप्त डिक्रीत रकम का 16 प्रतिशत था ।

12. प्रथम प्रश्न, जिस पर विचार किए जाने की आवश्यकता है, यह है कि क्या फीस का अवधारण डिक्रीत रकम के प्रतिशत के प्रतिनिर्देश से किया जा सकता है । दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फीस का अवधारण एकपक्षीय हो सकता है और यदि मुवक्किल फीस की मात्रा के बारे में विवाद करता है तो क्या फीस की संविदा को साबित करने का भार अधिवक्ता पर होगा या मुवक्किल पर होगा । **जे. एस. वासु** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाला मामला देखिए । तीसरा प्रश्न यह है कि क्या वृत्तिक आचारों में फीस के मामले में शोषण का विनियमन अपेक्षित है ।

13. इनमें से एक प्रश्न पर **सी. मनोहर** बनाम **बी. आर. पूर्णिमा**[2] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय की एक न्यायपीठ के निर्णय द्वारा विचार किया गया था । न्यायमूर्ति आर. भानुमती ने (जैसे कि माननीय न्यायमूर्ति तब थे) यह अभिनिर्धारित किया कि कोई चैक जारी करने मात्र से यह उपधारणा उद्‌भूत नहीं हो सकेगी कि चैक में अनुबंधित रकम फीस मद्दे संदेय थी । किसी स्वतंत्र साक्ष्य के अभाव में, चैक जारी किए जाने से किसी अधिवक्ता या मुवक्किल के संदर्भ में अधिनियम की धारा 138 के अधीन वाद हेतुक उत्पन्न नहीं होता । इस संदर्भ में सुसंगत मताभिव्यक्तियां निम्नलिखित रूप में हैं :–

> "प्रस्तुत मामला विधिक वृत्ति की वर्तमान प्रवृत्ति का एक उदाहरण है । विधिक वृत्ति आवश्यक रूप से सेवोन्मुखी वृत्ति है । आज के वकीलों के पूर्वज एक प्रवक्ता से अधिक नहीं थे, जिन्होंने समाज के जरूरतमंद सदस्यों के मामलों को प्राधिकारियों के समक्ष

---

[1] (1994) 1 एस. सी. सी. 184.

[2] (2004) क्रिमिनल ला जर्नल 443.

रखकर उन्हें अपनी सेवाएं प्रदान कीं । उनकी सेवाएं प्राप्त या प्राप्त किए जाने वाले पारिश्रमिक को ध्यान में रखे बिना प्रदान की गई थीं । मुकदमेबाज़ी में बढ़ोतरी के कारण, विधिक वृत्ति पूर्णकालिक वृत्ति बन गई है । विधिक वृत्ति की प्रवृति में परिवर्तन आ गया है ..... यह वृत्ति अब लगभग व्यापार बन गई है । इसमें सेवोन्मुखता नहीं रही है ।

12. वकील और मुवक्किल के बीच भरोसे और विश्वास का संबंध है । मुवक्किल व्यक्तिगत कारणों से किसी वकील को नियुक्त करता है और वह उन्हीं कारणों से उसे छोड़ देने के लिए भी स्वतंत्र है । वकील और मुवक्किल के बीच के संबंध और इस वृत्ति की वर्तमान प्रवृत्ति पर विचार करते हुए, सावधानीपूर्वक यह देखना होगा कि क्या परिवादी ने यह साबित कर दिया है कि 43,600/- रुपए की देय रकम उसकी ओर से संदेय है ।

13. परक्राम्य लिखित अधिनियम की धारा 138 के अधीन शास्तिक उपबंधों को लागू करने के लिए कोई चैक अभियुक्त द्वारा किसी ऋण या अन्य देय दायित्व के पूर्णतः या भागतः उन्मोचन के लिए किसी बैंकर के पास उसके द्वारा रखे गए किसी खाते में एक अन्य व्यक्ति को उस खाते में से किसी धनराशि के संदाय के लिए अवश्य ही तैयार किया जाना चाहिए । इसका अभिप्रायः यह है कि चैक ऋण या अन्य दायित्व के पूर्णतः या भागतः उन्मोचन के लिए अवश्य ही जारी किया जाना चाहिए । किन्हीं अन्य कारणों से दिया गया चैक, जो कि किसी ऋण या अन्य दायित्व की तुष्टि के लिए नहीं है, भले ही वह असंदत्त वापस आ गया हो, शास्तिक परिणामों पर खरा नहीं उतरेगा ।

14. परिवादी का मामला यह है कि उसने अभियुक्त की ओर से 1992 की एम. सी. ओ. पी. सं. 2339 और 1993 की 246 में दावा याचिकाएं फाइल की हैं । दो सिविल मामले भी फाइल किए गए हैं । यह दर्शित करने के लिए कुछ भी नहीं है कि परिवादी/अधिवक्ता ने स्वयं स्टांप शुल्क का संदाय किया है और विधिक फीस का वहन किया है । परिवादी ने ऐसा कोई करार प्रस्तुत नहीं किया है जिससे यह दर्शित होता हो कि उसके और अभियुक्त के बीच क्या व्यवस्था थी, कितनी फीस संदेय है और क्या अभियुक्त ने अपने काउंसेल द्वारा स्वयं स्टांप शुल्क का संदाय करने के लिए करार किया था ।

किसी करार के अभाव में, प्रदर्श पी-1 चैक के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह किसी सारवान् ऋण या दायित्व के उन्मोचन के प्रयोजनार्थ जारी किया गया है । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने, न्यायालय के समक्ष इस बात पर जोर देते हुए कि वह परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 के अधीन उपधारणा बनाए, मैसर्स मोदी सीमेंट्स लिमिटेड **बनाम** कुचिल कुमार नंदी (1998) 3 एस. सी. सी. 249 वाले मामले का अवलंब लिया, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जब एक बार लेखीवाल द्वारा चैक जारी कर दिया जाता है तब परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 के अधीन एक उपधारणा अवश्य बननी चाहिए और मात्र इस कारण कि लेखीवाल ने उपरवाल (पाने वाले) को या बैंक को संदाय रोक देने की सूचना जारी कर दी है, वह सम्यक् अनुक्रम में किसी चैक के उपरवाल (पाने वाले) या धारक द्वारा अधिनियम की धारा 138 के अधीन किसी कार्रवाई से प्रविरत नहीं हो जाएगा । निस्संदेह, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 के अधीन यह उपधारणा की जाती है कि जब तक इसके प्रतिकूल साबित नहीं कर दिया जाता, चैक के धारक ने चैक को किसी ऋण या अन्य दायित्व के पूर्णतः या भागतः उन्मोचन के लिए प्राप्त किया है । किन्तु, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 में भी किसी ऋण या अन्य दायित्व के पूर्णतः या भागतः उन्मोचन के लिए इस प्रकार प्राप्त चैक के लिए ही विधिक उपधारणा का सृजन होता है । वर्तमान मामले में, परिवादी ने, जो कि एक व्यवसायरत अधिवक्ता है, यह साबित नहीं किया है कि अभियुक्त से, जिसने उसे मामले का संचालन करने के लिए अपने वकील के रूप में नियुक्त किया है, उसे ऋण की रकम संदेय थी । विचारण न्यायालय का यह निष्कर्ष कि कोई ऋण या विधिक रूप से प्रवर्तनीय दायित्व नहीं है, किसी त्रुटि से ग्रस्त नहीं है जिसके कारण इसमें हस्तक्षेप करना आवश्यक हो ।"

14. **मुम्बई उच्च न्यायालय** बनाम **के. एल. गाबा**[1] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी मामले की सफलता के आधार पर सशर्त फीस से, जिससे वकील की विषयवस्तु में रुचि पैदा होती है, इस वृत्ति की प्रतिष्ठा कम होती है । इसे सदैव विधिक वृत्ति के लिए अयोग्य मानकर इसकी भर्त्सना की गई है । यदि किसी

[1] ए. आई. आर. 1954 मुम्बई 478.

अधिवक्ता का मुकदमेबाज़ी की सफलता में हित है तो वह आचारों से विचलन कर सकेगा ।

15. **श्री जी : उच्चतम न्यायालय का एक ज्येष्ठ अधिवक्ता** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी अधिवक्ता का विषयवस्तु में एक अंश पर आधारित दावा वृत्तिक अवचार है ।

16. **वी. सी. रंगादुरई** बनाम **गोपालन** (उपरोक्त) वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि किसी वकील और उसके मुवक्किल के बीच संबंध अत्यधिक वैश्वासिक प्रकृति का होता है । अधिवक्ता भरोसे की हैसियत में होता है ।

17. वृत्तिक आचरण और शिष्टाचार मानक के खंड 2 के अध्याय 2 के भाग 6 का नियम 20 निम्नलिखित रूप में है :–

> "कोई अधिवक्ता मुकदमेबाज़ी के परिणामों पर समाश्रित किसी फीस के लिए अनुबंध नहीं करेगा या उसके आगमों को बांटने के लिए करार नहीं करेगा ।"

18. इस प्रकार, मुवक्किल द्वारा चैक जारी किए जाने मात्र से वह दायित्व का विरोध करने के लिए विवर्जित नहीं हो सकता है । यदि दायित्व के संबंध में विवाद किया जाता है तो अधिवक्ता को स्वतंत्र रूप से संविदा साबित करनी होती है । मुकदमेबाज़ी में विषयवस्तु की प्रतिशतता पर आधारित दावा अधिनियम की धारा 138 के अधीन किसी परिवाद का आधार नहीं हो सकता है ।

19. उपर्युक्त कारणों से, प्रत्यर्थी अधिवक्ता का दावा लोक नीति के विरुद्ध होने के कारण और वृत्तिक अवचार का एक कार्य होने के कारण. उसके द्वारा फाइल किए गए परिवाद में की कार्यवाहियों के संबंध में यह अभिनिर्धारित किया जाना होगा कि उनसे विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग होता है और उन्हें अभिखंडित किया जाना चाहिए ।

20. हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि सुनवाई पूरी होने के पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 2 के विद्वान् काउंसेल ने मामले में इस आशय का उल्लेख किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 परिवाद को वापस लेना चाहता है । इस आशय का एक ईमेल भी न्यायालय को सौंपा गया था । उसे अभिलेख में रखा गया है । तथापि, हमने इस प्रार्थना को अनुज्ञात नहीं किया था । चूंकि प्रत्यर्थी सं. 2 ने एक गंभीर वृत्तिक अवचार कारित किया है इसलिए उसे

प्रतिकूल परिणामों से बचने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती थी जो कि उसे अपने वृत्तिक अवचार के लिए भुगतने होंगे । वृत्तिक अवचार के मुद्दे पर समुचित पीठ में कार्यवाही की जा सकती है ।

21. इस प्रकार, जबकि अपीलार्थी के विरुद्ध कार्यवाहियां अभिखंडित हो जाएंगी किन्तु वृत्तिक अवचार के मुद्दे को समुचित पीठ में कार्यवाही करने के लिए छोड़ा जाता है ।

22. तथापि, प्रस्तुत व्यष्टिक मामले के अलावा, चूंकि एक सामान्य मुद्दा उजागर हुआ है, इसलिए विधिक वृत्ति और न्याय प्रशासन प्रणाली के बृहत्तर हित में इस न्यायालय द्वारा और आगे विचार किए जाने की आवश्यकता है ।

23. निस्संदेह, विधिक वृत्ति न्याय परिदान प्रणाली का प्रमुख संघटक है और विधिसम्मत शासन को कायम रखने में उसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है । इस वृत्ति का महत्व न्याय सुलभ कराने में उसकी भूमिका और नागरिकों की उनके मूल और अन्य अधिकार सुनिश्चित करने में सहायता प्रदान करने के कारण है । क्या ऐसे विधिक वृत्तिकों की सहायता से न्याय की प्राप्ति की जा सकती है जो वृत्तिक आचार को कायम रखने में असफल रहते हैं । इस न्यायालय ने इससे पहले भी विधिक वृत्ति में गिरते वृत्तिक मानदंडों पर चिन्ता व्यक्त की है । (**आर. के. आनन्द** बनाम **दिल्ली उच्च न्यायालय**[1], **संजीव दत्ता, उप-सचिव, सूचना और प्रसारण मंत्रालय**[2] वाले मामले देखिए) । **ताहिल राम इसरदास सदारंगानी** बनाम **रामचन्द इसरदास सदारंगानी**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने इसमें वाणिज्यीकरण का तत्व बढ़ने और सेवा के तत्व की कमी आने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है । **वी. सी. रंगादुरई** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि विधिक वृत्ति में जनता का विश्वास, विधिक प्रणाली में जनता के विश्वास का अभिन्न अंग है । विधिक वृत्ति के कुछ सदस्यों की ओर से मुकदमेबाज़ों का शोषण करने की सीमा तक वाणिज्यीकरण और न्यायालय पर धौंस जमाने की सीमा तक कदाचार, न्यायालय और मुकदमेबाज़ के प्रति वृत्तिक कर्तव्यों के भंग को, जिससे मुकदमेबाज़ों के शीघ्र और सस्ता न्याय प्राप्त करने के अधिकार पर प्रतिकूल

[1] (2009) 8 एस. सी. सी. 106.
[2] (1995) 3 एस. सी. सी. 619.
[3] (1993) (सप्ली.) 3 एस. सी. सी. 256.

प्रभाव पड़ता है, नियंत्रित करने की आवश्यकता है । यही मताभिव्यक्ति इस न्यायालय के विनिश्चयों में पहले भी की जा चुकी है । [**ओ. पी. शर्मा** बनाम **पंजाब राज्य**[1], **आर. डी. सक्सेना** बनाम **बलराम प्रसाद शर्मा** (उपर्युक्त)] वाले मामले देखिए ।

24. भारत के विधि आयोग ने अपनी 131वीं रिपोर्ट, तारीख 31 अगस्त, 1988 में न्याय प्रशासन की प्रणाली को सुदृढ़ करने के लिए विधिक वृत्ति की भूमिका की परीक्षा की । उसमें जिन मुद्दों पर विचार-विमर्श किया गया, उनमें निम्नलिखित शामिल थे :–

"(i) वृत्ति की स्थिति और जनता में उसकी छवि ;

(ii) संविधान के अधीन आशयित सामाजिक परिवर्तन की नीति के प्रति वृत्ति का दृष्टिकोण ;

(iii) विधिज्ञ परिषदों का कार्यकरण और अनुशासनिक अधिकारिता का प्रश्न ;

(iv) वकीलों की हड़ताल, उसकी विवक्षाएं और विवाद ;

(v) बार और राजनीतिज्ञों के बीच तथा बार और न्यायपालिका के बीच गुप्तवार्ता ;

(vi) वृत्ति के एकाधिकारी स्वरूप के संबंध में वृत्ति के सदस्यों द्वारा प्रभार्य फीस का विनियमन और मानकीकरण ।"

25. यह मत व्यक्त किया गया था कि वकीलों द्वारा बार-बार हड़ताल करने से बकाया मामलों में अतिवृद्धि हुई है जिसके कारण न्याय के उपभोक्ताओं को जोखिम में डाला गया है और इस प्रकार इसके परिणामस्वरूप न्याय प्रशासन की प्रणाली दुर्बल हुई है[2] । मुकदमेबाज़ी की बढ़ती लागत पर विचार करते समय यह मत व्यक्त किया गया था कि कुछ ज्येष्ठ अधिवक्ताओं द्वारा प्रभारित फीस अत्यधिक है । निगमित क्षेत्र प्रतिभावान वकीलों को उच्च लागत पर प्रतिधारित करने के लिए तैयार है । इस प्रकार संदाय एक संस्कृति के रूप में विकसित हो जाता है और नीचे तक चला जाता है[3] । न्याय प्रशासन को सुदृढ़ बनाने में विधिक वृत्ति की

---

[1] (2011) 6 एस. सी. सी. 86.

[2] पैरा 2.17

[3] पैरा 2.22,2.24

भूमिका अनुच्छेद 39क के अधिदेश के अनुरूप होनी चाहिए जिससे कि न्याय तक पहुंच के लिए समान अवसर सुनिश्चित किए जा सकें । विधिक वृत्ति को अपना लोक क्षेत्र विकसित करके अपनी सेवाएं जरूरतमंद लोगों तक उपलब्ध करानी चाहिएं । यह मत व्यक्त किया गया था कि चिकित्सा सेवाओं के लिए सार्वजनिक अस्पतालों की तरह ऐसे लोगों को, जो फीस का संदाय नहीं कर सकते, विधिक सेवाएं प्रदान करने में लोक क्षेत्र की एक भूमिका होनी चाहिए[1] । विधिक वृत्ति की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए वृत्ति के अपरिवर्तनीय न्यूनतम मानदंड बनाए रखना आवश्यक है[2] । वृत्ति की सामाजिक लेखापरीक्षा के भाग के रूप में एक कार्यपद्धति तैयार करना अपेक्षित था जहां कि न्याय के उपभोक्ताओं को भूमिका दी जानी अपेक्षित थी[3] ।

26. न्याय तक पहुंच के मार्ग में रुकावट के रूप में वकील की फीस के प्रतिनिर्देश करते हुए यह मत व्यक्त किया गया था कि संसद् का यह कर्तव्य है कि वह विधिक वृत्ति के सदस्यों द्वारा प्रदान की गई सेवाओं के लिए फीस विहित करे । फीस की निम्नतम और अधिकतम सीमा विहित करने के लिए पहला कदम उठाया जाना चाहिए[4] ।

27. न्याय प्रशासन को सुदृढ़ करने के लिए विधिक वृत्ति की भूमिका के संबंध में यह मत व्यक्त किया गया था कि विधिक वृत्ति के सदस्यों का विधि बनाने में विनिश्चयात्मक स्वर हो सकता है क्योंकि विधायी निकायों में उनका बहुत बड़ा समूह है[5] । वे पक्षकारों को परामर्श देकर विवादों को बनाए रखने की बजाय मुकदमेबाज़ी कम करने में योगदान कर सकेंगे और कार्यवाहियों में विलंब को कम करने में भी योगदान कर सकेंगे[6] । विवादों के समाधान की अनुकल्पी पद्धतियों को खोजा जाना चाहिए और उनमें एक पद्धति विचारण-पूर्व सुलहकारी कार्यवाहियां हो सकती हैं[7] । असुसंगत साक्षियों का लोप करके परीक्षित किए जाने वाले साक्षियों की संख्या को कम करके, अनावश्यक प्रश्नों को छोड़ते हुए प्रतिपरीक्षा की लंबाई को कम

---

[1] पैरा 3.30
[2] पैरा 3.4,3.8,3.25
[3] पैरा 3.31
[4] पैरा 3.28
[5] पैरा 3.6
[6] पैरा 3.11,3.13
[7] पैरा 3.21

करके[1] और स्थगनों से बचकर न्याय प्रशासन में सहायता प्रदान की जा सकती है ।

28. यद्यपि 131वीं रिपोर्ट वर्ष 1988 में प्रस्तुत की गई थी तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि फीस को नियमित करने या अत्यधिक जरूरतमंद मुकदमेबाज़ों को किसी फीस के बिना या मानकीकृत फीस सहित लोक क्षेत्र की सेवाएं प्रदान करने के लिए कोई प्रभावी विधि अधिनियमित नहीं की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिक आचार के अतिक्रमण से निपटने के लिए प्रणाली को भी सुदृढ़ नहीं किया गया है । न्याय प्रशासन की सफलता काफी हद तक न्याय तक पहुंच के लिए अनुच्छेद 39क के अधीन अधिदेश के प्रकाश में विधिक वृत्ति के सफलतापूर्वक विनियमन पर निर्भर करती है । वर्तमान विनियमनकारी प्रणाली के कार्यकरण में कमी को इस न्यायालय द्वारा अनेक विनिश्चयों में स्वीकार किया गया है । (**महीपाल सिंह राणा, अधिवक्ता** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाला मामला देखिए) । न्यायालय और विधिज्ञ वर्ग के लिए अधिदेश यह है कि अन्याय के शिकार व्यक्तियों को शीघ्र और सस्ता न्याय उपलब्ध कराया जाए और उनके अधिकारों की संरक्षा की जाए । विधिक प्रणाली को अन्याय के शिकार व्यक्तियों की सेवा करते रहना चाहिए ।

29. इस अधिदेश को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय ने विधि आयोग से यह अनुरोध किया कि विनियमनकारी प्रणाली पर पुनः विचार किया जाए और यह आशा व्यक्त की कि भारत सरकार विधि आयोग की सिफारिश पर विचार करेगी । आयोग ने अपनी 266वीं रिपोर्ट, तारीख 23 मार्च, 2017 में, जो कि **महीपाल सिंह राणा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रकाश में प्रस्तुत की गई थी, यह उल्लेख किया गया था कि विधिक वृत्ति के ऐसे सदस्यों का आचरण, जो आचारों का पालन नहीं करते, अधिक मामलों के लंबित होने का कारण है । लोक सेवा का तत्व सदैव सर्वोपरि रहना चाहिए । आयोग ने यह उल्लेख किया कि विभिन्न उच्च न्यायालयों की अधिकारिता में अन्यायोचित हड़तालों के आह्वान से कार्य दिवसों की काफी हानि हुई थी[3] । ऐसी विलंबकारी युक्तियों से, जिनके अंतर्गत अन्यायोचित आधारों पर स्थगन की ईप्सा करना भी है, मामलों के शीघ्र निपटान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

---

[1] पैरा 3.17

[2] (2016) 8 एस. सी. सी. 335.

[3] पैरा 6.3

आयोग ने अनुकूल आदेश प्राप्त करने के लिए न्यायालयों पर धौंस जमाने और न्याय प्रशासन में बाधा डालने की घटनाओं का भी उल्लेख किया[1] । विधि आयोग ने विधिक वृत्ति के कुछ सदस्यों के अवमानात्मक आचरण का भी उल्लेख किया[2] ।

30. इसके पश्चात्, विधि आयोग ने विधिक वृत्ति के विनियमनकारी ढांचे का पुनर्विलोकन करने के मुद्दे पर विचार किया । अन्य देशों में हुई प्रगति के प्रतिनिर्देश करते हुए, यह मत व्यक्त किया गया था कि विनियमनकारी प्रणाली का न केवल अनुशासन और अवचार के मामलों में बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी पुनर्विलोकन करने की अत्यधिक आवश्यकता है । यह सुझाव दिया गया था कि विधिज्ञ परिषद् के संविधान में परिवर्तन किया जाना अपेक्षित है जिसके लिए एक संशोधन विधेयक की भी सिफारिश की गई थी[3] ।

31. हमें आशा है कि सरकार में संबंधित प्राधिकारी, वृत्तिक आचार को नियंत्रित करने और विधिक सेवाओं की उपलभ्यता सुनिश्चित करने के लिए, जो कि संविधान के अनुच्छेद 39क के अधीन आदिष्ट न्याय तक पहुंच के लिए प्रमुख संघटक है, प्रभावी विनियमनकारी प्रणाली के लिए अपेक्षित विधायी परिवर्तन पुनःस्थापित करने संबंधी मुद्दे का संज्ञान लेंगे ।

32. तद्नुसार, अपील का निपटारा किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

---

[1] पैरा 8.7 से 8.12, 8.14 से 8.19

[2] अध्याय 9.

[3] पैरा 17.10

अशरफी

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य

8 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 450, 376(2)(छ) और 323 – गृह अतिचार और बलात्संग – अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य के साथ-साथ चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर दो निचले न्यायालयों द्वारा अभियुक्त के विरुद्ध दोषसिद्धि के निकाले गए समवर्ती निष्कर्षों में कोई अनौचित्य न होने के कारण उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश में हस्तक्षेप करना उचित नहीं होगा ।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (1989 का 12) (असंशोधित) – धारा 3(2)(v) [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 450, 376(2)(छ) और 323] – अनुसूचित जाति की स्त्री के साथ बलात्संग – दोषसिद्धि – असंशोधित अधिनियम की धारा 3(2)(v) में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति के साथ अपराध कारित करने में अभियुक्त के आशय पर जोर दिया गया है, इसलिए केवल इस कारण कि आहत अनुसूचित जाति समुदाय की है, उसके साथ अपराध कारित करने में अभियुक्त-अपीलार्थी के आशय को साबित करने वाले किसी साक्ष्य के अभाव में इस धारा के अधीन दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

मामले के तथ्य इस प्रकार हैं कि तारीख 8/9 दिसंबर, 1995 की मध्यवर्ती रात्रि में अपीलार्थी अशरफी और उदय भान नामक व्यक्ति ने फूला देवी (अभि. सा. 3) और बृज लाल (अभि. सा. 4) के मकान का बलपूर्वक दरवाजा खोला और अंदर घुसे तथा कथित रूप से फूला देवी के साथ बलात्संग किया । उसके पति बृज लाल को पिस्तौल की नोंक पर दूर रखा गया । शिकायतकर्ता बृज लाल द्वारा दर्ज की गई शिकायत के आधार पर अपीलार्थी और उदय भान नामक व्यक्ति के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 376/452/323/506 तथा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति अधिनियम की धारा 3(1)(xii) के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, अपीलार्थी और उक्त उदय भान के

विरुद्ध पूर्वोक्त अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया गया । विचारण न्यायालय द्वारा अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 450, 376(2)(छ), 323 और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (संक्षेप में अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम) की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया । अपीलार्थी ने विचारण न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील फाइल की । उच्च न्यायालय द्वारा विचारण न्यायालय के निर्णय की अभिपुष्टि की गई । अपीलार्थी ने व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा भागतः अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जहां तक भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 376(2)(छ) का संबंध है, दोनों निचले न्यायालयों ने अभि. सा. 3-फूला देवी और अभि. सा. 4-बृज लाल के साक्ष्य तथा चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर ये समवर्ती निष्कर्ष अभिलिखित किए हैं कि बलात्संग के आरोप को साबित किया गया है । यह न्यायालय दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित दस वर्ष के कारावास के दंडादेश में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं है । यह न्यायालय भारतीय दंड संहिता के अधीन अन्य अपराधों की बाबत भी अपीलार्थी की दोषसिद्धि और दंडादेश में कोई अनौचित्य नहीं पाता है । (पैरा 4)

अपीलार्थी को अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2) (v) के अधीन आजीवन कारावास से दंडादिष्ट किया गया है । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2) (v) का सार यह है कि भारतीय दंड संहिता के अधीन परिकल्पित दस वर्ष या उससे अधिक की अवधि के कारावास से दंडनीय कोई अपराध अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के किसी व्यक्ति या संपत्ति के विरुद्ध इस आधार पर किया जाना चाहिए कि "ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है या ऐसी संपत्ति ऐसे सदस्य की है ।" 2016 के संशोधन अधिनियम सं. 1 से पूर्व, अनु. जाति/अनु. जनजाति अधिनियम की धारा 3(2)(v) में प्रयुक्त शब्द हैं "......इस आधार पर कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है" । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) को अब 2016 के संशोधन अधिनियम सं. 1 के फलस्वरूप संशोधित किया गया है । इस संशोधन के द्वारा "..... इस आधार पर कि ऐसा व्यक्ति

अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है" शब्दों के स्थान पर "…….यह जानते हुए कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है," प्रतिस्थापित किए गए हैं । अतः, यदि तारीख 26 जनवरी, 2016 (अर्थात् वह दिन जिसको संशोधन प्रवृत्त हुआ) के पश्चात् भारतीय दंड संहिता के अधीन कोई ऐसा अपराध, जो दस वर्ष या उससे अधिक अवधि के कारावास से दंडनीय है, उस आहत पर कारित किया जाता है जो अनु. जाति/अनु. जनजाति समुदाय का है और अभियुक्त व्यक्ति को यह जानकारी है कि आहत अनु. जाति/अनु.जनजाति समुदाय का है, तब अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) लागू होती है । इस प्रकार, संशोधन के पश्चात् अभियुक्त को केवल इस बात की जानकारी होना कि वह व्यक्ति, जिस पर अपराध कारित किया जाता है, अनु. जाति/अनु.जनजाति समुदाय का है, अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन आरोप सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । प्रस्तुत मामले में, अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की असंशोधित धारा 3(2)(v) लागू होती है क्योंकि घटना 8/9 दिसम्बर, 1995 की रात्रि में घटी थी । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के असंशोधित उपबंधों से यह स्पष्ट है कि कानून में ऐसे किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिए क्योंकि वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति समुदाय से संबंध रखता है/रखती है, ऐसा अपराध कारित करने में अभियुक्त के आशय पर जोर दिया गया है । अभिलेख पर के साक्ष्य और सामग्री से यह दर्शित नहीं होता है कि अपीलार्थी ने आहत के साथ बलात्संग इस आधार पर किया था कि वह अनुसूचित जाति की है । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम केवल तब लागू किया जा सकता है यदि यह साबित हो जाता है कि बलात्संग इस आधार पर किया गया था कि अभि. सा. 3-फूला देवी अनुसूचित जाति समुदाय की है । केवल इस कारण कि अभि. सा. 3-फूला देवी अनुसूचित जाति समुदाय की है, उसके साथ अपराध कारित करने में अपीलार्थी के आशय को साबित करने वाले किसी साक्ष्य के अभाव में, अपीलार्थी की अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता है । (पैरा 6, 7 और 8)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2015 की दांडिक अपील सं.1182.

2007 की दांडिक अपील सं. 8270 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 29 जनवरी, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 134 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री विक्रांत सिंह ब्यास (न्याय-मित्र)

प्रत्यर्थी की ओर से —

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती – यह अपील 2007 की दांडिक अपील सं. 8270 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 29 जनवरी, 2013 के उस निर्णय से उद्भूत हुई है, जिसमें और जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अपीलार्थी पर अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि की है । विचारण न्यायालय ने तारीख 30 नवंबर, 2017 के अपने निर्णय द्वारा अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 450, 376(2)(छ), 323 और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (जिसे इसमें आगे संक्षेप में "अनु. जाति/अनु.जनजाति अत्याचार निवारण" अधिनियम कहा गया है) की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्ध किया । अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 376 (2)(छ) के अधीन दोषसिद्धि के लिए दस वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 8,000/- रुपए के जुर्माने, व्यतिक्रम खंड सहित, का दंडादेश दिया और अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्धि के लिए अपीलार्थी को आजीवन कारावास भोगने और 10,000/- रुपए के जुर्माने का, व्यतिक्रम खंड सहित, दंडादेश दिया । अपीलार्थी पर भारतीय दंड संहिता के अधीन अन्य अपराधों के लिए भी कारावास का दंडादेश अधिरोपित किया गया ।

2. अभियोजन का पक्षकथन यह है कि तारीख 8/9 दिसंबर, 1995 की मध्यवर्ती रात्रि में अपीलार्थी अशरफी और उदय भान ने अभिकथित रूप से अभि. सा. 3-फूला देवी और अभि. सा. 4-बृज लाल के मकान का बलपूर्वक दरवाजा खोला और अंदर घुसे तथा कथित रूप से अभि. सा. 3-फूला देवी के साथ बलात्संग किया । अभि. सा. 4-बृज लाल को पिस्तौल की नोंक पर दूर रखा गया । शोर मचाने पर पड़ोसी (अभि. सा.-1 रस्सु और अभि. सा.- 2 बाघरा) वहां आए और उन्हें देखकर अभियुक्त व्यक्ति इन साक्षियों को धमकी देते हुए वहां से भाग गए । शिकायतकर्ता

बृज लाल द्वारा दर्ज की गई शिकायत के आधार पर अपीलार्थी और उदय भान नामक व्यक्ति के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 376/452/323/506 तथा अनु. जाति/अन. जनजाति अधिनियम की धारा 3(1)(xii) के अधीन 1996 के अपराध मामला सं. 76 में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, अपीलार्थी और उक्त उदय भान के अधीन पूर्वोक्त अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया गया । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, विचारण न्यायालय द्वारा अपीलार्थी और उदय भान को विभिन्न अपराधों के लिए दोषसिद्ध किया गया । अपीलार्थी द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की गई अपील में उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी और उक्त उदय भान की दोषसिद्धि की अभिपुष्टि की ।

3. हमने अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् न्याय-मित्र को सुना । प्रत्यर्थी की ओर से कोई हाजिर नहीं हुआ । हमने आक्षेपित निर्णय और अभिलेख की सामग्री का सावधानीपूर्वक परिशीलन किया ।

4. जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 376(2)(छ) का संबंध है, दोनों निचले न्यायालयों ने अभि. सा. 3-फूला देवी और अभि. सा. 4-बृज लाल के साक्ष्य तथा चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर ये समवर्ती निष्कर्ष अभिलिखित किए हैं कि बलात्संग के आरोप को साबित किया गया है । हम इस दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित दस वर्ष के कारावास के दंडादेश में भी हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं है । हम भारतीय दंड संहिता के अधीन अन्य अपराधों की बाबत भी अपीलार्थी की दोषसिद्धि और दंडादेश में कोई अनौचित्य नहीं पाते हैं ।

5. अपीलार्थी को अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन आजीवन कारावास से दंडादिष्ट किया गया है । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) का सार यह है कि भारतीय दंड संहिता के अधीन परिकल्पित दस वर्ष या उससे अधिक की अवधि के कारावास से दंडनीय कोई अपराध अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के किसी व्यक्ति या संपत्ति के विरुद्ध इस आधार पर किया जाना चाहिए कि "ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है या ऐसी संपत्ति ऐसे सदस्य की है ।" 2016 के संशोधन अधिनियम से पूर्व, अनु. जाति/अनु. जनजाति अधिनियम की धारा 3(2)(v) में प्रयुक्त शब्द हैं "......इस आधार पर कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित का सदस्य है" ।

6. अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) को अब 2016 के संशोधन अधिनियम सं. 1 के फलस्वरूप संशोधित किया गया है । इस संशोधन के द्वारा "..... इस आधार पर कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है" शब्दों के स्थान पर ".......यह जानते हुए कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है," प्रतिस्थापित किए गए हैं । अतः, यदि तारीख 26 जनवरी, 2016 (अर्थात् वह दिन जिसको संशोधन प्रवृत्त हुआ) के पश्चात् भारतीय दंड संहिता के अधीन कोई ऐसा अपराध, जो दस वर्ष या उससे अधिक अवधि के कारावास से दंडनीय है, उस आहत पर कारित किया जाता है जो अनु. जाति/अनु. जनजाति समुदाय का है और अभियुक्त व्यक्ति को यह जानकारी है कि आहत अनु. जाति/अनु. जनजाति समुदाय का है, तब अनु. जाति/अनु.जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v)लागू होती है । इस प्रकार, संशोधन के पश्चात् अभियुक्त को केवल इस बात की जानकारी होना कि वह व्यक्ति, जिस पर अपराध कारित किया जाता है, अनु. जाति/अनु. जनजाति समुदाय का है, अनु. जाति/अनु.जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन आरोप सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है ।

7. प्रस्तुत मामले में, अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की असंशोधित धारा 3(2)(v) लागू होती है क्योंकि घटना 8/9 दिसम्बर, 1995 की रात्रि में घटी थी । अनु. जाति/अनु .जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के असंशोधित उपबंधों से यह स्पष्ट है कि कानून में ऐसे किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिए क्योंकि वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति समुदाय से संबंध रखता है/रखती है, ऐसा अपराध कारित करने में अभियुक्त के आशय पर जोर दिया गया है ।

8. अभिलेख पर के साक्ष्य और सामग्री से यह दर्शित नहीं होता है कि अपीलार्थी ने आहत के साथ बलात्संग इस आधार पर किया था कि वह अनुसूचित जाति की है । अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम केवल तब लागू किया जा सकता है यदि यह साबित हो जाता है कि बलात्संग इस आधार पर किया गया था कि अभि. सा. 3-फूला देवी अनुसूचित जाति समुदाय की है । केवल इस कारण कि अभि. सा. 3-फूला देवी अनुसूचित जाति समुदाय की है, उसके साथ अपराध कारित करने में अपीलार्थी के आशय को साबित करने वाले किसी साक्ष्य के अभाव में, अपीलार्थी की अनु. जाति/अनु. जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

9. परिणामतः, अपीलार्थी की अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 की धारा 3(2)(v) के अधीन दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित किए गए आजीवन कारावास के दंडादेश अपास्त किए जाते हैं और यह अपील भागतः मंजूर की जाती है ।

10. जहां तक अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 376(2)(छ) और अन्य अपराधों के अधीन दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश का संबंध है, उनकी पुष्टि की जाती है । क्योंकि अपीलार्थी ने पहले ही दस वर्ष से अधिक का कारावास भुगत लिया है; इसलिए अपीलार्थी को, यदि उसकी किसी अन्य मामले में आवश्यकता न हो, तुरंत रिहा किए जाने का आदेश किया जाता है ।

अपील भागतः मंजूर की गई ।

जस.

[2018] 2 उम. नि. प. 89

त्रिलोक सिंह चौहान

बनाम

राम लाल (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधिगण

11 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति अशोक भूषण और न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 और प्रांतीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम, 1887 की धारा 25] – अपील – पुनरीक्षण अधिकारिता – सारवान् विधिक त्रुटि – घोर अन्याय – उच्च न्यायालय अपनी पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय में तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकता है जब तक कि अभिलेख पर यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता है कि मामले में, सारवान् विधिक त्रुटि कारित हुई है या घोर अन्याय हुआ है ।

वर्तमान मामले में, अपीलार्थी, दुकान सं. 46, आदर्श ग्राम, चौहान मार्केट, यात्रा बस स्टेशन, ऋषिकेश का स्वामी है । प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में उक्त दुकान में वस्त्र विक्रय का कारबार कर रहा है । तारीख 7 सितम्बर, 2001 को एक नोटिस यह जारी किया गया था कि प्रत्यर्थी ने

दिसम्बर, 2000 से आज की तारीख तक उपर्युक्त उल्लिखित दुकान का किराया संदत्त नहीं कियां है । किराए की दर, 1500/- रुपए प्रतिमाह का दावा किया गया था । नोटिस में यह उल्लिखित था कि नोटिस की प्राप्ति से एक माह के भीतर ब्याज सहित संपूर्ण किराए का संदाय किया जाए, जिसमें असफल रहने पर किराएदारी समाप्त समझी जाएगी । 50/- रुपए प्रतिदिन की दर से क्षतिपूर्ति के रूप में विहित अवधि के पश्चात् दावा भी किया गया था । क्योंकि नोटिस का उत्तर नहीं दिया गया था, इसलिए, अपीलार्थी ने किराए के साथ प्रतिकर और खर्चे सहित किसी अन्य अनुतोष की वसूली के लिए प्रार्थना करते हुए अपर जिला न्यायाधीश के न्यायालय में 2001 की लघु वाद मामला सं. 32 फाइल की । प्रत्यर्थी द्वारा लिखित कथन फाइल किया गया जिसमें उसने किराए के रूप में 1500/- रुपए प्रतिमाह की दर से नियत होना इनकार किया । यह कथन किया गया कि किराए की दर मात्र 250/- रुपए प्रतिमाह है और वह अक्तूबर, 1994 से वस्त्र का कारबार कर रहा है । यह कथन किया गया कि वादी अगस्त, 2001 के माह के लिए किराया पहले ही प्राप्त कर चुका है किन्तु उसने इसके लिए कोई प्राप्ति जारी नहीं किया । अपीलार्थी ने सितम्बर, 2001 से किराया लेने से इनकार कर दिया था । प्रत्यर्थी ने मनी आर्डर के माध्यम से 250/- रुपए प्रतिमाह की दर से सितम्बर, 2001 से जनवरी, 2002 की अवधि के लिए कुल 1250/- रुपए को किराए के रूप में भेजा था जिसे लेने से उसने इनकार कर दिया गया । यह कथन करते हुए कि "इस रकम को वास्तविक रकम से कम होने के कारण स्वीकार करने से इनकार किया जाता है ।" प्रत्यर्थी ने यह अभिवाक् किया कि परिसर, 1972 की उ. प्र. अधिनियम सं. 13 के अधीन आते हैं । विचारण न्यायालय ने तारीख 13 मई, 2004 के आदेश द्वारा 10 विवाद्यक विरचित किए । अपीलार्थी द्वारा "यह जोड़ने की प्रार्थना करते हुए एक संशोधन आवेदन फाइल किया गया कि वादी को विवादित दुकान का कब्जा दिया जा सकता है उपर्युक्त दुकान से प्रत्यर्थी की बेदखली के पश्चात् जो वाद पत्र के अंत में उपाबंध संपत्ति सूची में कथित है । यद्यपि, विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 25 अप्रैल, 2007 को संशोधन आवेदन नामंजूर कर दिया था, किन्तु उच्च न्यायालय ने 3000/- रुपए के खर्चे का संदाय करने के अध्यधीन तारीख 5 अगस्त, 2008 के आदेश द्वारा संशोधन आवेदन मंजूर कर लिया था । उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी को संशोधित लिखित कथन फाइल करने के लिए तीन सप्ताह की अवधि भी मंजूर किया । प्रत्यर्थी द्वारा अतिरिक्त प्रति-कथन फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने तारीख 20 जनवरी, 2009 को एक अतिरिक्त विवाद्यक विरचित किया, जो निम्नलिखित है :– "1. क्या

वादी ने तारीख 7 सितम्बर, 2001 के अपने नोटिस में बेदखली का विरोध करने का त्यजन कर दिया है ? यदि हां, तो क्या वादी द्वारा जोड़ा गया अपेक्षित अनुतोष परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित है, जैसा कि अतिरिक्त प्रति-कथन में कहा गया है ।" पक्षकारों ने विचारण न्यायालय के समक्ष अपने साक्ष्यों जिनमें दस्तावेजी साक्ष्य सम्मिलित थे, को प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने पक्षकारों के साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् विवाद्यक सं. 1 को अपीलार्थी के पक्ष में यह विनिश्चित किया कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है । अन्य विवाद्यकों को भी अपीलार्थी के पक्ष में विनिश्चित किया, परिणामतः, विचारण न्यायालय ने अतिशेष रकम का संदाय करने के साथ ही 50/- रुपए प्रतिदिन के दर से क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्यर्थी-किराएदार के विरुद्ध बेदखली की डिक्री पारित किया । उपर्युक्त-उक्त निर्णय से व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । प्रत्यर्थी द्वारा पुनरीक्षण आवेदन प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम, 1887" कहा गया है) की धारा 25 के अधीन फाइल किया गया था, उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री को अपास्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि किराए की दर 250/- रुपए प्रतिमाह है, न कि 1500/- रुपए प्रतिमाह है । उच्च न्यायालय ने मकान मालिक के विरुद्ध यह भी मत व्यक्त किया कि मकान मालिक का हेतुक कब्जा वापस लेने और लाभ प्राप्त करने को सुनिश्चित करना था । इससे व्यथित होकर अपीलार्थी ने माननीय उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने विचारण न्यायालय द्वारा पृष्ठ सं. 88 और 89 पर निकाले गए निष्कर्षों को निर्दिष्ट किया है । यह विचारण न्यायालय द्वारा विवाद्यक सं. 1 पर विनिश्चय करते समय की गई चर्चाओं को निर्दिष्ट करने के लिए लाभदायक है, जिसमें यह विवाद्यक था कि क्या प्रत्यर्थी, वादी के विवादित दुकान में 1500/- रुपए प्रतिमाह की किराए के दर से किराएदार है ? विचारण न्यायालय द्वारा पृष्ठ सं. 88 से 90 पर की गई चर्चा इस प्रकार है :– "......उपर्युक्त कथन के समर्थन में, वादी ने कार्यपालक अधिकारी, नगर पालिका, ऋषिकेश द्वारा जारी वर्ष 2004-2009 की अवधि के लिए दस्तावेज सं. 96 जी. ए. के माध्यम से मूल्यांकन सूची प्रस्तुत की । यद्यपि, यह भी स्पष्टतः साबित कर दिया गया है कि उपर्युक्त विवादित संपत्ति का किराया 1500/- रुपए प्रतिमाह

मूल्यांकित है । प्रत्यर्थी ने उपर्युक्त तथ्य के विरोध में कोई दस्तावेजी साक्ष्य फाइल नहीं किया है, जिसे यह साबित हो सकता है कि उपर्युक्त विवादित दुकान का किराया 1500/- रुपए प्रतिमाह के स्थान पर 250/- रुपए प्रतिमाह मूल्यांकित है । उपर्युक्त साक्षियों के कथनों और अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्यों से यह स्पष्टतः साबित होता है कि प्रश्नगत संपत्ति के किराए के बारे में पक्षकारों के बीच न तो कोई लिखित करार किया गया है न ही किराया संदाय के विरुद्ध प्रत्यर्थी द्वारा कोई किराया प्राप्ति फाइल की गई है, यद्यपि दोनों पक्षकारों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वादी स्वयं ही किराया एकत्रित करने के लिए दुकान पर जाता था और प्रत्यर्थी दुकान पर ही अपने डायरी में इस किराया संदाय की प्रविष्टि करता था । प्रत्यर्थी को इस तथ्य को साबित करना चाहिए था कि उपर्युक्त प्रश्नगत दुकान का किराया 250/- रुपए प्रतिमाह मूल्यांकित था । प्रत्यर्थी को उपर्युक्त डायरी प्रस्तुत करना चाहिए जो एक महत्वपूर्ण दस्तावेज था और जो प्रत्यर्थी के कब्जे को दर्शित करता था और वादी के हस्ताक्षर भी इस डायरी में लिए गए थे, इसलिए, उपर्युक्त डायरी को प्रस्तुत नहीं करने के कारण साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 114 के अधीन प्रत्यर्थी के विरुद्ध प्रतिकूल उपधारणा की जाएगी । इस तथ्य को प्रत्यर्थी द्वारा साबित नहीं किया जा सका, इसलिए, उपर्युक्त तथ्यों का विश्लेषण करने के पश्चात्, मेरा यह मत है कि वादी के कथन और अविश्वास करने के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है जिसमें उसने 1500/- रुपए प्रतिमाह किराया होना मूल्यांकित किया गया था....." । विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्यों पर आधारित थे । कार्यपालक अधिकारी, नगर पालिका, ऋषिकेश द्वारा वर्ष 2004-2009 की अवधि के लिए दस्तावेज सं. 96 जी. ए. के माध्यम से मूल्यांकन सूची के प्रतिनिर्देश को भी उल्लिखित किया गया है । विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध यह भी प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला है कि उसने उस डायरी को प्रस्तुत नहीं किया है जो अपीलार्थी द्वारा किए गए किराया संदाय की प्रविष्टि की अभिस्वीकृति थी । उच्च न्यायालय के संपूर्ण चर्चा जैसा उपर्युक्त उद्धृत है, से उपर्युक्त दोनों कारकों के प्रतिनिर्देश नहीं होता है, जिसका भार यह है कि विचारण न्यायालय यह निष्कर्ष निकालने में कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है । इस प्रकार, हमारी यह स्पष्ट राय है कि उच्च न्यायालय ने किराए की दर के संबंध में, विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को अपास्त करने में त्रुटि कारित की है । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालते समय कि किराए की दर 1500/- रुपए

प्रतिमाह है, विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों को भी निर्दिष्ट नहीं किया है । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय का निर्णय कायम रखे जाने योग्य नहीं है । निवेदन, जिस पर प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा जोर दिया गया है, यह है कि विचारण न्यायालय ने उन अतिरिक्त विवाद्यकों का उल्लेख नहीं किया है जिन्हें संशोधन मंजूर करने के पश्चात् न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय द्वारा विरचित किए गए थे । अतिरिक्त विवाद्यक यह था कि क्या वादी ने तारीख 7 सितम्बर, 2001 के अपने बेदखली के नोटिस का विरोध करने का त्यजन कर दिया था और क्या वादी द्वारा जोड़े गए अनुतोष की प्रार्थना परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित थी । वादी द्वारा अभिलेख पर तारीख 7 सितम्बर, 2001 की नोटिस को उपाबंध पी-1 के रूप में प्रस्तुत किया गया है । नोटिस का अंतिम पैराग्राफ, तथ्यों और दावों का उल्लेख करने के पश्चात् इस प्रकार है :– "इसलिए, तद्द्वारा आप को यह नोटिस दिया जाता है कि आप को इस नोटिस की प्राप्ति की तारीख से एक माह की अवधि के भीतर ब्याज सहित 1500/- रुपए प्रतिमाह की दर से दिसम्बर, 2000 से आज के दिन तक मेरे मुवक्किल को संपूर्ण बकाए किराए का संदाय करना चाहिए और किराएदारी समाप्त की जाती है और उपर्युक्त विहित अवधि बीतने के पश्चात् समाप्त समझी जाएगी । आप उपर्युक्त परिसीमा अवधि बीतने के पश्चात् मेरे मुवक्किल को 50/- रुपए प्रतिदिन की दर से प्रतिकर संदाय करने के लिए भी दायी होंगे और सक्षम न्यायालय के समक्ष आपके विरुद्ध वाद फाइल किया जाएगा जिसके लिए आप सभी लागतों और खर्चों के लिए एकमात्र दायी होंगे । आप को 500/- रुपए नोटिस के खर्चों का भी संदाय करना चाहिए । तद्द्वारा, आप को यह सूचित किया जाता है कि इस नोटिस की प्रतिलिपि आगे की आवश्यकता के लिए हमारे कार्यालय में रखी गई है । इस नोटिस की द्वितीय प्रति यू. पी. सी. डाक के माध्यम से आपको अग्रेषित की जाती है ।" नोटिस में, स्पष्टतः एक माह की अवधि बीतने के पश्चात् किराएदारी समाप्त होना अनुध्यात था । यह उल्लेख करना सुसंगत है कि उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में अतिरिक्त विवाद्यकों के विनिश्चय नहीं करने के बारे में पुनरीक्षणकर्ताओं के तर्कों का उल्लेख किया है । उच्च न्यायालय ने पूर्वोक्त निवेदन को निम्नलिखित शब्दों में उल्लिखित किया है :– "पुनरीक्षणकर्ता के विद्वान् काउंसेल ने यह जोरदार तर्क दिया है कि अवधारण के लिए ऐसे जोड़े गए विवाद्यकों में से किसी भी विवाद्यक पर निचले न्यायालय द्वारा अपने निर्णय में विचार नहीं किया गया है, कम-से-कम उनमें से किसी के भी बारे में किसी निष्कर्षों में

...” । यद्यपि, उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त निवेदन को उल्लिखित किया है किन्तु उपर्युक्त दलील की परीक्षा करने में अथवा प्रत्यर्थी के पक्ष में कोई निष्कर्ष अभिलिखित करने में कोई कार्यवाही नहीं की है । विचारण न्यायालय ने निम्नलिखित प्रभाव के विवाद्यक सं. 9 पहले ही विरचित कर चुका था कि “क्या विवादित संपत्ति से प्रत्यर्थी को बेदखल करने के लिए वादी को कोई अधिकार है ? विवाद्यक का उत्तर वादी के पक्ष में दिया गया था । यद्यपि उपर्युक्त तर्क का उल्लेख उच्च न्यायालय द्वारा नहीं किया गया था, किन्तु चूंकि प्रत्यर्थी ने हमारे समक्ष तर्क उद्‌भूत किया है, इसलिए, उपर्युक्त उक्त तर्क पर विचार करना आवश्यक है । अतिरिक्त विवाद्यक, जैसा उपर्युक्त उल्लिखित है, यह है कि क्या तारीख 7 सितम्बर, 2001 की नोटिस द्वारा मकान मालिक ने बेदखल करने के अपने अधिकार का त्यजन कर दिया है । नोटिस के प्रकथनों से, जैसा उपर्युक्त उद्धृत है, यह स्पष्ट होता है कि किराएदारी समाप्त हो गई थी और मकान मालिक ने किराएदार की बेदखली अनुध्यात कर दी थी । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि बेदखली का त्यजन करने का प्रश्न उद्‌भूत नहीं होता है । बेदखली की प्रार्थना जिसे संशोधन द्वारा औपचारिक तौर पर जोड़ा गया था, को परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वाद को वर्ष 2001 में फाइल किया गया था । वादपत्र में यह स्पष्टतः अभिवाचित था कि नोटिस तामिल करने के बावजूद न तो अतिशेष किराए रकम का संदाय किया गया था न ही दुकान का कब्जा प्रत्यर्थी को दिया गया था, इसके पश्चात् ही किराएदारी समाप्त की गई थी । वादपत्र के पैरा 4 में निम्नलिखित कथित है :– “4. कि प्रत्यर्थी की किराएदारी को उपर्युक्त नोटिस के माध्यम से वादी द्वारा समाप्त कर दी गई थी किन्तु वादी का उपर्युक्त दुकान न तो खाली किया गया था न ही उसका कब्जा प्रत्यर्थी को सौंपा गया था । प्रत्यर्थी ने जानबूझकर इस नोटिस को प्राप्त नहीं किया था । उपर्युक्त नोटिस की तामिली की स्वीकृति से इनकार करना उपर्युक्त रजिस्ट्रीकृत डाक के लिफाफे पर अभिलिखित था । उपर्युक्त नोटिस का पालन नहीं करने के कारण, अतिशेष किराए का रकम संदाय नहीं करने के कारण और प्रत्यर्थी द्वारा वादी को दुकान का कब्जा नहीं सौंपने के कारण वाद फाइल किया जाना आवश्यक था, इसके पश्चात् ही किराएदारी समाप्त की गई थी । इस प्रकार, मकान मालिक ने किराएदारी की समाप्ति पर स्पष्टतः जोर दिया था और कब्जा नहीं सौंपने के कारण वाद हेतुक का भी उल्लेख किया था । इन परिस्थितियों में, हमारा यह मत है कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि या तो नोटिस या वाद में

बेदखली के अनुतोष का त्यजन किया गया था । बेदखली के पश्चात्, दुकान के कब्जे की ईप्सा करते हुए, वादपत्र में औपचारिक प्रार्थना पहले ही जोड़ी जा चुकी है, जिस संशोधन को उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 5 अगस्त, 2008 के निर्णय में मंजूर कर लिया गया था । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री को अपास्त करने में त्रुटि कारित की है । (पैरा 10, 11, 15, 16, 17, 18, 19 और 20)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2007]	(2007) 8 एस. सी. सी. 609 : **मुदरी लाल** बनाम **सुशीला रानी (श्रीमती) और अन्य ;**	14
[1963]	ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 698 : **हरि शंकर और अन्य** बनाम **राव गिरधारी लाल चौधरी** ।	13

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 20833.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री सुभ्रो सान्याल, कवलजीत सिंह भाटिया, कुमार राजीव, (सुश्री) जिज्ञासा तनवर, एम. पी. सोरावाला, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री मोहित पाल, गुरमीत सिंह, पुनीत के. जी. अनुग्रह, नीरज एक्का, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – यह अपील, उत्तराखंड उच्च न्यायालय द्वारा 2010 की सिविल पुनरीक्षण सं. 32 में पारित तारीख 26 अगस्त, 2014 के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण मंजूर कर लिया था और न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय द्वारा पारित आदेश को अपास्त करते हुए, प्रत्यर्थी-किराएदार की बेदखली के साथ ही किराए और क्षतिपूर्ति की वसूली का निर्देश दिया था । इस निर्णय से व्यथित होकर,

मकान मालिक ने यह अपील फाइल की है ।

2. मामले के संक्षिप्त तथ्यों का इस अपील का विनिश्चय करने के लिए उल्लेख किया जाना आवश्यक है :–

अपीलार्थी, दुकान सं. 46, आदर्श ग्राम, चौहान मार्केट, यात्रा बस स्टेशन, ऋषिकेश का स्वामी है । प्रत्यर्थी, किराएदार के रूप में उक्त दुकान में वस्त्र विक्रय का कारबार कर रहा है । तारीख 7 सितम्बर, 2001 को एक नोटिस यह जारी किया गया था कि प्रत्यर्थी ने दिसम्बर, 2000 से आज की तारीख तक उपर्युक्त उल्लिखित दुकान का किराया संदत्त नहीं किया है । किराए की दर, 1500/- रुपए प्रतिमाह का दावा किया गया था । नोटिस में यह उल्लिखित था कि नोटिस की प्राप्ति से एक माह के भीतर ब्याज सहित संपूर्ण किराए का संदाय किया जाए, जिसमें असफल रहने पर किराएदारी समाप्त समझी जाएगी । 50/- रुपए प्रतिदिन की दर से क्षतिपूर्ति के रूप में विहित अवधि के पश्चात् दावा भी किया गया था । क्योंकि नोटिस का उत्तर नहीं दिया गया था, इसलिए, अपीलार्थी ने किराए के साथ प्रतिकर और खर्चे सहित किसी अन्य अनुतोष की वसूली के लिए प्रार्थना करते हुए अपर जिला न्यायाधीश के न्यायालय में 2001 की लघु-वाद मामला सं. 32 फाइल की । प्रत्यर्थी द्वारा लिखित कथन फाइल किया गया जिसमें उसने किराए के रूप में 1500/- रुपए प्रतिमाह की दर से नियत होना इनकार किया । यह कथन किया गया कि किराए की दर मात्र 250/- रुपए प्रतिमाह है और वह अक्तूबर, 1994 से वस्त्र का कारबार कर रहा है । यह कथन किया गया कि वादी अगस्त, 2001 के माह के लिए किराया पहले ही प्राप्त कर चुका है किन्तु उसने इसके लिए कोई प्राप्ति जारी नहीं किया । अपीलार्थी ने सितम्बर, 2001 से किराया लेने से इनकार कर दिया था । प्रत्यर्थी ने मनी आर्डर के माध्यम से 250/- रुपए प्रतिमाह की दर से सितम्बर, 2001 से जनवरी, 2002 की अवधि के लिए कुल 1250/- रुपए को किराए के रूप में भेजा था जिसे लेने से उसने इनकार कर दिया । यह कथन करते हुए कि "इस रकम को वास्तविक रकम से कम होने के कारण स्वीकार करने से इनकार किया जाता है ।" प्रत्यर्थी ने यह अभिवाक् किया कि परिसर, 1972 की उ. प्र. अधिनियम सं. 13 के अधीन आते हैं । विचारण न्यायालय ने तारीख 13 मई, 2004 के आदेश द्वारा 10 विवाद्यक विरचित किए । अपीलार्थी द्वारा यह जोड़ने की प्रार्थना करते हुए एक संशोधन आवेदन फाइल किया गया कि वादी को विवादित दुकान का कब्जा दिया जा सकता है उपर्युक्त दुकान से प्रत्यर्थी की

बेदखली के पश्चात् जो वादपत्र के अंत में उपाबंध संपत्ति सूची में कथित है । यद्यपि, विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 25 अप्रैल, 2007 को संशोधन आवेदन नामंजूर कर दिया था, किन्तु उच्च न्यायालय ने 3000/- रुपए के खर्चे का संदाय करने के अध्यधीन तारीख 5 अगस्त, 2008 के आदेश द्वारा संशोधन आवेदन मंजूर कर लिया था ।

3. उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी को संशोधित लिखित कथन फाइल करने के लिए तीन सप्ताह की अवधि भी मंजूर की । प्रत्यर्थी द्वारा अतिरिक्त प्रति-कथन फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने तारीख 20 जनवरी, 2009 को एक अतिरिक्त विवाद्यक विरचित किया, जो निम्नलिखित है :–

> "1. क्या वादी ने तारीख 7 सितम्बर, 2001 के अपने नोटिस में बेदखली का विरोध करने का त्यजन कर दिया है ? यदि हां, तो क्या वादी द्वारा जोड़ा गया अपेक्षित अनुतोष परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित है, जैसा कि अतिरिक्त प्रति-कथन में कहा गया है ।"

4. पक्षकारों ने विचारण न्यायालय के समक्ष अपने साक्ष्यों जिनमें दस्तावेजी साक्ष्य सम्मिलित थे, को प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने पक्षकारों के साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् विवाद्यक सं. 1 को अपीलार्थी के पक्ष में यह विनिश्चित किया कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है । अन्य विवाद्यकों को भी अपीलार्थी के पक्ष में विनिश्चित किया, परिणामतः, विचारण न्यायालय ने अतिशेष रकम का संदाय करने के साथ ही 50/- रुपए प्रतिदिन के दर से क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्यर्थी-किराएदार के विरुद्ध बेदखली की डिक्री पारित किया ।

5. उपर्युक्त-उक्त निर्णय से व्यथित होकर, प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । प्रत्यर्थी द्वारा पुनरीक्षण आवेदन प्रांतीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम, 1887 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम, 1887" कहा गया है) की धारा 25 के अधीन फाइल किया गया था, उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री को अपास्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि किराए की दर 250/- रुपए प्रतिमाह है, न कि 1500/- रुपए प्रतिमाह है । उच्च न्यायालय ने मकान मालिक के विरुद्ध यह भी मत व्यक्त किया कि मकान मालिक का हेतुक कब्जा वापस लेने और लाभ प्राप्त करने को सुनिश्चित करना था ।

6. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया कि उच्च न्यायालय ने किराए की दर के बारे में तथ्य के निष्कर्ष को अपास्त करने में त्रुटि कारित की है, जिसे विचारण न्यायालय द्वारा 1500/- रुपए प्रतिमाह अभिनिर्धारित किया गया था, किन्तु उच्च न्यायालय द्वारा इसे उलटते हुए, यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह मात्र 250/- रुपए प्रतिमाह है । यह भी कथन किया गया कि किराएदार, 19 वर्षों से दुकान के कब्जे में है और यद्यपि मकान मालिक एक माह की नोटिस तामिल करने के पश्चात् किराएदारी समाप्त कर सकता था, तथापि, अपीलार्थी दुकान का कब्जा नहीं ले सकता था । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने अभिलेख पुस्तिका के पृष्ठ सं. 88 और 89 को निर्दिष्ट करते हुए यह निवेदन किया कि विचारण न्यायालय ने तर्कपूर्ण कारणों को देते हुए और सुसंगत साक्ष्यों पर विचार करते हुए, यह निष्कर्ष निकाला है कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा अपास्त कर दिया गया है ।

7. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल के निवेदनों का खंडन करते हुए, यह दलील दी है कि विचारण न्यायालय ने वाद डिक्री करते समय अतिरिक्त विवाद्यकों का उल्लेख नहीं किया है, जिन्हें विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 20 जनवरी, 2009 को विरचित किया गया था । उन्होंने यह निवेदन किया कि विचारण न्यायालय ने अतिरिक्त विवाद्यकों का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए, पुनरीक्षण न्यायालय ने सही ही विचारण न्यायालय के निर्णय और आदेश को अपास्त किया है और वाद को खारिज किया है ।

8. हमने दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल के निवेदनों पर विचार किया और अभिलेखों का परिशीलन किया ।

9. उच्च न्यायालय के निर्णय का आधार विचारण न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हुए, किराए की दर के बारे में निष्कर्षों को उलटना है । जैसा कि उपर्युक्त उल्लिखित है, वादी का पक्षकथन यह था कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है, जबकि किराएदार का पक्षकथन यह था कि किराए की दर 250/- रुपए प्रतिमाह था । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालने में कि किराए की दर 250/- रुपए प्रतिमाह है, निम्नलिखित कारणों को दिया है :–

> "मैंने, विचारण न्यायालय के आक्षेपित निर्णय का परिशीलन किया है और पुनरीक्षणकर्ता के विद्वान् काउंसेल द्वारा यथानिवेदित तर्कों में बल पाते हैं तथा मामले को वापस भेजने और पक्षकारों के

बीच इस अत्यधिक पुराने मुकदमे में और विलंब करने के बजाय, मेरा यह मत है कि तारीख 7 सितम्बर, 2001 की नोटिस जारी करने के समय पर किराएदार द्वारा मकान मालिक को कोई देय किराया बकाया नहीं था । इसी संबंध में, मकान मालिक के मौखिक परिसाक्ष्य को किराएदार के मौखिक परिसाक्ष्य द्वारा खंडन कर दिया गया, इस तथ्य को प्रकट करते हुए कि पट्टाधृत परिसर को 1,20,000/- रुपए की किस्त संदाय करने के साथ 250/- रुपए प्रतिमाह की दर पर किराए पर लिया गया था, जिसके लिए मकान मालिक द्वारा पुनरीक्षणकर्ता को कोई प्राप्ति जारी नहीं की गई थी । इस तथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती है कि ऐसे मामलों में यह प्रचलित संव्यवहार है कि मकान मालिक, किराएदार से एकमुश्त किस्त की रकम ले लेता है, जैसा कि वर्तमान मामले में लिया गया है । इस प्रकार के भारी भरकम किस्त की रकम लेने के पश्चात् किराए की दर उतना अधिक नहीं हो सकता है जितना कि इसे वर्ष 1994 में कहा गया है ।

मकान मालिक द्वारा अभिलेख पर ऐसा कोई अतिरिक्त विश्वसनीय परिसाक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है जिससे कि उसके अभिवचनों को बल मिलता हो ।"

10. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने विचारण न्यायालय द्वारा पृष्ठ सं. 88 और 89 पर निकाले गए निष्कर्षों को निर्दिष्ट किया है । यह विचारण न्यायालय द्वारा विवाद्यक सं. 1 पर विनिश्चय करते समय की गई चर्चाओं को निर्दिष्ट करने के लिए लाभदायक है, जिसमें यह विवाद्यक था कि क्या प्रत्यर्थी, वादी के विवादित दुकान में 1,500/- रुपए प्रतिमाह की किराए के दर से किराएदार है ? विचारण न्यायालय द्वारा पृष्ठ सं. 88 से 90 पर की गई चर्चा इस प्रकार है :–

"......उपर्युक्त कथन के समर्थन में, वादी ने कार्यपालक अधिकारी, नगर पालिका, ऋषिकेश द्वारा जारी वर्ष 2004-2009 की अवधि के लिए दस्तावेज सं. 96 जी. ए. के माध्यम से मूल्यांकन सूची प्रस्तुत किया । यद्यपि, यह भी स्पष्टतः साबित कर दिया गया है कि उपर्युक्त विवादित संपत्ति का किराया 1,500/- रुपए प्रतिमाह मूल्यांकित है । प्रत्यर्थी ने उपर्युक्त तथ्य के विरोध में कोई दस्तावेजी साक्ष्य फाइल नहीं किया है, जिसे यह साबित हो सकता है कि उपर्युक्त विवादित दुकान का किराया 1500/- रुपए प्रतिमाह के स्थान

पर 250/- रुपए प्रतिमाह मूल्यांकित है ।

उपर्युक्त साक्षियों के कथनों और अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्यों से यह स्पष्टतः साबित होता है कि प्रश्नगत संपत्ति के किराए के बारे में पक्षकारों के बीच न तो कोई लिखित करार किया गया है न ही किराया संदाय के विरुद्ध प्रत्यर्थी द्वारा कोई किराया प्राप्ति फाइल की गई है, यद्यपि दोनों पक्षकारों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वादी स्वयं ही किराया एकत्रित करने के लिए दुकान पर जाता था और प्रत्यर्थी दुकान पर ही अपनी डायरी में इस किराया संदाय की प्रविष्टि करता था ।

प्रत्यर्थी को इस तथ्य को साबित करना चाहिए था कि उपर्युक्त प्रश्नगत दुकान का किराया 250/- रुपए प्रतिमाह मूल्यांकित था । प्रत्यर्थी को उपर्युक्त डायरी प्रस्तुत करना चाहिए जो एक महत्वपूर्ण दस्तावेज था और जो प्रत्यर्थी के कब्जे को दर्शित करता था और वादी के हस्ताक्षर भी इस डायरी में लिए गए थे, इसलिए, उपर्युक्त डायरी को प्रस्तुत नहीं करने के कारण साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 114 के अधीन प्रत्यर्थी के विरुद्ध प्रतिकूल उपधारणा की जाएगी । इस तथ्य को प्रत्यर्थी द्वारा साबित नहीं किया जा सका, इसलिए, उपर्युक्त तथ्यों का विश्लेषण करने के पश्चात्, मेरा यह मत है कि वादी के कथन और अविश्वास करने के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है जिसमें उसने 1,500/- रुपए प्रतिमाह किराया होना मूल्यांकित किया गया था....”

11. विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्यों पर आधारित थे । कार्यपालक अधिकारी, नगर पालिका, ऋषिकेश द्वारा वर्ष 2004-2009 की अवधि के लिए दस्तावेज सं. 96 जी. ए. के माध्यम से मूल्यांकन सूची के प्रतिनिर्देश को भी उल्लिखित किया गया है । विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध यह भी प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला है कि उसने उस डायरी को प्रस्तुत नहीं किया है जो अपीलार्थी द्वारा किए गए किराया संदाय की प्रविष्टि की अभिस्वीकृति थी । उच्च न्यायालय के संपूर्ण चर्चा जैसा उपर्युक्त उद्धृत है, से उपर्युक्त दोनों कारकों के प्रतिनिर्देश नहीं होता है, जिसका भार यह है कि विचारण न्यायालय यह निष्कर्ष निकालने में कि किराए की दर 1500/- रुपए प्रतिमाह है । इस प्रकार, हमारी यह स्पष्ट राय है कि उच्च न्यायालय ने किराए की दर के संबंध में, विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को अपास्त करने में त्रुटि कारित

की है ।

12. उच्च न्यायालय ने अधिनियम, 1887 की धारा 25 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग किया था, जिसका उपबंध इस प्रकार है :–

> "**धारा 25 – लघु वाद न्यायालय की डिक्रियों और आदेशों का पुनरीक्षण** – उच्च न्यायालय स्वयं का समाधान करने के प्रयोजन के लिए कि लघु वाद न्यायालय द्वारा विनिश्चित किसी मामले में पारित डिक्री या आदेश, विधि के अनुसरण में था, मामले को मंगा सकता है और उसके संबंध में, ऐसा आदेश पारित कर सकता है जैसा वह ठीक समझता है ।"

13. अधिनियम, 1887 की धारा 25 के क्षेत्र के बारे में, विभिन्न मामलों में विचार करने के लिए इस न्यायालय के समक्ष आया । **हरि शंकर और अन्य** बनाम **राव गिरधारी लाल चौधरी**[1] वाले मामले के पैरा सं. 9 और 10 में इस न्यायालय द्वारा निम्नलिखित अधिकथित किया गया है :–

> "9. जब हम इस धारा का परिशीलन करते हैं तो यह पाते हैं कि यह धारा प्रायः प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम की धारा 25 के समान है । इस धारा के बारे में, उच्च न्यायालयों द्वारा कई मामलों में विचार किया गया है और इसके विभिन्न निर्वचन किए गए हैं । शक्तियों के बारे में यह कहा गया है कि इन्हें व्यापक तौर पर तभी लागू किया जा सकता है जबकि मामले में मात्र विधि के सारवान् त्रुटि में सुधार करने की आवश्यकता हो और दूसरी ओर, इस शक्ति के अधीन हस्तक्षेप करने की शक्ति, अपील के मुकाबले कम प्रदत्त की गई हैं । इस बात पर चर्चा करना बेकार है कि उन मामलों में, जिनमें से कुछ में कतिपय अप्रायिक तथ्यों की अनिवार्यता के अधीन मताभिव्यक्तियां की जानी की संभाव्यता थी । यह कहना पर्याप्त है कि हमें बात पर विचार करना चाहिए कि ऐसा धाराओं के अर्थान्वयन की अत्यधिक ठीक प्रास्थिति ऐसे मामलों में हो सकती है जहां विद्वान् मुख्य न्यायाधीश बियोमॉट ने बेल एंड कंपनी लि. **बनाम** वमन हेमराज [1938] 40 बाम्बे एल. आर. 125 = ए. आई. आर. 1938 बाम्बे 223 वाले मामले में, प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम की धारा 25 पर विचार करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

---

[1] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 698.

"धारा 25 का उद्देश्य उच्च न्यायालय को यह देखने के लिए समर्थ बनाता है कि कोई भी घोर अन्याय नहीं किया गया है, कि विनिश्चय विधि के अनुसरण में किया गया था । यह धारा उन मामलों को वर्णित नहीं करती है जिनमें न्यायालय, पुनरीक्षण के अधीन हस्तक्षेप कर सकते हैं, जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन किया जाता है और मेरा प्रयोजन निश्चित तौर पर उन परिस्थितियों की सुनिश्चित परिभाषा देने का प्रयास करना नहीं है जो ऐसे हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराती है, किन्तु कई दृष्टांतों में जो हमारे विवेक में निश्चित तौर पर आते हैं, जिन मामलों में न्यायालय को आदेश करने की अधिकारिता नहीं होती है या जिनमें न्यायालय का विनिश्चय उन साक्ष्यों पर आधारित होते हैं जो स्वीकृत नहीं होने चाहिए थे या उन मामलों में जहां असफल पक्षकार को सुनवाई करने का समुचित अवसर नहीं दिया गया है या गलत तरीके से सबूत के भार को प्रस्तुत किया गया है । जब कभी न्यायालय यह निष्कर्ष निकालता है कि असफल पक्षकार का विधि के अनुसरण में समुचित विचार नहीं किया गया है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है । किन्तु मेरी राय में, न्यायालय को मात्र इस कारण से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए कि उसका विचार है कि न्यायनिर्णयन होने की संभाव्यता है, जिसकी सुनवाई की गई है, इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि जिस पर उच्च न्यायालय नहीं पहुंच सकता था ।

इस मताभिव्यक्ति के प्रति हमारी पूर्ण सहमति है ।

10. क्या विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने अधिनियम की धारा 35 के बारे में जो मत व्यक्त किया है, उससे हमारा संबंध है । इस मुद्दे पर न्यायनिर्णयन को ध्यान में रखते हुए, विद्वान् एकल न्यायाधीश तथ्य के स्पष्ट निष्कर्ष में हस्तक्षेप करने में न्यायोचित नहीं थे और ऐसा इस कारण से कि उन्होंने स्वयं ही गलत उपधारणा की है ।"

14. एक अन्य निर्णय जिसे उल्लेख किया जाना आवश्यक है, वह **मुदरी लाल** बनाम **सुशीला रानी (श्रीमती) और अन्य**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय का निर्णय है । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि

[1] (2007) 8 एस. सी. सी. 609.

अधिनियम, 1887 की धारा 25 के अधीन अधिकारिता, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण अधिकारिता के मुकाबले व्यापक है । किन्तु, साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित तथ्य के शुद्ध निष्कर्ष में, अधिनियम, 1887 की धारा 25 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है । न्यायालय ने उन परिस्थितियों को स्पष्टीकृत किया जिनमें धारा 25 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, निष्कर्षों में हस्तक्षेप किया जा सकता है । इस प्रकार के बहुत ही सीमित आधार हैं जिनमें धारा 25 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए हस्तक्षेप किया जा सकता है, वे यह हैं कि जब (i) जब निष्कर्ष अनुचित हैं या (ii) किसी सामग्री पर आधारित नहीं हैं या (iii) अग्राह्य साक्ष्यों पर विचार करते हुए, निष्कर्ष निकाले गए हैं या (iv) सुसंगत साक्ष्यों पर विचार किए बिना निष्कर्ष निकाले गए हैं ।

15. वर्तमान मामला ऐसा नहीं है जहां उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त किसी भी आधार पर विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को अपास्त किया है, जिनमें धारा 25 के अधीन पुनरीक्षण न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालते समय कि किराए की दर 1,500/- रुपए प्रतिमाह है, विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों को भी निर्दिष्ट नहीं किया है । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय का निर्णय कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

16. निवेदन, जिस पर प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा जोर दिया गया है, यह है कि विचारण न्यायालय ने उन अतिरिक्त विवाद्यकों का उल्लेख नहीं किया है जिन्हें संशोधन मंजूर करने के पश्चात् न्यायाधीश, लघु वाद न्यायालय द्वारा विरचित किए गए थे । अतिरिक्त विवाद्यक यह था कि क्या वादी ने तारीख 7 सितम्बर, 2001 के अपने बेदखली के नोटिस का विरोध करने का त्यजन कर दिया था और क्या वादी द्वारा जोड़े गए अनुतोष की प्रार्थना परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित थी । वादी द्वारा अभिलेख पर तारीख 7 सितम्बर, 2001 की नोटिस को उपाबंध पी-1 के रूप में प्रस्तुत किया गया है । नोटिस का अंतिम पैरा, तथ्यों और दावों का उल्लेख करने के पश्चात् इस प्रकार है :-

> "इसलिए, तद्द्वारा आप को यह नोटिस दिया जाता है कि आप को इस नोटिस की प्राप्ति की तारीख से एक माह की अवधि के भीतर ब्याज सहित 1,500/- रुपए प्रतिमाह की दर से दिसम्बर, 2000 से आज के दिन तक मेरे मुवक्किल को संपूर्ण बकाए

किराए का संदाय करना चाहिए और किराएदारी समाप्त की जाती है और उपर्युक्त विहित अवधि बीतने के पश्चात् समाप्त समझी जाएगी । आप उपर्युक्त परिसीमा अवधि बीतने के पश्चात् मेरे मुवक्किल को 50/- रुपए प्रतिदिन की दर से प्रतिकर संदाय करने के लिए भी दायी होंगे और सक्षम न्यायालय के समक्ष आपके विरुद्ध वाद फाइल किया जाएगा जिसके लिए आप सभी लागतों और खर्चों के लिए एकमात्र दायी होंगे । आप को 500/- रुपए नोटिस के खर्चों का भी संदाय करना चाहिए । तद्द्वारा, आप को यह सूचित किया जाता है कि इस नोटिस की प्रतिलिपि आगे की आवश्यकता के लिए हमारे कार्यालय में रखी गई है । इस नोटिस की द्वितीय प्रति यू. पी. सी. डाक के माध्यम से आपको अग्रेषित की जाती है ।"

17. नोटिस में, स्पष्टतः एक माह की अवधि बीतने के पश्चात् किराएदारी समाप्त होना अनुध्यात था । यह उल्लेख करना सुसंगत है कि उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में अतिरिक्त विवाद्यकों के विनिश्चय नहीं करने के बारे में पुनरीक्षणकर्ताओं के तर्कों का उल्लेख किया है । उच्च न्यायालय ने पूर्वोक्त निवेदन को निम्नलिखित शब्दों में उल्लिखित किया है :–

"पुनरीक्षणकर्ता के विद्वान् काउंसेल ने यह जोरदार तर्क दिया है कि अवधारण के लिए ऐसे जोड़े गए विवाद्यकों में से किसी भी विवाद्यक पर निचले न्यायालय द्वारा अपने निर्णय में विचार नहीं किया गया है, कम-से-कम उनमें से किसी के भी बारे में किसी निष्कर्षों में ..."

18. यद्यपि, उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त निवेदन को उल्लिखित किया है किन्तु उपर्युक्त दलील की परीक्षा करने में अथवा प्रत्यर्थी के पक्ष में कोई निष्कर्ष अभिलिखित करने में कोई कार्यवाही नहीं की है । विचारण न्यायालय ने निम्नलिखित प्रभाव के विवाद्यक सं. 9 पहले ही विरचित कर चुका था कि क्या विवादित संपत्ति से प्रत्यर्थी को बेदखल करने के लिए वादी को कोई अधिकार है ? विवाद्यक का उत्तर वादी के पक्ष में दिया गया था ।

19. यद्यपि उपर्युक्त तर्क का उल्लेख उच्च न्यायालय द्वारा नहीं किया गया था, किन्तु चूंकि प्रत्यर्थी ने हमारे समक्ष तर्क उद्भूत किया है, इसलिए, उपर्युक्त – उक्त तर्क पर विचार करना आवश्यक है । अतिरिक्त

विवाद्यक, जैसा उपर्युक्त उल्लिखित है, यह है कि क्या तारीख 7 सितम्बर, 2001 की नोटिस द्वारा मकान मालिक ने बेदखल करने के अपने अधिकार का त्यजन कर दिया है । नोटिस के प्रकथनों से, जैसा उपर्युक्त उद्धृत है, यह स्पष्ट होता है कि किराएदारी समाप्त हो गई थी और मकान मालिक ने किराएदार की बेदखली अनुध्यात कर दी थी । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि बेदखली का त्यजन करने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है । बेदखली की प्रार्थना जिसे संशोधन द्वारा औपचारिक तौर पर जोड़ा गया था, को परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वाद को वर्ष 2001 में फाइल किया गया था । वादपत्र में यह स्पष्टतः अभिवाचित था कि नोटिस तामिल करने के बावजूद न तो अतिशेष किराए रकम का संदाय किया गया था न ही दुकान का कब्जा प्रत्यर्थी को दिया गया था, इसके पश्चात् ही किराएदारी समाप्त की गई थी । वादपत्र के पैरा 4 में निम्नलिखित कथित है :–

> "4. कि प्रत्यर्थी की किराएदारी को उपर्युक्त नोटिस के माध्यम से वादी द्वारा समाप्त कर दी गई थी किन्तु वादी का उपर्युक्त दुकान न तो खाली किया गया था न ही उसका कब्जा प्रत्यर्थी को सौंपा गया था । प्रत्यर्थी ने जानबूझकर इस नोटिस को प्राप्त नहीं किया था । उपर्युक्त नोटिस की तामिली की स्वीकृति से इनकार करना उपर्युक्त रजिस्ट्रीकृत डाक के लिफाफे पर अभिलिखत था । उपर्युक्त नोटिस का पालन नहीं करने के कारण, अतिशेष किराए का रकम संदाय नहीं करने के कारण और प्रत्यर्थी द्वारा वादी को दुकान का कब्जा नहीं सौंपने के कारण वाद फाइल किया जाना आवश्यक था, इसके पश्चात् ही किराएदारी समाप्त की गई थी ।"

20. इस प्रकार, मकान मालिक ने किराएदारी की समाप्ति पर स्पष्टतः जोर दिया था और कब्जा नहीं सौंपने के कारण वाद हेतुक का भी उल्लेख किया था । इन परिस्थितियों में, हमारा यह मत है कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि या तो नोटिस या वाद में बेदखली के अनुतोष का त्यजन किया गया था । बेदखली के पश्चात्, दुकान के कब्जे की ईप्सा करते हुए, वादपत्र में औपचारिक प्रार्थना पहले ही जोड़ी जा चुकी है, जिस संशोधन को उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 5 अगस्त, 2008 के निर्णय में मंजूर कर लिया गया था । इस प्रकार, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने न्यायाधीश, लघु वाद न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री को अपास्त करने में त्रुटि कारित की है ।

21. परिणामतः, अपील मंजूर की जाती है । उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश अपास्त किए जाते हैं और न्यायाधीश, लघु वाद न्यायालय की डिक्री को पुनः स्थापित किया जाता है । पक्षकार अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे ।

अपील मंजूर की गई ।

क.

[2018] 2 उम. नि. प. 106

उत्तर प्रदेश राज्य

बनाम

रघुवीर और एक अन्य आदि और अन्य

13 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती और न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 – हत्या – प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों का साक्ष्य विश्वसनीय और भरोसेमंद पाए जाने और उसकी संपुष्टि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की इस रिपोर्ट से होने पर कि मृतक पर गोलियां अभियुक्तों में से एक अभियुक्त से बरामद बंदूक से चलाई गई थीं, उस अभियुक्त को दोषसिद्ध और दंडादिष्ट करना और मामले के तथ्य और परिस्थितियों में अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध कोई संपुष्टिकारी साक्ष्य न होने के कारण उन्हें संदेह का फायदा देकर दोषमुक्त करना न्यायोचित होगा ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, इत्तिलाकर्ता तारीख 30 जुलाई, 2003 को जब अपने पुत्र लल्लू सिंह और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अपने खेतों में कार्य करने के पश्चात् लगभग 9.00 बजे अपराह्न में घर लौट रहा था तो जब वे हनुमान **उर्फ** माणा के खेत के निकट निर्मित झोपड़ियों के नजदीक पहुंचे, तब ताक में बैठे अपीलार्थी-अभियुक्तों प्रेम भुजवा, रघुवीर, मेहंगू और प्रेम यादव ने ललकार दी और लल्लू सिंह पर देशी पिस्तौल और बंदूकों से गोलियां चलाईं । लल्लू सिंह की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई और सभी अभियुक्त व्यक्ति गांव की ओर भाग गए । घटना एक दुश्मनी के परिणामस्वरूप रचे गए षड्यंत्र के कारण घटी, जो घटना के तीन दिन पूर्व

एक ओर श्रीराम गुप्ता तथा शिवचरण और दूसरी ओर मृतक के बीच हुई मारपीट के कारण हुई थी जिसमें अभियुक्तों ने मृतक को जान से मारने की धमकी दी थी । रात्रि के दौरान भारी बारिश होने के कारण और अभियुक्तों के भय से उसी रात्रि में घटना की इत्तिला नहीं दी गई थी । भरत सिंह ने अगले दिन अर्थात् तारीख 31 जुलाई, 2003 को 10.00 बजे पूर्वाह्न में शिकायत दर्ज की, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख के साथ पठित धारा 302 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने पर अभियुक्त प्रेम भुजवा, रघुवीर, मेहंगू और प्रेम यादव सहित दो अन्य अभियुक्तों शिवचरण और राम गुप्ता के विरुद्ध तारीख 17 अक्तूबर, 2003 को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 और 120ख के साथ पठित धारा 302 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 का साक्ष्य विश्वसनीय और भरोसेमंद है । विचारण न्यायालय ने इन प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया कि बंदूक अभियुक्त प्रेम यादव के कब्जे से बरामद की गई थी और प्राक्षेपिकी रिपोर्ट के अनुसार अभियुक्त प्रेम यादव के कब्जे से बरामद की गई बंदूक घटनास्थल से बरामद किए गए खाली कारतूसों से मेल खाती है और इन निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने सभी अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया । अभियुक्तों ने दोषसिद्धि से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि को अपास्त कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में हुए विलंब के लिए समाधानप्रद स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य और अपराध में आलिप्त करने वाली परिस्थितियां अभियुक्तों को दोषी ठहराने के लिए पर्याप्त नहीं हैं और विचारण न्यायालय के निर्णय को उलट दिया तथा सभी अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया । राज्य ने दोषमुक्ति के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल कीं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रस्तुत मामले में, घटनास्थल से तीन खाली और एक जिंदा कारतूस बरामद किए गए थे । अभियुक्त प्रेम यादव से बंदूक तारीख 8 अगस्त, 2003 को बरामद की गई थी । केवल इस कारण कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी को बंदूक और खाली कारतूस प्राप्त होने में विलंब किया गया था,

प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय से प्रकट अपराध में फंसाने वाली परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय का अवलंब लेने के लिए यह मत व्यक्त किया कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की रिपोर्ट के बारे में अभियुक्त से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन कोई प्रश्न नहीं पूछा गया था । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 का उद्‌देश्य अभियुक्त के विरुद्ध किसी परिस्थिति को रखना है ताकि वह अभियोजन पक्षकथन का सामना कर सके और अभियोजन पक्ष द्वारा उसे अपराध कारित करने में आलिप्त करने के लिए लाई गई परिस्थितियों का स्पष्टीकरण दे सके । यदि अभियुक्त के समक्ष उसके कथन में आई किसी परिस्थिति को नहीं रखा गया है तो उसे विचार में लिया जाएगा । वास्तव में, यह बात इस एक ऊपरिका (राइडर) के अध्यधीन है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन प्रश्न पूछने में हुए लोप से न्याय की हानि हुई है या अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है या नहीं । प्रस्तुत मामले में अभियुक्त प्रेम यादव से हुई बंदूक की बरामदगी और प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय अभियोजन के पक्षकथन को मजबूत करने वाला केवल ऐसा संपोषक साक्ष्य है जिसे प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के मौखिक परिसाक्ष्य द्वारा सिद्ध किया गया है । यदि यह मान भी लिया जाए कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी के साक्ष्य संबंधी प्रश्न दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्त से नहीं पूछा गया था, तो भी प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में अवश्य यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इस बात से अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है । इस न्यायालय की सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त प्रेम यादव के विरुद्ध इस प्रबल परिस्थिति की उपेक्षा करके ठीक नहीं किया है । उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटने के लिए मुख्य रूप से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में हुए विलंब का अवलंब लिया है । घटना तारीख 30 जुलाई, 2003 को 9.00 बजे अपराह्न में घटी थी और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तारीख 31 जुलाई, 2003 को लगभग 10.00 बजे पूर्वाह्न में रजिस्ट्रीकृत की गई थी । अभियोजन पक्ष ने यह उल्लेख करते हुए विलंब की बात को स्पष्ट किया है कि रात्रि के दौरान भारी बारिश होने के कारण और अभियुक्त व्यक्तियों के भय से शिकायतकर्ता पक्ष तारीख 30 जुलाई, 2003 की रात्रि को शिकायत दर्ज करने नहीं जा सका था । विचारण न्यायालय ने विस्तृत विश्लेषण के पश्चात् विलंब के लिए अभियोजन पक्ष द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को स्वीकार किया था । इस न्यायालय ने ऐसा कोई उचित आधार नहीं पाया है कि क्यों उच्च न्यायालय ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया । निस्संदेह, शिकायत

दर्ज करने और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने में हुए विलंब को प्रसामान्यतः संदेह की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि मामला गढ़ने की संभावना होती है और न्यायालयों को साक्ष्य तथा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अन्तर्वस्तुओं की सावधानीपूर्वक संवीक्षा करनी चाहिए । अभियोजन के पक्षकथन को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में विलंब होने के आधार पर नामंजूर किया जाए या नहीं, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । इस मामले में अभियोजन पक्ष ने शिकायत दर्ज करने में हुए विलंब को स्पष्ट किया है अर्थात् भारी बारिश और अभियुक्तों के भय के कारण विलंब हुआ था । इस न्यायालय के मत में, उच्च न्यायालय को इस मामले में मात्र विधि की कार्यवाही आरंभ करने में हुए विलंब के आधार पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था । उच्च न्यायालय ने प्रत्यक्ष साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य और अभियुक्त प्रेम यादव से की गई बदूंक की बरामदगी तथा प्राक्षेपिकी विज्ञानी की इस राय का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया कि घटनास्थल से बरामद खाली कारतूस अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद बंदूक से दागे गए थे । जिन आधारों पर उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायालय के निर्णय को उलटा है, वे पर्याप्त नहीं है । उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष साक्ष्य का मूल्यांकन करने में चूक की है और अभियुक्त प्रेम यादव की दोषमुक्ति के लिए दी गई तर्कणाएं संधार्य नहीं हैं । जहां तक अन्य अभियुक्त प्रेम भुजवा, रघुवीर और मेहंगू का संबंध है, यह न्यायालय प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य की संपुष्टि करने के लिए कोई अन्य सारभूत साक्ष्य नहीं पाता है । घटनास्थल से बरामद दो खाली कारतूस अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद बंदूक से दागे गए थे । उच्च न्यायालय ने किसी अन्य संपुष्टिकारी साक्ष्य के अभाव में अन्य तीन अभियुक्तों अर्थात् प्रेम भुजवा, रघुवीर और मेहंगू को संदेह का फायदा देकर ठीक किया है । (पैरा 11, 12, 15, 16 और 17)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2011] (2011) 10 एस. सी. सी. 165 :
पंचों बनाम **हरियाणा राज्य** । 11

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 2175-2177.

2009 की दांडिक अपील सं. 745, 841 और 891 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय, लखनऊ न्यायपीठ के तारीख 18 दिसंबर, 2012 के निर्णय

और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री रत्नाकर दास, ज्येष्ठ अधिवक्ता, मनोज के. मिश्रा, आशुतोष कुमार शर्मा और कमलेन्द्र मिश्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री अजय वीर सिंह जैन, अतुल अग्रवाल, उदय राम बोकाड़िया, (सुश्री) दिव्या गर्ग, राकेश कुमार खरे, राहुल पुनिया, आलोक मोहन और सोनल जैन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती – इजाजत दी जाती है ।

2. ये अपीलें उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा 2009 की दांडिक अपील सं. 745, 841 और 891 में भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन प्रत्यर्थियों की दोषसिद्धि और उन पर अधिरोपित आजीवन कारावास के दंडादेश को अपास्त करके उनको दोषमुक्त करने वाले इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय को चुनौती देते हुए फाइल की गई हैं ।

3. अभियोजन का पक्षकथन यह है कि तारीख 30 जुलाई, 2003 को इत्तिलाकर्ता भरत सिंह अपने पुत्र लल्लू सिंह, लल्लू सिंह की पत्नी शिवपति, धीरेन्द्र सिंह (अभि. सा. 1), मोनू (अभि. सा. 2) और मीनू के साथ अपने खेतों में कार्य करने के पश्चात् 9.00 बजे अपराह्न में घर लौट रहा था । लगभग 9.00 बजे अपराह्न में जब वे हनुमान **उर्फ** माणा के खेत के निकट निर्मित झोपड़ियों के नजदीक पहुंचे, तब ताक में बैठे प्रेम भुजवा, रघुवीर, मेहंगू और प्रेम यादव ने ललकार दी और लल्लू सिंह पर देशी पिस्तौल और बंदूकों से गोलियां चलाईं । लल्लू सिंह की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई और सभी अभियुक्त व्यक्ति गांव की ओर भाग गए ।

4. घटना उल्लिखित रूप से उस दुश्मनी के परिणामस्वरुप रचे गए षड्यंत्र के कारण घटी, जो घटना के तीन दिन पूर्व एक ओर श्रीराम गुप्ता तथा शिवचरण और दूसरी ओर मृतक के बीच हुई मारपीट के कारण हुई थी जिसमें अभियुक्तों ने मृतक को जान से मारने की धमकी दी थी । रात्रि के दौरान भारी बारिश होने के कारण और अभियुक्तों के भय से उसी रात्रि में घटना की इत्तिला नहीं दी गई थी ।

5. भरत सिंह ने अगले दिन अर्थात् तारीख 31 जुलाई, 2003 को 10.00 बजे पूर्वाह्न में शिकायत (प्रदर्श ए1) दर्ज की, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख के साथ पठित धारा 302 के अधीन 2003 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 103 (प्रदर्श ए3) रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने पर अभियुक्त प्रेम भुजवा, रघुवीर, मेहंगू और प्रेम यादव सहित दो अन्य अभियुक्तों शिवचरण और राम गुप्ता के विरुद्ध तारीख 17 अक्तूबर, 2003 को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 और 120ख के साथ पठित धारा 302 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया गया ।

6. विचारण न्यायालय ने सात अभियोजन साक्षियों, जिनमें दो प्रत्यक्षदर्शी साक्षी धीरेंद्र सिंह (अभि. सा. 1) और मोनू (अभि. सा. 2) भी हैं, अभि. सा. 3-उपनिरीक्षक धर्मपाल सिंह, अभि. सा. 4-डा. राजेश कुमार श्रीवास्तव जिसने मरणोत्तर परीक्षा (प्रदर्श ए4) की थी और अभि. सा. 5 से 7 जो अन्य साक्षी थे तथा अन्वेषक अधिकारी की परीक्षा की । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 का साक्ष्य विश्वसनीय और भरोसेमंद है । विचारण न्यायालय ने प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया कि बंदूक अभियुक्त प्रेम यादव के कब्जे से बरामद की गई थी और प्राक्षेपिकी रिपोर्ट के अनुसार अभियुक्त प्रेम यादव के कब्जे से बरामद की गई बंदूक घटनास्थल से बरामद किए गए खाली कारतूसों से मेल खाती है और इन निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने सभी अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनमें से प्रत्येक को आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया तथा व्यतिक्रम खंड सहित उनमें से प्रत्येक पर पांच हजार रुपए का जुर्माना अधिरोपित किया ।

7. प्रत्यर्थी/अभियुक्तों ने दोषसिद्धि से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि को अपास्त कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में हुए विलंब के लिए समाधानप्रद स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य और अपराध में आलिप्त करने वाली परिस्थितियां अभियुक्तों को दोषी ठहराने के लिए पर्याप्त नहीं है और विचारण न्यायालय के निर्णय को उलट दिया तथा सभी अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया । राज्य ने व्यथित होकर ये अपीलें फाइल की हैं ।

8. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों को सुना और आक्षेपित निर्णय तथा अभिलेख पर की सामग्री का परिशीलन किया ।

9. धीरेंद्र सिंह (अभि. सा. 1) और मोनू (अभि. सा. 2) ने अविचल रूप से यह कथन किया कि वे तारीख 30 जुलाई, 2003 को खेत में कार्य करने के पश्चात् लल्लू सिंह और लल्लू सिंह की पत्नी शिवपति के साथ लगभग 9.00 बजे अपराह्न में अपने घर लौट रहे थे । उन्होंने यह भी कथन किया कि जब वे हनुमान **उर्फ** माणा के खेत के निकट निर्मित झोपड़ियों के पास पहुंचे तो ताक में बैठे अभियुक्त प्रेम भुजवा, रघुवीर, मेहंगू और प्रेम यादव आए और लल्लू सिंह को गालियां देने लगे । पहली गोली प्रेम यादव द्वारा चलाई गई और उसके पश्चात् सभी अन्य तीनों अभियुक्तों ने भी गोलियां चलाईं । लोगों को अपने निकट आता देखकर अभियुक्त व्यक्ति घटनास्थल से भाग गए । घटना का हेतु घटना से दो-तीन दिन पूर्व घटित घटना अर्थात् अभियुक्त व्यक्तियों अर्थात् शिवचरण और राम गुप्ता और मृतक लल्लू सिंह के बीच हुई लड़ाई बताया गया है । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने यह कथन किया कि वे मृतक के पीछे लगभग चार-पांच कदम की दूरी पर खड़े हुए थे और अभियुक्त व्यक्ति लल्लू सिंह के सामने सात-आठ कदम की दूरी पर खड़े हुए थे । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि पहली गोली अभियुक्त प्रेम यादव ने अपनी बंदूक से चलाई थीं और फिर शेष अभियुक्तों ने अपनी पिस्तौलों से गोलियां चलाई थीं ।

10. धीरेंद्र सिंह (अभि. सा. 1) और मोनू (अभि. सा. 2) मृतक लल्लू सिंह के भतीजे और शिकायतकर्ता भरत सिंह के पौत्र हैं । जैसा कि विचारण न्यायालय द्वारा उल्लेख किया गया है, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 मृतक लल्लू सिंह के संबंधी होने के कारण यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि खेतों में कार्य करने के पश्चात् जब वे अपने घर लौट रहे थे तो वे मृतक लल्लू सिंह के साथ थे । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने यह कथन किया कि यद्यपि उस समय रात्रि थी, तो भी उन्होंने टार्च की रोशनी में अभियुक्त व्यक्तियों को पहचान लिया था । अभियुक्त प्रेम भुजवा उसी गांव अर्थात् देवमाई का है जिसका मृतक लल्लू सिंह है और शेष तीन अभियुक्त गांव दिवान खेड़ा के हैं जो उनके गांव से एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित है । विचारण न्यायालय ने, जिसके पास अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के हावभाव को देखने और अवलोकन करने का अवसर था, यह पाया कि अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य भरोसेमंद हैं और उनके द्वारा की गई अभियुक्त व्यक्तियों की शनाख्त पर संदेह नहीं किया

जा सकता है । हमारे मत में, उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य पर संदेह करके और दोषसिद्धि के अधिनिर्णय को उलट कर ठीक नहीं किया है ।

11. घटनास्थल से अन्वेषक अधिकारी, प्रवेश चन्द्र चतुर्वेदी (अभि. सा. 7) द्वारा तीन खाली और एक जिंदा कारतूस बरामद किए गए थे । अभियुक्त प्रेम यादव से तारीख 8 अगस्त, 2003 को बंदूक बरामद की गई थी । अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद बंदूक और खाली कारतूसों को मिलान के लिए प्राक्षेपिकी विज्ञानी के पास भेजा गया था, जो प्राक्षेपिकी विज्ञानी के पास 4 नवंबर, 2003 को पहुंचे । प्राक्षेपिकी विज्ञानी ने अपनी रिपोर्ट (प्रदर्श ए14) में यह राय व्यक्त की कि घटनास्थल से बरामद किए गए खाली कारतूस उसी बंदूक से दागे गए थे जो अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद हुई थी और यह अभियुक्त प्रेम यादव के विरुद्ध एक प्रतिकूल परिस्थिति है । अपराध में आलिप्त करने वाली इस प्रबल परिस्थिति की उच्च न्यायालय द्वारा इस आधार पर उपेक्षा कर दी गई थी कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय को दंड प्रक्रिया संहिता 313 के अधीन अभियुक्त के समक्ष नहीं रखा गया था । **पंचों** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले का अवलंब लेते हुए उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय (प्रदर्श ए14) को अभियुक्त प्रेम यादव के विरुद्ध धारित नहीं किया जा सकता है । उच्च न्यायालय द्वारा अवलंब लिए गए **पंचों** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह दर्शित करने के लिए कोई साक्षी नहीं था कि छह माह की अवधि के दौरान पिस्तौल किस की अभिरक्षा में रखी गई थी । उक्त मामले के तथ्य भिन्न हैं और उक्त विनिश्चय इस मामले में लागू नहीं हो सकता है । प्रस्तुत मामले में, घटनास्थल से तीन खाली और एक जिंदा कारतूस बरामद किए गए थे । अभियुक्त प्रेम यादव से बंदूक तारीख 8 अगस्त, 2003 को बरामद की गई थी । केवल इस कारण कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी को बंदूक और खाली कारतूस प्राप्त होने में विलंब किया गया था, प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय से प्रकट अपराध में फंसाने वाली परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है ।

12. इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय का अवलंब लेने के लिए यह मत व्यक्त किया कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी की रिपोर्ट (प्रदर्श ए14) के बारे में अभियुक्त से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन कोई प्रश्न नहीं पूछा गया था । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 का उद्देश्य अभियुक्त के विरुद्ध किसी परिस्थिति को रखना है ताकि

[1] (2011) 10 एस. सी. सी. 165.

वह अभियोजन पक्षकथन का सामना कर सके और अभियोजन पक्ष द्वारा उसे अपराध कारित करने में आलिप्त करने के लिए लाई गई परिस्थितियों का स्पष्टीकरण दे सके । यदि अभियुक्त के समक्ष उसके कथन में आई किसी परिस्थिति को नहीं रखा गया है तो उसे विचार में लिया जाएगा । वास्तव में, यह बात इस एक ऊपरिका (राइडर) के अध्यधीन है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन प्रश्न पूछने में हुए लोप से न्याय की हानि हुई है या अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है या नहीं । जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत मामले में अभियुक्त प्रेम यादव से हुई बंदूक की बरामदगी और प्राक्षेपिकी विज्ञानी की राय (प्रदर्श ए14) अभियोजन के पक्षकथन को मजबूत करने वाला केवल ऐसा संपोषक साक्ष्य है जिसे प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के मौखिक परिसाक्ष्य द्वारा सिद्ध किया गया है । यदि यह मान भी लिया जाए कि प्राक्षेपिकी विज्ञानी के साक्ष्य संबंधी प्रश्न दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्त से नहीं पूछा गया था, तो भी प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में अवश्य यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इस बात से अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है । हमारी सुविचारित राय में उच्च न्यायालय ने अभियुक्त प्रेम यादव के विरुद्ध इस प्रबल परिस्थिति की उपेक्षा करके ठीक नहीं किया है ।

13. उच्च न्यायालय ने अभियोजन के पक्षकथन पर संदेह करने के लिए और अभियुक्तों को दोषमुक्त करने के लिए अन्य बातों के साथ ये कारण दिए हैं – (i) अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य के बीच असंगति ; (ii) तारीख 30 जुलाई, 2003 की रात्रि को बारिश हुई थी या नहीं ; (iii) अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि चार गोलियां चलाई गईं थीं किंतु अभियुक्त को केवल दो अग्न्यायुध क्षतियां पहुंचीं थीं ; (iv) मृतक लल्लू सिंह के शरीर पर पाई गईं दो विदीर्ण क्षतियों को स्पष्ट नहीं किया गया है ; और (v) यह कि परिवार के सदस्यों को, जो मृतक लल्लू सिंह के साथ थे, अवश्य क्षतियां पहुंचनी चाहिएं थीं और ऐसी क्षतियों के अभाव में अभियोजन के पक्षकथन के बारे में संदेह उत्पन्न होता है । हमारे मत में, उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित उपरोक्त तर्कणाएं प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 की विश्वसनीयता पर संदेह करने के लिए पर्याप्त नहीं है । जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 मृतक से लगभग पांच-छह कदम पर थे और अभियुक्त मृतक के सामने लगभग सात-आठ कदम पर थे । चूंकि बंदूक से गोलियां मृतक पर चलाई गईं थीं इसलिए शिकायतकर्ता पक्ष के

अन्य व्यक्तियों को बंदूक की गोली से क्षतियां न पहुंची हों या हो सकता है उन्होंने अपने आप को बचाने की कोशिश की हो ।

14. जहां तक मृतक लल्लू सिंह को पहुंची क्षतियों का संबंध है, अभि. सा. 4 डा. राजेश कुमार श्रीवास्तव ने मृतक के शरीर पर बंदूक से पहुंची निम्नलिखित क्षतियां पाईं थीं :-

> "1. छाती के बाईं तरफ, बाएं चुचुक के 2.5 से. मी. नीचे, अंदर और पीछे की तरफ 3 से. मी. × 2 से. मी. × गुहा की गहराई तक गोली लगने से बना एक प्रविष्टि घाव । इसके किनारे अंदर की ओर थे और लालिमायुक्त थे ।
>
> 2. बाईं पसली-कोष्ठक के किनारे से 3 से. मी. नीचे, मध्यवर्ती सहायक रेखा पर बाईं तरफ ऊपरि भाग पर 3 से. मी. × 2 से. मी. × हड्डी की गहराई तक गोली का प्रविष्टि घाव अवस्थित, जिसकी दिशा अन्दर की ओर और थोड़ी नीचे थी । इसके किनारे अंदर की ओर उलटे हुए थे और कालिमायुक्त रंग के थे ।"

यद्यपि अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि चार गोलियां चलाई गईं थीं जिनमें से मृतक को दो ही गोलियां लगी होंगी क्योंकि बंदूक की गोली की केवल दो ही क्षतियां पाई गईं थीं और अन्य दो गोलियां निशाने पर नहीं लगी होंगी । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य पर संदेह करने के लिए ऐसे तुच्छ फर्कों को अलापने में कोई न्यायौचित्य नहीं है और उच्च न्यायालय को इन्हें निर्दिष्ट ही नहीं किया जाना चाहिए था, दोषसिद्धि के अधिनिर्णय को उलटने के लिए अवलंब लेना तो दूर । जहां तक अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य में विरोधाभास का संबंध है, हमारे सुविचारित मत में, उच्च न्यायालय द्वारा बताए गए फर्कों से न तो अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 की विश्वसनीयता प्रभावित होती है और न ही यह अभियोजन पक्षकथन के लिए घातक है ।

15. उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटने के लिए मुख्य रूप से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में हुए विलंब का अवलंब लिया है । घटना तारीख 30 जुलाई, 2003 को 9.00 बजे अपराह्न में घटी थी और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तारीख 31 जुलाई, 2003 को लगभग 10.00 बजे पूर्वाह्न में रजिस्ट्रीकृत की गई थी । अभियोजन पक्ष ने यह उल्लेख करते हुए विलंब की बात को स्पष्ट किया है कि रात्रि के दौरान भारी बारिश होने के कारण और अभियुक्त व्यक्तियों के भय से शिकायतकर्ता

पक्ष तारीख 30 जुलाई, 2003 की रात्रि को शिकायत दर्ज करने नहीं जा सका था । विचारण न्यायालय ने विस्तृत विश्लेषण के पश्चात् विलंब के लिए अभियोजन पक्ष द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को स्वीकार किया था । हमने ऐसा कोई उचित आधार नहीं पाया है कि क्यों उच्च न्यायालय ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया । निस्संदेह, शिकायत दर्ज करने और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने में हुए विलंब को प्रसामान्यतः संदेह की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि मामला गढ़ने की संभावना होती है और न्यायालयों को साक्ष्य तथा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अन्तर्वस्तुओं की सावधानीपूर्वक संवीक्षा करनी चाहिए । अभियोजन के पक्षकथन को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में विलंब होने के आधार पर नामंजूर किया जाए या नहीं, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । जैसी कि पहले चर्चा की गई है, इस मामले में अभियोजन पक्ष ने शिकायत दर्ज करने में हुए विलंब को स्पष्ट किया है अर्थात् भारी बारिश और अभियुक्तों के भय के कारण विलंब हुआ था । हमारे मत में, उच्च न्यायालय को इस मामले में मात्र विधि की कार्यवाही आरंभ करने में हुए विलंब के आधार पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था ।

16. उच्च न्यायालय ने प्रत्यक्षी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य और अभियुक्त प्रेम यादव से की गई बदूंक की बरामदगी तथा प्राक्षेपिकी विज्ञानी की इस राय का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया कि घटनास्थल से बरामद खाली कारतूस अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद बंदूक से दागे गए थे । जिन आधारों पर उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायालय के निर्णय को उलटा है, वे पर्याप्त नहीं हैं । उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष साक्ष्य का मूल्यांकन करने में चूक की है और अभियुक्त प्रेम यादव की दोषमुक्ति के लिए दी गई तर्कणाएं संधार्य नहीं हैं ।

17. जहां तक अन्य अभियुक्त प्रेम भुजवा, रघुवीर और मेहंगू का संबंध है, हम प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य की संपुष्टि करने के लिए कोई अन्य सारभूत साक्ष्य नहीं पाते हैं । घटना-स्थल से बरामद दो खाली कारतूस अभियुक्त प्रेम यादव से बरामद बंदूक से दागे गए थे । उच्च न्यायालय ने किसी अन्य संपुष्टिकारी साक्ष्य के अभाव में अन्य तीन अभियुक्तों अर्थात् प्रेम भुजवा, रघुवीर और मेहंगू को संदेह का फायदा देकर ठीक किया है

18. परिणामतः, राज्य द्वारा अभियुक्त प्रेम यादव के संबंध में फाइल की गई अपील मंजूर की जाती है । विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त प्रेम

यादव की भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन की गई दोषसिद्धि और अधिनिर्णीत आजीवन कारावास के दंडादेश की पुष्टि की जाती है । अभियुक्त प्रेम यादव शेष कारावास भोगने के लिए अभ्यर्पण करेगा/उसे अभिरक्षा में लिया जाएगा ।

19. जहां तक प्रेम भुजवा, रघुवीर और मेहंगू के संबंध में राज्य द्वारा फाइल की गई अपीलों का संबंध है, इन्हें खारिज किया जाता है ।

अपीलें भागतः मंजूर की गईं ।

जस.

[2018] 2 उम. नि. प. 117

इस्साक उर्फ किशोर

बनाम

रोनाल्ड चेरियन और अन्य

23 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 386 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302, 394 और 34] – अपील न्यायालय की शक्तियां – विचारण न्यायालय द्वारा दो अभियुक्तों के विरुद्ध सामान्य आशय का विवाद्यक विरचित करने के बावजूद एक अभियुक्त के विरुद्ध आरोप विरचित न करके उसे दोषमुक्त किया जाना – प्राइवेट अपील – उच्च न्यायालय दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में, ऐसी आपवादिक परिस्थितियों में, प्राइवेट पक्षकारों की प्रेरणा पर भी दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त कर सकता है, जहां विचारण के संचालन में ऐसी सुस्पष्ट त्रुटि हो जिससे विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ हो या उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो, वहां उच्च न्यायालय द्वारा मामले के तथ्य और परिस्थितियों में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए मामले का पुनःविचारण करने का निदेश देना उचित होगा ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, मृतका-बृजिता 63 वर्ष आयु की विधवा थी और अपने मकान में अकेली रहती थी । अभियुक्त सं. 1 का पिता

नटराजन उसी मकान में रहता था, जहां बृजिता रह रही थी । वह बृजिता का स्थायी कर्मचारी था । मृतका के पुत्र, प्रत्यर्थी सं. 1, रोनाल्ड चेरियन ने किन्हीं कारणोंवश नटराजन को मकान में न रहने के लिए कहा और इसलिए नटराजन ने अपना रोजगार छोड़ दिया । उसके पश्चात्, कृषि कार्य में मृतका की सहायता करने के लिए अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 मृतका के साथ उसके मकान में रहने लगा । तारीख 6 फरवरी, 2006 की मध्य रात्रि में मृतका की ननद ने, जो मृतका के मकान से 50 मीटर की दूरी पर रह रही थी, मृतका के मकान से चिल्लाने की आवाज सुनी । मृतका की चिल्लाने की आवाज सुनकर मृतका की ननद ने अपने पुत्र (अभि. सा. 1) को जगाया । इसके पश्चात्, वह मृतका के मकान पर गया और अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को रसोई का दरवाजा खोलने के लिए कहा, किंतु उसने उसे बताया कि वह रस्सी से बंधा होने के कारण दरवाजा नहीं खोल सकता है और उसे आगे के दरवाजे से मकान में प्रवेश करने के लिए कहा । अभि. सा. 1 आगे के दरवाजे से मकान में प्रवेश करने पर मृतका को मकान के आगे वाले कमरे में बेहोश पड़े पाया और अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 रसोई में रस्सी से बंधा हुआ था । अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 ने अभि. सा. 1 को बताया कि पांच चोर मकान में घुसे थे और मृतका का गला घोंटने के पश्चात् मकान से सभी मूल्यवान सोने के आभूषण और नकदी ले गए । अभि. सा. 1 ने घटना के बारे में मृतका के ज्येष्ठ पुत्र प्रत्यर्थी सं. 1-रोनाल्ड चेरियन को सूचित किया और इसके पश्चात् वे मृतका को सेंट जॉन अस्पताल, कट्टप्पन लेकर गए, जहां उसे मृत घोषित कर दिया गया । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने के पश्चात् पुलिस निरीक्षक ने अन्वेषण के दौरान स्थल पंचनामा (घटनास्थल महाज़र) तैयार किया और घटनास्थल से अंगुलियों की छाप उठाईं । अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को गिरफ्तार किया गया और उसने एक प्रकटन कथन किया, जिसके आधार पर अभियुक्त सं. 2 के ठिकाने का पता चला और उसे उसी दिन गिरफ्तार किया गया । अभियुक्त सं. 2 के संस्वीकृति कथन के आधार पर उसके मकान से सोने के आभूषणों, करंसी नोटों और उस शाल की बरामदगी की गई, जिसे गला घोंटने के लिए प्रयुक्त किया गया था । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात् अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 और 2 के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 394 और 302 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2 को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 और 394 के अधीन दोषसिद्ध किया । विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को यह अभिनिर्धारित करते हुए दोषमुक्त कर दिया कि अपीलार्थी द्वारा अभियुक्त

सं. 2 की अंतर्ग्रस्तता और अभियुक्त सं. 2 के मकान के अवस्थान के संबंध में किया गया प्रकटन कथन अपीलार्थी की दोषिता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि घटनास्थल से अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 की अंगुलियों की छाप एकत्रित करने की बात अतात्विक है क्योंकि वह मृतका के मकान में ही घरेलू सहायता करने के तौर पर कार्य कर रहा था । अपीलार्थी की दोषमुक्ति से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1-मृतका के ज्येष्ठ पुत्र ने अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 की दोषमुक्ति को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में लोप करके अनियमितता कारित की है, यद्यपि स्वयं विचारण न्यायालय ने लूट और मृतका की हत्या कारित करने में अभियुक्त सं. 1 और 2 के सांझे सामान्य आशय के बिंदु पर एक विवाद्यक विरचित किया था और इस बात से विचारण पर तात्विक रूप से प्रभाव पड़ा है । उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण आवेदन मंजूर करते हुए विचारण न्यायालय को मामले का पुनःविचारण करने का निदेश दिया । अभियुक्त ने व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रसामान्यतः, पुनःविचारण करने का आदेश तब नहीं किया जाना चाहिए जब विचारण को त्रुटिपूर्ण ठहराने के लिए थोड़ी-सी खामी हो । पुनःविचारण करने का आदेश तब किया जा सकता है जब आरंभिक विचारण विशिष्ट कारणों से समाधानप्रद न रहा हो, जैसे, समुचित आरोप विरचित नहीं किया गया हो, ऐसा साक्ष्य गलत रूप से नामंजूर किया गया हो जिसे ग्रहण किया जाना चाहिए था या ऐसा साक्ष्य ग्रहण किया गया हो जिसे नामंजूर किया जाना चाहिए था, आदि । पुनःविचारण करने का आदेश तब नहीं किया जा सकता है जब मात्र अनियमितता हो या जहां इससे कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ता हो, वहां अपील न्यायालय पुनःविचारण करने का निदेश न दे । पुनःविचारण करने का आदेश करने की शक्ति का प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में किया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में, आपवादिक परिस्थितियों में, प्राइवेट पक्षकारों की प्रेरणा पर भी दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त कर सकता है, भले ही राज्य ने इसे अपील के लिए उपयुक्त न समझा हो । किंतु इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि इस अधिकारिता का प्रयोग केवल ऐसी आपवादिक परिस्थितियों में किया जाना चाहिए, जब विचारण के संचालन में ऐसी सुस्पष्ट त्रुटि हो जिससे विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ है

या उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने यह पाया कि यद्यपि विचारण न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1 और 2 द्वारा अपराध कारित करने में उनके सांझे सामान्य आशय के बिंदु पर विवाद्यक विरचित किया था, इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में हुए लोप से विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ है । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि विचारण न्यायालय द्वारा उस अंगुलि-छाप विशेषज्ञ की, जिसने प्रदर्श पी-8 तैयार किया था, परीक्षा की जानी चाहिए थी और उस साक्ष्य से प्रकट होने वाली अन्य परिस्थितियों की भी परीक्षा की जानी चाहिए थी । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया है कि सामान्य आशय का विवाद्यक विरचित करने के बावजूद भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में हुए लोप के कारण विचारण न्यायालय ने साक्ष्य की उचित परिप्रेक्ष्य में परीक्षा नहीं की है, जिसका पुनःविचारण करना आवश्यक है । उच्च न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386(क) के अधीन कतिपय निदेशों सहित पुनःविचारण करने का निदेश देने के लिए प्रयोग किए गए विवेकाधिकार को गलत नहीं कहा जा सकता है और उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है । (पैरा 11 और 14)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1968]	ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 707 : **महेन्द्र प्रताप सिंह** बनाम **सरजू सिंह और एक अन्य** ;	12
[1966]	ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 356 : **मटुकधारी सिंह और अन्य** बनाम **जनार्दन प्रसाद** ;	13
[1965]	ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 1887 : **राजेश्वर प्रसाद मिश्रा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और एक अन्य** ;	13
[1963]	ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 316 : **अबिनाश चन्द्र बोस** बनाम **बिमल कृष्ण सेन और एक अन्य** ;	13
[1962]	ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 1788 : **चिन्नास्वामी रेड्डी** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य और एक अन्य** ।	12

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 165.

2008 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 3413 में केरल उच्च न्यायालय के तारीख 25 जुलाई, 2012 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सानंद रामकृष्णन्, राजीव मिश्रा और मदन एम. बोरा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री निशी राजन शोनकर, (सुश्री) अनु के. जॉय, अलिम और रीगन एस. बेल

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती - इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील केरल उच्च न्यायालय, एर्नाकुलम द्वारा इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल किए गए 2008 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 3413 को मंजूर करते हुए और तद्द्वारा अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 394 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषमुक्ति को अपास्त करके तथा इसके पश्चात् विचारण न्यायालय को मामला पुनःविचारण के लिए वापस भेजते हुए तारीख 25 जुलाई, 2012 को पारित किए गए निर्णय से उद्भूत हुई है ।

3. संक्षेप में अभियोजन का पक्षकथन यह है कि मृतका-बृजिता 63 वर्ष आयु की विधवा थी और अपने मकान में, जो पांच एकड़ भूमि में स्थित था, अकेली रहती थी । अभियुक्त सं. 1 का पिता नटराजन उसी मकान में रहता था, जहां बृजिता रह रही थी । वह बृजिता का स्थायी कर्मचारी था । मृतका के पुत्र, प्रत्यर्थी सं. 1, रोनाल्ड चेरियन ने किन्हीं कारणोंवश नटराजन को मकान में न रहने के लिए कहा और इसलिए नटराजन ने अपना रोजगार छोड़ दिया । उसके पश्चात्, कृषि कार्य में मृतका की सहायता करने के लिए अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 मृतका के साथ उसके मकान में रहने लगा । तारीख 6 फरवरी, 2006 की मध्य रात्रि में मृतका की ननद ने, जो मृतका के मकान से 50 मीटर की दूरी पर रह रही थी, मृतका के मकान से चिल्लाने की आवाज सुनी । मृतका की चिल्लाने की आवाज सुनकर मृतका की ननद ने अपने पुत्र चेरियन **उर्फ** शबीन (अभि. सा. 1) को जगाया । इसके पश्चात्, अभि. सा. 1 मृतका के मकान पर

गया और अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को रसोई का दरवाजा खोलने के लिए कहा, किंतु अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 ने उसे बताया कि वह रस्सी से बंधा होने के कारण दरवाजा नहीं खोल सकता है और अभि. सा. 1 से आगे के दरवाजे से प्रवेश करने के लिए कहा । अभि. सा. 1 आगे के दरवाजे से मकान में प्रवेश करने पर मृतका को मकान के आगे वाले कमरे में बेहोश पड़े पाया और अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 रसोई में रस्सी से बंधा हुआ था । अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 ने अभि. सा. 1 को बताया कि पांच चोर मकान में घुसे थे और मृतका का गला घोंटने के पश्चात् मकान से सभी मूल्यवान सोने के आभूषण और नकदी ले गए । अभि. सा. 1 ने घटना के बारे में मृतका के ज्येष्ठ पुत्र प्रत्यर्थी सं. 1-रोनाल्ड चेरियन को सूचित किया और इसके पश्चात् वे मृतका को सेंट जॉन अस्पताल, कट्टप्पन लेकर गए, जहां उसे मृत घोषित कर दिया गया । अभि. सा. 1 लगभग 4.00 बजे पूर्वाह्न में कट्टप्पन पुलिस थाने गया और अभि. सा. 22-पुलिस उप-निरीक्षक द्वारा उसका कथन (प्रदर्श पी-1) अभिलिखित किया गया और उसके आधार पर पांच शनाख्तयोग्य व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 396 के अधीन 2006 का अपराध मामला सं. 49 रजिस्ट्रीकृत किया गया ।

4. प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने के पश्चात् पुलिस निरीक्षक ने अन्वेषण के दौरान स्थल पंचनामा (घटनास्थल महाज़र) तैयार किया और घटनास्थल से अंगुलियों की छाप उठाई । अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को तारीख 7 फरवरी, 2006 को 6.20 बजे अपराह्न में गिरफ्तार किया गया और उसने एक प्रकटन कथन किया, जिसके आधार पर अभियुक्त सं. 2 के ठिकाने का पता चला और उसे उसी दिन 8.00 बजे अपराह्न में गिरफ्तार किया गया । अभियुक्त सं. 2 के संस्वीकृति कथन के आधार पर उसके मकान से सोने के आभूषणों, करंसी नोटों और उस शाल की बरामदगी की गई, जिसे गला घोंटने के लिए प्रयुक्त किया गया था । साथ ही, शाल पर पाए गए भूरे रंग के बाल भी आगामी अन्वेषण के लिए परिरक्षित रखे गए । मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट से यह प्रकट हुआ कि मृतका की मृत्यु दम घुटने के कारण हुई थी । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात् अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 और 2 के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 394 और 302 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया गया ।

5. विचारण न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2 को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 और 394 के अधीन अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित

आधारों पर दोषसिद्ध किया – (क) मृतका के मकान में अभियुक्त सं. 1 की मौजूदगी की पुष्टि इस तथ्य के कारण की गई है कि अभियुक्त की अंगुलियों की छाप घटनास्थल से बरामद वस्तुओं पर पाई गयी थी; (ख) मृतका के आभूषण और करंसी नोट अभियुक्त सं. 2 के मकान से बरामद किए गए थे; (ग) शाल, जिसका प्रयोग अपराध करने में किया गया था और जिस पर मृतका के बाल मिले थे, उसकी अभियुक्त सं. 2 के मकान से बरामदगी; और (घ) अभियुक्त सं. 2 को अपने ऋणों को चुकता करने के लिए धन की अत्यंत आवश्यकता । विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 को यह अभिनिर्धारित करते हुए दोषमुक्त कर दिया कि अपीलार्थी द्वारा अभियुक्त सं. 2 की अंतर्ग्रस्तता और अभियुक्त सं. 2 के मकान के अवस्थान के संबंध में किया गया प्रकटन कथन अपीलार्थी की दोषिता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि घटनास्थल से अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 की अंगुलियों की छाप एकत्रित करने की बात अतात्विक है क्योंकि वह मृतका के मकान में ही घरेलू सहायता करने के तौर पर कार्य कर रहा था ।

6. अपीलार्थी की दोषमुक्ति से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1-मृतका के ज्येष्ठ पुत्र ने अपीलार्थी-अभियुक्त सं. 1 की दोषमुक्ति को चुनौती देते हुए एक दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । अभियुक्त सं. 2 ने भी अपनी दोषसिद्धि और दंडादेश को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक अपील फाइल की ।

7. उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में लोप करके अनियमितता कारित की है, यद्यपि स्वयं विचारण न्यायालय ने लूट और मृतका की हत्या कारित करने में अभियुक्त सं. 1 और 2 के सांझे सामान्य आशय के बिंदु पर एक विवाद्यक विरचित किया था और इस बात से विचारण पर तात्विक रूप से प्रभाव पड़ा है । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जिस अंगुलि छाप विशेषज्ञ ने रिपोर्ट (प्रदर्श पी-8) तैयार की थी, उसकी विचारण न्यायालय के समक्ष परीक्षा की जानी चाहिए थी और इस साक्षी की परीक्षा न करने से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । उच्च न्यायालय ने यह उल्लेख किया है कि विचारण न्यायालय अभियुक्त सं. 2 द्वारा अपीलार्थी की सहायता के बिना अकेले ही अपराध कारित करने की संभाव्यता के साथ-साथ इस बात का भी मूल्यांकन करने में असफल रहा है कि अपीलार्थी के शरीर पर कोई क्षति नहीं थी जब वह मृतका के मकान

में रस्सी से बंधा हुआ पाया गया था ।

8. हमने पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुना और आक्षेपित निर्णय तथा अभिलेख पर की सामग्री का परिशीलन किया । विचारणीय मुद्दा यह है कि क्या उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को अपास्त करके और मामला पुनःविचारण करने के लिए विचारण न्यायालय को वापस प्रेषित करके ठीक किया है या नहीं ।

9. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386 में अपीलों पर विचार करने की अपील न्यायालय की शक्तियों को परिभाषित किया गया है । इस धारा में प्रगणित शक्तियां सभी न्यायालयों में, चाहे वह उच्च न्यायालय है या अधीनस्थ न्यायालय हैं, निहित हैं सिवाय इसके कि इस धारा का खंड (क) केवल उच्च न्यायालय की शक्तियों तक निर्बंधित है, चूंकि दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध अपील केवल उस न्यायालय में ही की जाती है, जबकि धारा का खंड (ख) इस प्रकार निर्बंधित नहीं है और इसके अंतर्गत सभी न्यायालय आते हैं । अभियुक्त का पुनःविचारण किए जाने का निदेश देने की शक्ति उच्च न्यायालय को प्रदत्त की गई है और उसे यह शक्ति न केवल तब, जब वह दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील पर विचार करता है, अपितु तब भी है जब वह दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील पर विचार करता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386 निम्नलिखित है :–

> "धारा 386 – ऐसे अभिलेख के परिशीलन और यदि अपीलार्थी या उसका प्लीडर हाजिर है तो उसे तथा यदि लोक अभियोजक हाजिर है तो उसे और धारा 377 या धारा 378 के अधीन अपील की दशा में यदि अभियुक्त हाजिर है तो उसे सुनने के पश्चात्, अपील न्यायालय उस दशा में जिसमें उसका यह विचार है कि हस्तक्षेप करने का पर्याप्त आधार नहीं है अपील को खारिज कर सकता है, अथवा, –
>
> > (क) दोषमुक्ति के आदेश से अपील में ऐसे आदेश को उलट सकता है और निदेश दे सकता है कि अतिरिक्त जांच की जाए अथवा अभियुक्त, यथास्थिति, पुनः विचारित किया जाए या विचारार्थ सुपुर्द किया जाए, अथवा उसे दोषी ठहरा सकता है और विधि के अनुसार दंडादेश दे सकता है ;
> >
> > (ख) दोषसिद्धि से अपील में, –

(i) निष्कर्ष और दंडादेश को उलट सकता है और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित कर सकता है या ऐसे अपील न्यायालय के अधीनस्थ सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा उसके पुनः विचारित किए जाने का या विचारणार्थ सुपुर्द किए जाने का आदेश दे सकता है, अथवा

(ii) दंडादेश को कायम रखते हुए निष्कर्ष में परिवर्तन कर सकता है, अथवा

(iii) निष्कर्ष में परिवर्तन करके या किए बिना, दंड के स्वरूप या परिणाम में अथवा स्वरूप और परिणाम में परिवर्तन कर सकता है जिससे उसमें वृद्धि या कमी हो जाए ;"

10. धारा 386(क) और (ख) (i) के अधीन पुनःविचारण करने का निदेश देने की शक्ति अपील न्यायालय को, जब वह या तो दोषसिद्धि के निर्णय के विरुद्ध या दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील पर विचार करता है, प्रदत्त की गई है । खंड (क) और (ख) के अधीन अपील न्यायालय की शक्तियों के बीच फर्क है । खंड (ख) के अधीन न्यायालय के लिए निष्कर्ष और दंडादेश पर विचार करना अपेक्षित है, किंतु खंड (क) के अधीन न्यायालय दोषमुक्ति के आदेश को उलट सकता है और यह निदेश दे सकता है कि अतिरिक्त जांच की जाए या अभियुक्त का पुनःविचारण किया जाए अथवा उसे दोषी ठहरा सकता है और विधि के अनुसार दंडादेश दे सकता है ।

11. प्रसामान्यतः, पुनःविचारण करने का आदेश तब नहीं किया जाना चाहिए जब विचारण को त्रुटिपूर्ण ठहराने के लिए थोड़ी-सी खामी हो । पुनःविचारण करने का आदेश तब किया जा सकता है जब आरंभिक विचारण विशिष्ट कारणों से समाधानप्रद न रहा हो, जैसे समुचित आरोप विरचित नहीं किया गया हो, ऐसा साक्ष्य गलत रूप से नामंजूर किया गया हो जिसे ग्रहण किया जाना चाहिए था या ऐसा साक्ष्य ग्रहण किया गया हो जिसे नामंजूर किया जाना चाहिए था, आदि । पुनःविचारण करने का आदेश तब नहीं किया जा सकता है जब मात्र अनियमितता हो या जहां इससे कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ता हो, वहां अपील न्यायालय पुनःविचारण करने का निदेश न दे । पुनःविचारण करने का आदेश करने की शक्ति का प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में किया जाना चाहिए ।

12. **चिन्नास्वामी रेड्डी** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को दोषसिद्ध किया गया था । सेशन न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि एक महत्वपूर्ण साक्ष्य को अभियुक्त के विरुद्ध ठहराना अग्राह्य था और उसे दोषमुक्त कर दिया । उच्च न्यायालय ने वस्तुतः शिकायतकर्ता द्वारा फाइल किए गए पुनरीक्षण में यह अभिनिर्धारित किया कि सेशन न्यायालय द्वारा अग्राह्य ठहराया गया साक्ष्य ग्राह्य था और अभियुक्त का उन्हीं आरोपों पर पुनःविचारण करने का निदेश देते हुए दोषमुक्ति अपास्त कर दी । उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय की इस बात से सहमति जताई कि दोषमुक्ति अपास्त किए जाने योग्य है । इस न्यायालय ने निर्णय के पैरा 7 में उन बातों का उल्लेख किया है जिन्हें आपवादिक परिस्थितियां कहा जा सकता है, जो निम्न प्रकार से हैं :-

> "7. यह सही है कि उच्च न्यायालय पुनरीक्षण में प्राइवेट पक्षकारों की प्रेरणा पर भी दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त करने के लिए स्वतंत्र है, भले ही राज्य ने अपील करना उपयुक्त न समझा हो; किंतु हमारी राय में, उच्च न्यायालय द्वारा इस अधिकारिता का प्रयोग केवल उन आपवादिक परिस्थितियों में करना चाहिए, जब प्रक्रिया में कोई सुस्पष्ट त्रुटि हो या विधि के बिंदु पर कोई स्पष्ट गलती हो और परिणामस्वरुप स्पष्ट तौर पर न्याय की हानि हुई हो । धारा 439 की उपधारा (4) में उच्च न्यायालय को दोषमुक्ति के किसी निष्कर्ष को दोषसिद्धि में परिवर्तित करने के लिए निषिद्ध किया गया है और तो और उच्च न्यायालय इस बात पर विचार करने के लिए भी आबद्धकर है कि वह जब स्वयं प्रत्यक्ष रूप से दोषमुक्ति के किसी निष्कर्ष को दोषसिद्धि के निष्कर्ष में परिवर्तित न कर सकता हो, तो पुनःविचारण का आदेश करके अप्रत्यक्ष तरीके से दोषमुक्ति के किसी निष्कर्ष को दोषसिद्धि में परिवर्तित न करे । यह बात पुनरीक्षण में दोषमुक्ति के किसी निष्कर्ष को अपास्त करने की उच्च न्यायालय की शक्ति पर परिसीमाएं डालती हैं और केवल आपवादिक परिस्थितियों में ही इस शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए । ऐसे आपवादिक मामलों का अवधारण करने के लिए वह कसौटी अधिकथित करना संभव नहीं है जो सभी आकस्मिकताओं को आच्छादित करती हो । तथापि, हम इस प्रकार के कुछ मामले उपदर्शित कर सकते हैं जिनमें, हमारी राय में, उच्च न्यायालय के लिए पुनरीक्षण में दोषमुक्ति के निष्कर्ष में हस्तक्षेप

---

[1] ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 1788.

करना न्यायोचित्त होगा । ये मामले वे हो सकते हैं :– जहां विचारण न्यायालय को मामले का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है किंतु फिर भी अभियुक्त को दोषमुक्त किया गया है, या जहां विचारण न्यायालय ने गलत रूप से उस साक्ष्य को बाहर कर दिया है जो अभियोजन पक्ष प्रस्तुत करना चाहता था, या जहां अपील न्यायालय ने उस साक्ष्य को गलत रूप से अग्राह्य ठहराया है जिसे विचारण न्यायालय द्वारा ग्रहण किया गया था, या जहां या तो विचारण न्यायालय द्वारा या अपील न्यायालय द्वारा सारवान् साक्ष्य की अनदेखी की गई है, या जहां दोषमुक्ति अपराध के ऐसे शमन पर आधारित है जो विधि के अधीन अविधिमान्य है । इन और इसी प्रकृति के अन्य मामलों को उचित रूप से आपवादिक प्रकृति के मामले ठहराया जा सकता है, जहां उच्च न्यायालय दोषमुक्ति के आदेश में उचित रूप से हस्तक्षेप कर सकता है; और ऐसे किसी मामले में स्पष्टतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालय धारा 439(4) के उपबंधों को दृष्टिगत करते हुए जो कार्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता था, वह उसे अप्रत्यक्ष रूप से कर रहा था...।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया)

महेन्द्र प्रताप सिंह बनाम **सरजू सिंह और एक अन्य**[1] वाले मामले में पुनः इसी सिद्धांत को दोहराया गया था ।

13. **मटुकधारी सिंह और अन्य** बनाम **जनार्दन प्रसाद**[2] वाले मामले में अभियुक्त का भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 460, 406 और 405/471 के अधीन अपराधों के लिए विचारण किया गया था और उसे दोषमुक्त कर दिया गया था । विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 467 के अधीन आरोप विरचित नहीं किया था, जिसके संबंध में प्रथमदृष्ट्या सामग्री उपलब्ध थी और जो अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय अपराध है । अपील में उच्च न्यायालय ने दोषमुक्ति को अपास्त कर दिया और पुनःविचारण करने का आदेश किया । उच्चतम न्यायालय ने अपने समक्ष फाइल अपील खारिज कर दी । इस न्यायालय ने **अबिनाश चन्द्र बोस** बनाम **बिमल कृष्ण सेन और एक अन्य**[3] तथा **राजेश्वर प्रसाद मिश्रा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और एक अन्य**[4] वाले मामले में

---

[1] ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 707.

[2] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 356.

[3] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 316.

[4] ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 1887.

के पूर्ववर्ती विनिश्चयों का उन मामलों के तथ्यों के प्रतिनिर्देश करते हुए निर्दिष्ट किया और इस बात पर बल दिया कि अपील न्यायालय को पुनः विचारण करने का आदेश देने का व्यापक विवेकाधिकार उपलब्ध है ।

14. उच्च न्यायालय दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में, आपवादिक परिस्थितियों में, प्राइवेट पक्षकारों की प्रेरणा पर भी दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त कर सकता है, भले ही राज्य ने इसे अपील के लिए उपयुक्त न समझा हो । किंतु इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि इस अधिकारिता का प्रयोग केवल ऐसी आपवादिक परिस्थितियों में किया जाना चाहिए, जब विचारण के संचालन में ऐसी सुस्पष्ट त्रुटि हो जिससे विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ है या उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने यह पाया कि यद्यपि विचारण न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1 और 2 द्वारा अपराध कारित करने में उनके सांझे सामान्य आशय के बिंदु पर विवाद्यक विरचित किया था, इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में हुए लोप से विचारण सारवान् रूप से प्रभावित हुआ है । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि विचारण न्यायालय द्वारा उस अंगुलि-छाप विशेषज्ञ की, जिसने प्रदर्श पी-8 तैयार किया था, परीक्षा की जानी चाहिए थी और उस साक्ष्य से प्रकट होने वाली अन्य परिस्थितियों की भी परीक्षा की जानी चाहिए थी । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया है कि सामान्य आशय का विवाद्यक विरचित करने के बावजूद भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के अधीन आरोप विरचित करने में हुए लोप के कारण विचारण न्यायालय ने साक्ष्य की उचित परिप्रेक्ष्य में परीक्षा नहीं की है, जिसका पुनःविचारण करना आवश्यक है । उच्च न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386(क) के अधीन कतिपय निदेशों सहित पुनःविचारण करने का निदेश देने के लिए प्रयोग किए गए विवेकाधिकार को गलत नहीं कहा जा सकता है और उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है ।

15. परिणामतः, यह अपील खारिज की जाती है । विचारण न्यायालय मामले में उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निदेशानुसार कार्यवाही करेगा और यथासंभव शीघ्रता से मामले का निपटारा करेगा । खर्चे के लिए कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपील खारिज की गई ।

जस.

[2018] 2 उम. नि. प. 129

लतेश उर्फ दादू बाबूराव कार्लेकर

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

तथा

अनिल अंकुश गाडेकर

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

तथा

विष्णु मारुति बुले

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

तथा

विजय उर्फ विजय इस्त्रीवाला रामदुलारी निर्मल

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

तथा

सुनील काशीनाथ चंदनशिवा

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

30 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति एन. वी. रमना और न्यायमूर्ति अमिताव राय

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – आहत प्रत्यक्षदर्शी साक्षी द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभियुक्तों के नामों का उल्लेख न करना – यह स्थिर विधि है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में ऐसे छोटे-छोटे ब्यौरों और दृष्टांतों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है कि अपराध कैसे किया गया था, इसलिए केवल इस कारण कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभियुक्तों के नामों का उल्लेख

नहीं है, इसकी अंतर्वस्तुओं पर संदेह करने और अभियोजन के पक्षकथन को अस्वीकार करने का आधार नहीं हो सकता है ।

दंड संहिता, 1860 – धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – अभियुक्तों की शनाख्त के लिए शनाख्त परेड आयोजित न किया जाना – शनाख्त परीक्षण परेड आयोजित करने की आवश्यकता केवल तब उद्भूत होती है जब अभियुक्त एक-दूसरे के पहले से जानने वाले न हों और जहां अभियुक्त और क्षतिग्रस्त साक्षी पहले से एक-दूसरे को जानते थे, वहां शनाख्त परेड के अभाव में अभियोजन का पक्षकथन दूषित नहीं हो जाएगा ।

दंड संहिता, 1860 – धारा 302, 307 और 34 – हत्या और हत्या का प्रयत्न – दोषसिद्धि – अभियोजन पक्ष द्वारा अभियुक्तों में से दो अभियुक्तों के विरुद्ध मामले को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं करने पर उनकी दोषसिद्धि को अपास्त करना और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध निश्चायक और विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा मामला युक्तियुक्त संदेह के परे साबित होने पर उनकी दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखना उचित होगा ।

अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि विट्ठल हिंगेन (अभि. सा. 2) और उसका भाई जगदीश हिंगेन (मृतक) मुलंद स्थित एक राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ता के कार्यालय से वापस आ रहे थे तो रास्ते में छह व्यक्ति अर्थात् अभियुक्त सं. 1 (सुनील चंदनशिवा), अभियुक्त सं. 2 (विजय निर्मल), अभियुक्त सं. 3 (लतेश कार्लेकर), अभियुक्त सं. 4 (संदीप भोसले) अभियुक्त सं. 5 (विष्णु बुले) और अभियुक्त सं. 6 (अनिल गाडेकर) विपरीत दिशा से उनके सामने आए, जो छुरी, तलवार, दरांती और लाठी जैसे विभिन्न आयुधों से लैस थे और किसी पुरानी दुश्मनी के कारण मृतक और क्षतिग्रस्त पर हमला किया । क्षतिग्रस्त और मृतक की चिल्लाने की आवाज सुनकर गश्त ड्यूटी पर तैनात दो पुलिसकर्मी (अभि. सा. 11, पुलिस नायक, दयानेश्वर लाडसे) और पुलिस नायक, घनश्याम पवार (जिसकी परीक्षा नहीं की गई), उनकी सहायता के लिए दौड़े । अभियुक्त सं. 1 को अभिकथित रूप से, उसके हाथ में रक्तरंजित छुरी के साथ, रंगे हाथों पकड़ लिया गया, किंतु अन्य अभियुक्त व्यक्ति घटनास्थल से भागने में सफल रहे । क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को अस्पताल ले जाया गया । जगदीश हिंगेन की उसे पहुंची क्षतियों के कारण मृत्यु हो गई । मृतक ने कथित रूप से उक्त अभि. सा. 11 को चार हमलावारों, सुनील काशीनाथ

चंदनशिवा (अभियुक्त सं. 1), अनिल गाडेकर (अभियुक्त सं. 6), विष्णु बुले (अभियुक्त सं. 5) और संदीप भोसले (अभियुक्त सं. 4) के नाम बताए थे और अभि. सा. 11 ने उन्हें अपनी मामला डायरी में अभिलिखित किया था । क्षतिग्रस्त (अभि. सा. 2) के कथन के आधार पर सभी अभियुक्तों के विरुद्ध आपराधिक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, सभी अभियुक्तों के विरुद्ध विभिन्न अपराधों के लिए न्यायालय में आरोप पत्र फाइल किया गया । सभी अभियुक्तों ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने का दावा किया । विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 143, 144, 147, 148, 149 के साथ पठित धारा 302 और 307 तथा आयुध अधिनियम तथा बम्बई पुलिस अधिनियम के अधीन दोषी पाए जाने पर दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया । अभियुक्तों ने विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्च न्यायालय में समावेदन किया । उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् अभियुक्तों की अपील भागतः मंजूर की और सभी अभियुक्तों की भारतीय दंड संहिता की धारा 143, 144, 147, 148 के दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्धि अपास्त कर दी । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1, 2 और 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को तथा अभियुक्त सं. 2 से 6 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को संपरिवर्तित कर दिया । उच्च न्यायालय द्वारा की गई दोषसिद्धि के निर्णय और आदेश से व्यथित होकर सभी अभियुक्तों ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत लेकर अपीलें फाइल की । तथापि, संदीप भोसले अर्थात् अभियुक्त सं. 4 द्वारा फाइल की गई विशेष इजाजत याचिका इस न्यायालय की एक अन्य न्यायपीठ द्वारा खारिज कर दी गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – अभियुक्तों की ओर से विनिर्दिष्ट रूप से यह दलील दी गई है कि अभि. सा. 2 ने प्रारंभिक कथन में विनिर्दिष्ट रूप से अभियुक्तों के नाम प्रकटित नहीं किए थे और न ही अभियुक्तों की अलग-अलग भूमिका का उल्लेख किया था, जबकि अभि. सा. 2 का यह पक्षकथन है कि अभियुक्त एक-दूसरे की जान-पहचान वाले हैं । इसके अतिरिक्त, अभि. सा. 2 ने अभियुक्तों के नाम का प्रकटन घटना के कुछ दिनों के पश्चात्

एक अनुपूरक कथन द्वारा अभियुक्तों को पूर्व दुश्मनी के कारण फंसाने के आशय से किया था । इस तथ्य के विषय में कोई विवाद नहीं है कि अभियोजन का संपूर्ण पक्षकथन अभि. सा. 2 और अभि. सा. 11 के साक्ष्य पर निर्भर करता है, जो कि घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं । स्वीकृततः, अभि. सा. 2 के कथन के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई थी और उसने प्रारंभ में अभियुक्तों के नाम प्रकटित नहीं किए थे । उसने बाद में एक अनुपूरक कथन में घटना के ब्यौरों का वर्णन किया था । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का महत्व प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । जब कोई व्यक्ति पुलिस अधिकारी को कोई कथन करता है, तो उसके आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की जाती है । बातों को दोहराने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग होती है । कुछ लोगों में बातों को हू-ब-हू दोहराने का सामर्थ्य हो सकता है, कुछ में ऐसा करने के सामर्थ्य की कमी हो सकती है । कभी-कभी सदमे की दशा में, वे महत्वपूर्ण ब्यौरों को बताने में चूक कर सकते हैं, क्योंकि लोगों का जब किसी हिंसात्मक कृत्य से सामना होता है तो भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करने के लिए प्रवृत्त होते हैं । केवल इस कारण कि अभियुक्तों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया है और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उनके नाम विनिर्दिष्ट नहीं हैं, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तुओं पर संदेह करने का आधार नहीं हो सकता है और इस आधार पर अभियोजन के पक्षकथन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । किसी का भी यह पक्षकथन नहीं है कि अभि. सा. 2 क्षतिग्रस्त नहीं हुआ था और हमलावरों द्वारा कारित क्षतियों के कारण कुछ समय के लिए अस्पताल में भर्ती नहीं हुआ था और उसने अपने भाई को भी खो दिया था । यह अत्यधिक अधिसंभाव्यता है कि उसने शिकायत रजिस्ट्रीकृत करने के प्रयोजन के लिए एक साधारण कथन किया होगा, जिसे पुलिस द्वारा घटना घटने के कुछ घंटों के पश्चात् ही अभिलिखित किया गया था । बाद में, जब एक बार वह सदमे से बाहर आ गया, तो उसका अनुपूरक कथन अभिलिखित किया गया था और तब उसने अभियुक्तों के नाम प्रकट किए थे और प्रत्येक अभियुक्त को उसके प्रत्यक्ष-कृत्य से संबद्ध किया था । यह स्थिर विधि है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को एक विश्वकोष होने की आवश्यकता नहीं है, जिसमें उन छोटे-छोटे ब्यौरों और दृष्टांतों को प्रस्तुत किया जाए कि अपराध कैसे किया गया था । इसलिए, उपरोक्त चर्चा को देखते हुए यह न्यायालय अभियुक्तों की ओर से दी गई दलील में बल नहीं पाता है और इसे दोनों न्यायालयों द्वारा ठीक ही नामंजूर किया गया है । (पैरा 31, 32 और 33)

अभियुक्तों की ओर से विद्वान् अधिवक्ताओं द्वारा यह तर्क दिया गया है कि कोई शनाख्त परीक्षण परेड नहीं की गई थी और अभि. सा. 2 ने पहली बार न्यायालय में अभियुक्तों की शनाख्त की थी और यह बात अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक है । अभि. सा. 2 के साक्ष्य के अनुसार, अभियुक्त उसकी जान-पहचान के हैं और अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अर्थात् अभि. सा. 11 ने कभी यह कथन नहीं किया कि उसने हमलावरों के चेहरे देखे थे । शनाख्त परीक्षण परेड आयोजित करने की आवश्यकता केवल तब उद्भूत होती है जब अभियुक्त एक-दूसरे के पहले से जानने वाले न हों । शनाख्त परीक्षण परेड एक सारभूत साक्ष्य नहीं है, अपितु अन्य साक्ष्य की संपुष्टि करने के लिए उपयोगी होती है । यह एक प्रज्ञा का नियम है । शनाख्त परीक्षण परेड को, भले ही आयोजित किया गया हो, सभी मामलों में ऐसे विश्वसनीय साक्ष्य के रूप में नहीं समझा जा सकता है, जिसके आधार पर अभियुक्तों की दोषसिद्धि को कायम रखा जा सके । प्रस्तुत मामले में, शनाख्त परीक्षण परेड के अभाव में अभियोजन का पक्षकथन दूषित नहीं हो जाएगा क्योंकि अभियुक्त और अभि. सा. 2 एक-दूसरे को जानते थे । (पैरा 34)

अभियोजन का पक्षकथन यह है कि मृतक ने सुनील काशीनाथ चंदनशिवा (अभि.-1), अनिल गाडेकर (अभि.-6), विष्णु बुले (अभि.-5) और संदीप भोसले (अभि.-4) के नाम हमलावरों के रूप में लेते हुए अभि. सा. 11 को कथन किया था । इस विशिष्ट कथन को अभियोजन साक्ष्य का भाग नहीं बनाया गया था । यहां तक कि अभि. सा. 11 को किए गए उसके कथन में अभियुक्त सं. 2 और 3 के नाम का भी उल्लेख नहीं है । राज्य द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि न्यायालय को ऐसे साक्ष्य को विचार में नहीं लेना चाहिए क्योंकि ऐसे कथन का विधि की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है । यह न्यायालय इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकता है कि इस दस्तावेज को स्पष्ट तौर पर छिपाया गया है क्योंकि राज्य वह कारण स्पष्ट करने में असफल रहा है कि क्यों ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सका था । यद्यपि मामला डायरी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं गई थी, किंतु ऐसा दस्तावेज़ विद्यमान होने की संभाव्यता का समर्थन अभि. सा. 11 के साक्ष्य द्वारा किया गया है, जिससे इस न्यायालय के मस्तिष्क में अभियुक्त सं. 2 और 3 को फंसाने के संबंध में संदेह उत्पन्न होता है । अभि. सा. 11 के साक्ष्य, मृतक के कथन, इस तथ्य को, कि अभियुक्त सं. 2 और 3 से आयुध बरामद नहीं हुए थे और इन अभियुक्तों के वस्त्रों पर कोई रक्त के धब्बे नहीं पाए गए

थे और साथ-ही-साथ घटना के तुरंत पश्चात् अभियुक्त सं. 2 और 3 की गिरफ्तारी और उनकी पुलिस थाने में मौजूदगी, को ध्यान में रखते हुए इन अभियुक्तों की अंतर्ग्रस्तता के संबंध में संदेह उत्पन्न होता है । अभियुक्त सं. 3 का यह भी पक्षकथन है कि अभि. सा. 2 को पूर्व में एक मामले में उनके साक्ष्य के आधार पर दोषसिद्ध किया गया था । मृतक ने पुलिस को कथन किया था और उक्त कथन को किन कारणों से अभियोजन के साक्ष्य का भाग नहीं बनाया गया, इसकी सर्वोत्तम जानकारी उन्हीं को है । मृतक ने उक्त कथन में अभियुक्त सं. 2 और 3 के नाम नहीं लिए थे, दूसरी बात यह कि अभि. सा. 2 ने अनुपूरक कथन में उनके नाम बताए थे, किंतु उसने उनके द्वारा प्रयुक्त किसी आयुध के साथ विनिर्दिष्ट रूप से उन्हें संबद्ध नहीं किया है । अभि. सा. 11 ने अभियुक्त सं. 2 और 3 को किसी स्पष्ट-कृत्य के लिए भी उत्तरदायी नहीं ठहराया है । अन्वेषण के दौरान, अभि. सा. 2 और 3 के वस्त्रों को विशेषज्ञ की राय के लिए भेजा गया था और इससे यह प्रकट हुआ कि वस्त्रों पर रक्त के कोई धब्बे नहीं थे । उनसे कोई आयुध बरामद नहीं किया गया था । अभि. सा. 2 के मौखिक साक्ष्य के सिवाय अभियुक्त सं. 2 और 3 को अपराध से जोड़ने के लिए अभिलेख पर कोई अन्य साक्ष्य नहीं है । स्वतंत्र संपुष्टि के बिना अभि. सा. 2 के मौखिक परिसाक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती है । दोनों न्यायालयों ने किसी ऐसे साक्ष्य के बिना, जो इन अभियुक्तों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे इंगित करता हो, इन्हें दोषी ठहराकर गलत किया है । अभियोजन पक्ष को अभियुक्त की दोषिता को सभी युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करना चाहिए । अभियुक्त का यह परम अधिकार है कि उसे ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्ध न किया जाए, जिसे युक्तियुक्त संदेह के परे वाले सबूत के साक्ष्यिक मानदंड द्वारा सिद्ध नहीं किया गया है । विधि अभियुक्त को संदेह या अधिसंभाव्यता की प्रबलता के आधार पर दोषसिद्ध करने के लिए अनुज्ञा नहीं देती है । उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय की यह राय है कि अभियोजन पक्ष अभियुक्त सं. 2 और 3 के विरुद्ध मामले को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करने मे असफल रहा है । (पैरा 36, 37, 40 और 42)

अभियुक्त सं. 1 छुरी (धारदार आयुध) सहित रंगे-हाथों पकड़ा गया था, जिसकी संपुष्टि गिरफ्तारी, आयुधों और वस्त्रों की बरामदगी के पंच साक्षी अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य के साथ-साथ विशेषज्ञ साक्ष्य से भी होती है । इस प्रकार, अभियोजन पक्ष ने निश्चयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करके अभियुक्त सं. 1 की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे

सफलतापूर्वक साबित किया है । अभियुक्त सं. 5 और 6 की अंतर्ग्रस्तता पर आते हैं । वे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तथा मृतक द्वारा किए गए अभिकथित मौखिक मृत्युकालिक कथन में नामित हैं । आयुधों की बरामदगी से भी इनके मामले का समर्थन होता है और अभियोजन साक्षियों के कथन संगत हैं, जो अभियुक्तों की दोषिता को इंगित करते हैं । इन अभियुक्तों की ओर से काउंसेलों ने यह निवेदन करने की कोशिश की कि अभि. सा. 2 के साक्ष्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसके कथन और न्यायालय के समक्ष उसके साक्ष्य में विरोधाभास हैं । उन्होंने यह निवेदन किया कि अभि. सा. 2 ने घटना के दिन अभियुक्तों की अलग-अलग भूमिका का उल्लेख नहीं किया था । डाक्टर के साक्ष्य और मृतक को पहुंची क्षतियों से स्पष्ट तौर पर अभियुक्त सं. 5 और 6 की दोषिता सिद्ध होती है तथा मात्र किसी अभियुक्त के विशिष्ट स्पष्ट-कृत्य का उल्लेख न करना अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक नहीं होगा । प्रत्येक दांडिक विचारण में, घटना की तारीख और न्यायालय के समक्ष साक्षियों के अभिसाक्ष्यों के बीच लंबी अवधि बीतने के कारण, प्रसामान्यतः, फर्कों का आना लाजिमी है । जब विरोधाभास बहुत गंभीर हों और कथन की सत्यता के बारे में न्यायालय के मस्तिष्क में संदेह पैदा करते हों, तब ऐसे साक्ष्य का अवलंब लेना सुरक्षित नहीं है । इस न्यायालय का यह विचार है कि इस मामले से संबंधित साक्ष्य में विरोधाभास बहुत ही तुच्छ प्रकृति के हैं और इनसे अभियोजन के पक्षकथन पर असर नहीं पड़ेगा । अंत में, अभियुक्त सं. 1 की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल ने यह दलील दी कि घनश्याम पवार की परीक्षा न करना अभियोजन पक्ष के लिए घातक है । न्यायालय इस दलील से सहमत नहीं है क्योंकि अभियोजन पक्ष को किसी साक्षी को अपनी प्रज्ञा के आधार पर पेश करने का विवेकाधिकार है । इस मामले के संपूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों में, अभियुक्त सं. 1 की गिरफ्तारी और आयुध के अभिग्रहण के तथ्य को अभि. सा. 11 द्वारा और अभिलेख के अन्य साक्ष्य से निश्चायक रूप से सिद्ध किया गया है । इसलिए, इस न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि पूर्वोक्त दलील भी गुणता-रहित है । उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, यह न्यायालय इस बात से सहमत है कि अभियुक्त सं. 2 और 3 के विरुद्ध मामला युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध नहीं किया गया है, जबकि यह बात अन्य अभियुक्तों की बाबत नहीं कही जा सकती है, जिनकी भूमिकाएं अभिलेख पर उपलब्ध निश्चयात्मक साक्ष्य से साबित की गई हैं । (पैरा 44, 46 और 47)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 5 एस. सी. सी. 724 : **काथी भरत वाजसुर और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य** ;	43
[2011]	(2011) 9 एस. सी. सी. 698 : **राकेश और एक अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	43
[2009]	(2009) 13 एस. सी. सी. 542 : **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **हरि चंद** ।	43

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2015 की दांडिक अपील सं. 1301 और इसके साथ 2016 की दांडिक अपील सं. 165, 141, 91 और 94.

2009 की दांडिक अपील सं. 221 में बम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 23 मार्च, 2015 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री रविन्द्र केशवराव अदसुरे, प्रदीप गुप्ता, प्रणव गुप्ता, (श्रीमती) मानसी गुप्ता, मौज़म अली, डा. (श्रीमती) विपिन गुप्ता, के. परमेश्वर और मैसर्स एस. एम. जाधव एंड कंपनी

प्रत्यर्थी की ओर से श्री निशांत रमाकांतराव कटनेश्वरकर

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एन. वी. रमना ने दिया ।

न्या. रमना – ये पांच अपीलें, पांच अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा, विशेष इजाजत याचिकाओं के माध्यम से उच्च न्यायालय द्वारा अधिरोपित दोषसिद्धि के विरुद्ध की गई हैं, जिनमें इस न्यायालय द्वारा इन अभियुक्तों को अपील करने की इजाजत दी गई है । इन सभी अपीलों के तथ्य संबद्ध होने और इनमें अंतर्वलित विवाद्यक संयुक्त होने के कारण हम इन मामलों पर एक सामान्य निर्णय द्वारा विचार करना चाहेंगे ।

2. प्रारंभ में, यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालय ने अभियुक्त/अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई अपीलों को भागतः मंजूर किया

है और भारतीय दंड संहिता की धारा 143, 144, 147 और 148 आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 4 और बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के साथ पठित धारा 37(1)(क) के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए उनके दंडादेश अपास्त कर दिए हैं । अपीलार्थी सं. 1 से 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को, विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित किए गए दंडादेश को कायम रखते हुए, उपांतरित किया गया है ।

3. कुछ तथ्य, जो इन मामलों के निपटारे के लिए आवश्यक हैं, ये हैं कि तारीख 10 दिसंबर, 2006 को 10.20 बजे अपराह्न से 10.30 बजे अपराह्न के बीच विट्ठल हिंगेन (अभि. सा. 2) और उसका भाई जगदीश हिंगेन (मृतक) मुलंद स्थित एक राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ता, उत्तम गीते नामक व्यक्ति के कार्यालय से वापस आ रहे थे । जब वे सेंट पायस लेन पहुंचे तो छह व्यक्ति अर्थात् अभियुक्त सं. 1 (सुनील चंदनशिवा), अभियुक्त सं. 2 (विजय निर्मल), अभियुक्त सं. 3 (लतेश कार्लेकर), अभियुक्त सं. 4 (संदीप भोसले) अभियुक्त सं. 5 (विष्णु बुले) और अभियुक्त सं. 6 (अनिल गाडेकर) विपरीत दिशा से उनके सामने आए । अभियुक्तों ने, जो छुरी, तलवार, दरांती और लाठी जैसे विभिन्न आयुधों से लैस थे, किसी पुरानी दुश्मनी के कारण जगदीश हिंगेन (मृतक) और क्षतिग्रस्त विट्ठल हिंगेन (अभि. सा. 2) पर हमला किया । क्षतिग्रस्त और मृतक की चिल्लाने की आवाज सुनकर अभि. सा. 11 (पुलिस नायक, दयानेश्वर लाडसे) और पुलिस नायक घनश्याम पवार (जिसकी परीक्षा नहीं की गई है), जो गश्त ड्यूटी पर थे, उनकी सहायता के लिए दौड़े । यह अभिकथित है कि अभियुक्त सं. 1 को उसके हाथ में रक्तरंजित छुरी के साथ रंगे हाथों पकड़ लिया गया, किंतु अन्य अभियुक्त व्यक्ति घटनास्थल से भागने में सफल रहे । एक स्वतंत्र साक्षी, अभि. सा. 16 (किशोर पोतदार) भी, जो उसी सड़क से गुजर रहा था, चिल्लाने की आवाज सुनकर अभि. सा. 11 की सहायता के लिए आया । क्षतिग्रस्त (अभि. सा. 2) को एक आटो-रिक्शा में मुलंद सामान्य अस्पताल ले जाया गया जबकि अभि. सा. 11 अभियुक्त सं. 1 को, जिसे रंगे हाथों पकड़ा गया था, एक मारुति कार में उक्त आटो-रिक्शा के पीछे-पीछे उपर्युक्त अस्पताल लेकर गया । रास्ते में उनकी मुलाकात अभि. सा. 15 (जगदीश श्रीधर शेट्टी) से हुई, जिसने क्षतिग्रस्त की शनाख्त की और उनके साथ मुलंद सामान्य अस्पताल गया ।

4. अस्पताल पहुंचने पर अभि. सा. 11 ने अभियुक्त सं. 1 की अभिरक्षा, उसकी रक्तरंजित छुरी सहित, घनश्याम पवार को उसे मुलंद पुलिस थाने ले जाने के लिए सौंप दी । एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि अभि. सा. 11 सारे समय क्षतिग्रस्त के साथ अस्पताल में रुका रहा । यह अभिकथित है कि मृतक ने कथित रूप से अभि. सा. 11 को चार हमलावरों, सुनील काशीनाथ चंदनशिवा (अभियुक्त सं. 1), अनिल गाडेकर (अभियुक्त सं. 6), विष्णु बुले (अभियुक्त सं. 5) और संदीप भोसले (अभियुक्त सं. 4) के नाम प्रकट किए और अभि. सा. 11 ने उन्हें अपनी मामला डायरी में अभिलिखित किया ।

5. इसी बीच, अभि. सा. 11 और घनश्याम पवार से घटना की सूचना प्राप्त होने पर मुलंद पुलिस थाने के दो पुलिस कार्मिक (अभि. सा. 24 और अभि. सा. 25) मुलंद सामान्य अस्पताल आए, जहां उन्हें जानकारी मिली की जगदीश हिंगेन की उसे पहुंची क्षतियों के कारण लगभग 11.23 बजे अपराह्न में मृत्यु हो गई है और अन्य क्षतिग्रस्त (विट्ठल हिंगेन) को अतिरिक्त उपचार के लिए सियोन अस्पताल ले जाया गया है । अभि. सा. 24 ने अभि. सा. 23 (डा. अनिरुद्ध गोखले) की अनुज्ञा से क्षतिग्रस्त-अभि. सा. 2 का लगभग 12.15 बजे पूर्वाह्न में कथन अभिलिखित किया और उक्त कथन के आधार पर अभि. सा. 24 (पुलिस उप निरीक्षक जोशी) ने सभी अभियुक्तों के विरुद्ध 2006 का अपराध मामला सं. 595 रजिस्ट्रीकृत किया ।

6. इसी बीच, अभि. सा. 24 ने क्षतिग्रस्त अभि. सा. 2 (विट्ठल हिंगेन) के रक्तरंजित वस्त्र पंचनामा (प्रदर्श 27) के अधीन अभिगृहीत किए । उसके पश्चात्, अभि. सा. 24, अभि. सा. 25 (पुलिस उप निरीक्षक माणे) और अभि. सा. 11 के साथ घटनास्थल पर गया और पंच साक्षी (अभि. सा. 4) की मौजूदगी में स्थल पंचनामा (प्रदर्श 29) तैयार किया, रक्त से सनी किचड़ अभिगृहीत की और घटनास्थल के फोटो लिए गए । इसके पश्चात् अभि. सा. 24 पुलिस थाने वापस आया और थाना डायरी में प्रविष्टि की तथा मुद्दामल मालखाने में जमा किया । दूसरी ओर, उसी रात्रि में लगभग 1.00 बजे पूर्वाह्न में अभि. सा. 22 (पुलिस उप निरीक्षक श्रीकांत रामदास) ने पंच साक्षी, अभि. सा. 10 (राजू जाधव) की मौजूदगी में पंचनामा (प्रदर्श 46) के अधीन अभियुक्त सं. 1 की छुरी और रक्तरंजित वस्त्र अभिगृहीत किए । अभियुक्त सं. 2 और 3 को भी घटना की उसी रात्रि में गिरफ्तार किया गया । अभि. सा. 24 द्वारा पंच साक्षी, अभि. सा. 7

(प्रदीप शिरोडकर) की मौजूदगी में पंचनामा (प्रदर्श 34) के अधीन उनके वस्त्र अभिगृहीत किए । लगभग 6.15 बजे पूर्वाह्न में मृतक के शव को राजावाड़ी अस्पताल के मरणोत्तर परीक्षा केंद्र पर लाया गया और परीक्षण करने पर मृतक को 27 क्षतियां पहुंची हुई पाई गईं ।

7. ऐसी स्थिति में, तारीख 13 दिसंबर, 2006 को पंच साक्षी, अभि. सा. 6 (गोपाल नायडु) की मौजूदगी में अभियुक्त सं. 4 से रक्तरंजित वस्त्र अभिगृहीत किए गए । तारीख 14 दिसंबर, 2006 को अभियुक्त सं. 5 और 6 गिरफ्तार किए गए और अभि. सा. 6 की मौजूदगी में उनके रक्त- रंजित वस्त्र अभिगृहीत किए गए । अभियुक्त सं. 5 और 6 से पंच साक्षी, अभि. सा. 8 की मौजूदगी में क्रमशः दरांती और तलवार (प्रदर्श 40) बरामद किए गए । तारीख 19 दिसंबर, 2006 को अभि. सा. 2 का अनुपूरक कथन अभिलिखित किया गया ।

8. अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, सभी अभियुक्तों के विरुद्ध विभिन्न अपराधों के लिए न्यायालय में निम्नलिखित रीति में आरोप पत्र फाइल किया गया :–

> "अभिकथित अपराध के सभी अभियुक्त व्यक्ति तारीख 20 दिसंबर, 2006 से अभी भी मजिस्ट्रेट की अभिरक्षा में हैं । उनके विरुद्ध न्यायालय में आरोप पत्र प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है, इस अपराध में अन्वेषण के पश्चात् भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख और भारतीय आयुध अधिनियम की धारा 35 हटा दी गई हैं और भारतीय आयुध अधिनियम की धारा 4, 25 और 27 तथा बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 37(1)(क) और 135 के साथ भारतीय दंड संहिता की धारा 143, 144, 147, 148, 149, 302 और 307 के अधीन आरोप पत्र तैयार है ।"

9. सेशन न्यायालय ने अभियुक्तों के विरुद्ध निम्नलिखित रीति में आरोप विरचित किए :–

> "**पहला** – तारीख 10 दिसंबर, 2006 को लगभग 22:20 से 22:30 बजे गौशाला रोड, सेंट पायस रोड, मदन मोहन मालवीय क्रास रोड, मुलंद (पश्चिम) मुम्बई- 400080 से 'मध्य गली' पर, आप अभियुक्त विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे, जिसका सामान्य उद्देश्य शिकायतकर्ता विट्ठल हिंगेन और उसके भाई जगदीश हिंगेन की हत्या कारित करना था और तद्द्वारा द्वारा भारतीय दंड संहिता की

धारा 143 के अधीन दंडनीय अपराध किया था और जो मेरे संज्ञान में है ।

दूसरा – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त घातक आयुध छुरी, दरांती और तलवार से लैस होकर विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 144 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया था और जो मेरे संज्ञान में है ।

तीसरा – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे और उक्त जमाव के सामान्य उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए अर्थात् शिकायतकर्ता विटठ्ल नारायण हिंगेन और उसके भाई जगदीश हिंगेन की छुरी, दरांती, तलवार और चाकू द्वारा हत्या करने के लिए जमाव के सदस्य थे और आप उस अपराध को उक्त जमाव के सामान्य उद्देश्य को अग्रसर करते हुए कारित किया जाना संभाव्यतः जानते थे और आप उस अपराध को कारित करने के समय ऐसे जमाव के सदस्य थे और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के अधीन दंडनीय अपराध के दोषी हैं और जो मेरे संज्ञान में है ।

चौथा – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे और उस समय पर घातक आयुधों से लैस थे और जो अपराध के आयुध के रूप मे प्रयुक्त किए गए थे और शिकायतकर्ता के भाई की मृत्यु कारित करना संभाव्य थी और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 148 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया और जो मेरे संज्ञान में है ।

पांचवां – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे, आप को अपने सामान्य उद्देश्य अर्थात् शिकायतकर्ता विटठ्ल नारायण हिंगेन और उसके भाई जगदीश हिंगेन की तलवार और चाकू द्वारा हत्या करने के लिए अभियोजित किए जा रहे हैं और आप उक्त अपराध जमाव के सामान्य उद्देश्य को अग्रसर करते हुए कारित किया जाना संभाव्यतः जानते थे और उस अपराध के कारित करने के समय पर ऐसे जमाव के सदस्य थे और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के अधीन दंडनीय अपराध के दोषी हैं और जो मेरे संज्ञान में है ।

छठा – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त

विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे, और आपने शिकायतकर्ता के भाई जगदीश हिंगेन की छुरी, दरांती, तलवार और चाकू द्वारा साशय या मृत्यु कारित होना जानते हुए हत्या कारित की और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया और जो मेरे संज्ञान में है ।

सातवां – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्त विधिविरुद्ध जमाव के सदस्य थे और आप अभियुक्तों ने शिकायतकर्ता विट्ठल नारायण हिंगेन पर छुरी, दरांती, तलवार और चाकू द्वारा उसके उदर, माथे और शरीर के अन्य भाग पर ऐसे आशय और ज्ञान के साथ और ऐसी परिस्थितियों में कृत्य अर्थात् हमला किया कि यदि उस कृत्य द्वारा आपने शिकायतकर्ता की मृत्यु कारित की होती तो आप हत्या के दोषी होते और यह कि आपने धारा 149 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया और जो मेरे संज्ञान में है ।

आठवां – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्तों के कब्जे में घातक आयुध अर्थात् छुरी, दरांती, तलवार और चाकू अनुज्ञप्ति/प्राधिकार के बिना प्रतिषेधात्मक आदेश के उल्लंघन में पाए गए थे और आपने तद्द्वारा भारतीय आयुध अधिनियम की धारा 4, 25 और 27 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया और जो मेरे संज्ञान में है ।

नौंवा – उसी तारीख समय और स्थान पर आप अभियुक्तों के कब्जे में घातक आयुध अर्थात् छुरी, दरांती, तलवार और चाकू अनुज्ञप्ति/प्राधिकार के बिना प्रतिषेधात्मक आदेश के उल्लंघन में पाए गए थे और आपने तद्द्वारा बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के साथ पठित धारा 37(1) के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया और जो मेरे संज्ञान में है ।"

10. सभी अभियुक्तों ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने का दावा किया । अभियोजन पक्ष ने विचारण के दौरान कुल 25 साक्षियों की परीक्षा की । यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि अभियोजन पक्ष ने उस मामला डायरी को चिह्नित नहीं किया है जिसमें अभि. सा. 11 द्वारा अभियुक्तों के नाम के अभिकथित प्रकटीकरण को अभिलिखित किया गया था ।

11. विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों को अपराध कारित करने का दोषी पाए जाने पर उनको दंडनीय अपराधों के लिए निम्नलिखित रीति में दोषसिद्ध किया :–

अभियुक्त	धारा	आरोप और दोषसिद्धि
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3 अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	भारतीय दंड संहिता की धारा 143	छह माह का कठोर कारावास और 200/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर एक माह का कठोर कारावास भुगतेंगे ।
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3 अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	भारतीय दंड संहिता की धारा 144	एक वर्ष का कठोर कारावास और 300/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर एक माह का कठोर कारावास भुगतेंगे।
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3 अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	भारतीय दंड संहिता की धारा 148	दो वर्ष का कठोर कारावास और 500/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर दो माह का कठोर कारावास भुगतेंगे ।
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3 अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के साथ पठित धारा 37(1)(क)	छह माह का कठोर कारावास और 200/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर एक माह का कठोर कारावास भुगतेंगे।
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3 अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 4	एक वर्ष का कठोर कारावास और 200/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर एक माह का कठोर कारावास भुगतेंगे ।
अभि.-1, अभि.-2 अभि.-3	भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302	प्रत्येक आजीवन कारावास भुगतेगा और 1,000/-रुपए के जुर्माने का संदाय करेगा और व्यक्तिक्रम करने पर छह माह का कठोर कारावास भुगतेगा ।
अभि.-4 अभि.-5 अभि.-6	भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 307	दस वर्ष का कठोर कारावास और 1,000/-रुपए का जुर्माना और जुर्माने का व्यतिक्रम करने पर छह माह का कठोर कारावास भुगतेंगे ।

विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों को दोषी ठहराने के लिए

निम्नलिखित कारण दिए हैं :–

(क) शनाख्त परीक्षण परेड आवश्यक नहीं थी क्योंकि अभि. सा. 2 और मृतक अभियुक्तों को जानते थे ।

(ख) आयुधों और वस्त्रों की बरामदगी संदेहास्पद परिस्थिति में नहीं की गई है ।

(ग) अभि. सा. 11 द्वारा अभिलिखित अभिकथित मृत्युकालिक कथन को प्रस्तुत न करना घातक नहीं है ।

(घ) अभि. सा. 2 और अभि. सा. 11 के साक्ष्य पर जोर विश्वसनीय और स्वाभाविक होने के कारण दिया गया है । कतिपय विरोधाभासों को छुट-पुट विसंगतियां का नाम दिया गया है जो मामले की तह तक नहीं जाते हैं और यह अभिनिर्धारित किया कि उपरोक्त वर्णित व्यक्तियों के मौखिक साक्ष्य की संपुष्टि अन्य साक्ष्य द्वारा होती है ।

12. अभियुक्तों ने विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्च न्यायालय में समावेदन किया । उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् अभियुक्तों की अपील भागतः मंजूर की और सभी अभियुक्तों की भारतीय दंड संहिता की धारा 143, 144, 147 और 148 के दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्धि अपास्त कर दी । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1, 2 और 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को तथा अभियुक्त सं. 2 से 6 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को संपरिवर्तित कर दिया ।

13. उच्च न्यायालय ने अभियुक्तों को दोषसिद्ध करते हुए निम्नलिखित आधारों पर जोर दिया है :–

(क) अलग-अलग अभियुक्त की विनिर्दिष्ट भूमिका और उनके द्वारा लिए गए आयुधों को उनसे संबद्ध न करने की बात हानिकर नहीं है क्योंकि कथन ऐसी दशा में किया गया था जिसमें अभि. सा. 2 को गंभीर क्षतियां पहुंची हुई थीं और सदमे में था ।

(ख) अभि. सा. 2 और अभि. सा. 11 के साक्ष्य की अभि. सा. 15 द्वारा इस सीमा तक संपुष्टि की गई है कि क्षतिग्रस्त और मृतक

उत्तम गीते के कार्यालय से लौट रहे थे ।

(ग) हालांकि रासायनिक विश्लेषक की रिपोर्टों को विचार में नहीं लिया गया था, तो भी इस बात से अभियोजन के पक्षकथन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि क्षतिग्रस्त प्रत्यक्षदर्शी साक्षी-अभि. सा. 2 का मजबूत और विश्वासप्रद साक्ष्य है, जिसका पूरी तरह से समर्थन और संपुष्टि एक अन्य स्वतंत्र प्रत्यक्षदर्शी साक्षी-अभि. सा. 11 के साक्ष्य और अभिलेख पर के चिकित्सीय साक्ष्य से होती है ।

(घ) अभियुक्त सं. 1 से चाकू की बरामदगी के संबंध में अभि. सा. 10 (राजू जाधव) के कथन और पंचनामा (प्रदर्श 46) के बीच विसंगति अतात्विक और छुट-पुट है ।

(ङ) विचारण न्यायालय ने अभि. सा. 2 द्वारा दिए गए साक्ष्य के आधार पर विभिन्न अभियुक्तों से संबद्ध स्पष्ट-कृत्यों को प्रभेदनीय करने का दृष्टिकोण अपनाकर गलती की है ।

14. उच्च न्यायालय द्वारा की गई दोषसिद्धि के निर्णय और आदेश से व्यथित होकर सभी अभियुक्तों ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत याचिकाएं फाइल कीं । तथापि, संदीप भोसले अर्थात् अभियुक्त सं. 4 द्वारा फाइल की गई विशेष इजाजत याचिका (2015 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 6713) इस न्यायालय की एक अन्य न्यायपीठ द्वारा अपने तारीख 7 सितंबर, 2015 के आदेश द्वारा खारिज कर दी गई थी । अब हमारा सरोकार अन्य अभियुक्त-अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई अपीलों से है ।

15. अभियुक्त सं. 1 और 2 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री के. परमेश्वर ने निम्नलिखित निवेदन किए :–

(i) अभिकथित पूर्ववर्ती दांडिक मुकदमेबाजी का हेतु एक दुधारी तलवार के रूप में कार्य करता है, जिस पर विचार नहीं किया जा सकता है । इसके अलावा, जब दोनों पक्षकारों की उस इलाके में विरोधी राजनैतिक दलों के रूप में अपनी पहचान है, इसलिए हेतु किसी भी दशा में आवश्यक नहीं है और इस पर विचार नहीं किया जाना चाहिए ।

(ii) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पर्याप्त विलंब से फाइल की गई थी और मृतक द्वारा किए गए पूर्ववर्ती कथन की बजाय अभि. सा. 2 के

पूरक कथनों पर आधारित है । इसके अतिरिक्त, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में भारतीय दंड संहिता की धारा 302 जोड़कर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में बाद में किए गए पश्चात्वर्ती परिवर्तन अभियोजन पक्ष के लिए घातक हैं ।

(iii) मृत्युकालिक कथन, जो अभि. सा. 11 के समक्ष किया गया है, उसे अभियोजन साक्ष्य का भाग नहीं बनाया गया है । अभियोजन पक्ष द्वारा किए गए इस लोप का उसके द्वारा स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता थी, क्योंकि ऐसे आचरण से युक्तियुक्त संदेह उत्पन्न होता है ।

(iv) यदि यह धारणा कर भी ली जाए कि अभिकथित मृत्युकालिक कथन सत्य है, और तो भी अभियुक्त सं. 2 और 3 के नाम मृतक द्वारा की गई घोषणा में प्रकटित नहीं किए गए हैं । इस तथ्य से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि अभियुक्त सं. 2 और 3 का पश्चात्वर्ती समावेशन तात्विक परिवर्तन हैं जिससे संपूर्ण अभियोजन पक्षकथन अविश्वसनीय हो जाता है ।

(v) आयुध अभियुक्त सं. 1, 5 और 6 से बरामद किए गए थे, जबकि अभियुक्त सं. 2 और 3 को हत्या की कोटि में आने वाले आपराधिक मानव वध के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है और अभियुक्त सं. 5 और 6 को हत्या करने के प्रयत्न के लिए केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के लिए दोषसिद्ध किया गया है ।

(vi) अभियुक्त सं. 2 और 3 को पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया था और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत होने से पहले ही अभिरक्षा में ले लिए गए थे । इस तथ्य से घटना की सत्यता के बारे में गंभीर संदेह उत्पन्न होता है और न्यायालय को पूर्वोक्त अभियुक्तों की दोषिता पर विचार करते समय इस परिस्थिति को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि उन्हें मिथ्या फंसाने की संभाव्यता है ।

(vii) अभि. सा. 2 द्वारा दी गई अभिकथित शिकायत इस तथ्य से अविश्वसनीय हो जाती है कि जिस डाक्टर ने अभि. सा. 2 का उपचार किया था, उसे यह बात स्मरण नहीं थी कि अभि. सा. 2 ने अपनी शिकायत में अभियुक्तों के नामों को प्रकट किया था या नहीं ।

(viii) अभि. सा. 2 ने स्वयं अपने कथनों का खंडन किया है, कि उसने शिकायत में कभी अभियुक्तों के नाम प्रकट नहीं किए थे,

बल्कि नाम सर्वप्रथम तारीख 19 दिसंबर, 2006 को प्रकट किए गए थे । इस विरोधाभास से अभियोजन के पक्षकथन पर स्पष्ट रूप से अंतिम आघात पहुंचता है ।

(ix) अभि. सा. 15 और अभि. सा. 16 को पक्षद्रोही घोषित किया गया है और इस बात पर विचार किए जाने की आवश्यता है ।

(x) घनश्याम पवार, जो कथित रूप से घटना के समय तथा अस्पताल में मौजूद था, वह अभियोजन के पक्षकथन का भाग नहीं है ।

(xi) आयुधों का अभिग्रहण संदेहास्पद परिस्थितियों में किया गया है ।

(xii) रक्तरंजित आयुधों के रासायनिक विश्लेषण परीक्षण को अभियुक्तों के समक्ष नहीं रखा गया था । इसलिए न्यायालय द्वारा इस पर विचार नहीं किया जा सकता है ।

16. हमने अभियुक्त सं. 3 की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री प्रदीप गुप्ता और अभियुक्त सं. 5 और 6 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल आनंद लांडजी को भी सुना । उन्होंने यह दलील दी कि :–

(i) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट कथित रूप से मृतक द्वारा किए गए मृत्युकालिक कथन के आधार पर रजिस्ट्रीकृत की गई थी, न कि मृतक के भाई द्वारा किए गए अनुपूरक कथन के आधार पर ।

(ii) अभिगृहीत आयुधों से अंगुली की कोई छाप एकत्रित नहीं की गई थीं ।

(iii) अभियुक्त सं. 5 और 6 की शनाख्त परीक्षण परेड में शनाख्त नहीं की गई थी ।

(iv) अभि. सा. 2 के साक्ष्य से अभियुक्त व्यक्तियों की विनिर्दिष्ट भूमिका या उनके द्वारा किए गए विनिर्दिष्ट हमले की पहचान नहीं होती है ।

17. राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री निशांत रमाकांतराव कटनेशवरकर ने उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन करते हुए यह कहा कि मामले में केवल छुट-पुट विरोधाभास हैं जो मामले के लिए तात्विक नहीं हैं और ये विरोधाभास घटना के देर रात्रि में घटने के कारण आ सकते हैं । इसके अतिरिक्त, विद्वान् काउंसेल ने यह कहा कि शनाख्त परीक्षण

परेड की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि मृतक तथा अभि. सा. 2 अभियुक्तों को जानते थे । इसके अलावा, अभि. सा. 2 के साक्ष्य को यदि समग्र रूप में पढ़ा जाए, तो इससे यह प्रकट होता है कि कोई विरोधाभास नहीं है, बल्कि उन्होंने यह कहा कि अभि. सा. 2 ने शिकायत रजिस्ट्रीकृत होने के समय नामों को प्रकट किया था और उसके पश्चात् उसने कोई प्रकटीकरण नहीं किया था या उसके पास तारीख 19 दिसंबर, 2006 तक किसी व्यक्ति को उस समय तक घटना के बारे में बताने का कोई अवसर नहीं था, जब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन पुलिस द्वारा उसका कथन अभिलिखित किया गया था ।

18. दोनों पक्षों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुनने और प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर हमारे द्वारा गहराई से विचार करने पर, हमारा यह मत है कि इससे पूर्व कि हम मामले में अपने विश्लेषण को अग्रसर करें, अभि. सा. 2 और अभि. सा. 11, जिनके साक्ष्य पर निचले न्यायालयों ने अत्यधिक अवलंब लिया है, के कथनों का अवलोकन करना उचित होगा ।

19. अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि घटना तारीख 10 दिसंबर, 2006 को लगभग 10.20 से 10.30 बजे अपराह्न में सेंट पायस लेन के निकट उस समय घटी थी, जब वह और उसका भाई उत्तम गीते के कार्यालय से लौट रहे थे । उसने यह कथन किया कि उस समय उन पर सुनील चंदनशिवा (अभियुक्त सं. 1) ने छुरी से, अनिल गाडेकर (अभियुक्त सं. 6) ने तलवार से, विष्णु बुले (अभियुक्त सं. 5) ने दंराती से, उनके साथ उनकी पुरानी दुश्मनी के कारण, आक्रमण किया था । घटनास्थल पर मौजूद अन्य अभियुक्त संदीप भोसले (अभियुक्त सं. 4), लतेश कार्लेकर (अभियुक्त सं. 3) और विजय रामदुलारे निर्मल **उर्फ** इस्त्रीवाला (अभियुक्त सं. 2) थे । इस साक्षी ने यह भी अभिसाक्ष्य दिया कि अभियुक्त विष्णु बुले, अनिल गाडेकर और संदीप भोसले ने उसकी दाईं कलाई पर, आंखों के पास और उदर पर प्रहार किए थे, जबकि अभियुक्त लतेश, विजय और सुनील ने उसके भाई के सिर और हाथों पर हमला किया था । उनकी "सहायता करो, सहायता करो" (बचाओ, बचाओ) की चिल्लाने की आवाज सुनकर दो पुलिस अधिकारी उनकी ओर आए और सुनील (अभियुक्त सं. 1) को, जब वह भागने की कोशिश कर रहा था, पकड़ लिया । उनकी सहायता से उसे (अभि. सा. 2) और उसके भाई को मुलंद सामान्य अस्पताल ले जाया गया । तत्पश्चात्, दो व्यक्ति अर्थात्

किशोर पोतदार और जगदीश शेट्टी पुलिस अधिकारियों के साथ गए । उसके पश्चात्, अभि. सा. 2 को अतिरिक्त उपचार के लिए सियोन अस्पताल रेफर किया गया, जहां उसने पुलिस अधिकारी जोशी (अभि. सा. 24) को ड्यूटी पर तैनात चिकित्सा अधिकारी की मौजूदगी में घटना का वर्णन किया । इस साक्षी ने यह स्वीकार किया है कि प्रदर्श 23 (शिकायत) और इसकी अंतर्वस्तुएं सत्य हैं ।

अभियुक्त सं. 2 और 3 की ओर से की गई प्रतिपरीक्षा में अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि :–

> "मैंने पुलिस को बताया कि सभी अभियुक्त व्यक्ति सेंट पायस लेन, मुलंद में मुझे और मेरे भाई को पीटने के लिए आए थे । तथापि, मैं कोई कारण नहीं दे सकता कि पुलिस ने क्यों उक्त तथ्य को मेरी शिकायत में अभिलिखित नहीं किया । प्रदर्श 23 पर मेरी शिकायत अभिलिखित करते समय, मैंने पुलिस को बताया था कि अभियुक्त सं. 1 छुरी से, अभियुक्त सं. 6 अनिल गाडेकर तलवार से और अभियुक्त सं. 5 दरांती से लैस था । तथापि, मैं कोई कारण नहीं दे सकता कि पुलिस द्वारा प्रदर्श 23 पर मेरी शिकायत में उपरोक्त उक्त तथ्य को विनिर्दिष्ट रूप से क्यों प्रकट नहीं किया गया है । मेरा कथन अभिलिखित करने के समय मैंने पुलिस को यह नहीं बताया था कि अभियुक्त विष्णु, अनिल और संदीप ने मेरे दाएं घुटने, मेरी आंखों के पास और उदर पर हमला किया था । मेरी शिकायत अभिलिखित करते समय मैंने पुलिस को यह नहीं बताया था कि अभियुक्त सुनील, लतेश और विजय ने मेरे भाई पर उसकी टांग और हाथों पर हमला किया था । मेरी शिकायत प्रदर्श 23 पर दर्ज करते समय मैंने पुलिस को यह नहीं बताया था कि घटना के दौरान, मैं बचाओ, बचाओ चिल्लाया था । प्रदर्श 23 में रिपोर्ट दर्ज करते समय, मैंने पुलिस को यह नहीं बताया था कि घटना के समय दो पुलिस अधिकारी दौड़ कर घटनास्थल पर आए थे और उन्होंने अभियुक्त सुनील को घटना-स्थल पर आयुध से लैस पकड़ा था । इस साक्षी ने स्वेच्छा से यह कहा कि उसने पुलिस को यह तथ्य अनुपूरक कथन अभिलिखित करते समय बताया था ।"

अभि. सा. 2 ने अभियुक्त सं. 5 की ओर से की गई प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया कि :–

"मैं प्रदर्श 23 पर रिपोर्ट दर्ज करते समय पूरे होश में था, मुझे पहुंची क्षतियां किस व्यक्ति द्वारा और किस आयुध से कारित की गई थीं, इसके बारे में मुझे पूरी तरह से जानकारी थी । जब मुझे सियोन अस्पताल में भर्ती किया गया था, तब पुलिस अधिकारियों को मेरी सुरक्षा के लिए तैनात किया गया था । यह सत्य है कि मेरी शिकायत दर्ज करने के पश्चात् तारीख 19 दिसम्बर, 2006 तक मैंने किसी पुलिस अधिकारी या अन्य व्यक्ति को हमलावरों के नाम तथा मुझे और मेरे भाई को क्षतियां पहुंचाने के लिए प्रयुक्त किए गए आयुधों के नाम का प्रकटीकरण नहीं किया था ।"

अभि. सा. 2 ने अभियुक्त सं. 4 की ओर से की गई प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया कि :–

"यह कहना सही नहीं है कि मेरे द्वारा प्रदर्श 23 की अंतर्वस्तुओं को पुलिस को बताया गया था और पुलिस द्वारा उक्त अंतर्वस्तुओं को मुझे पढ़कर नहीं सुनाया गया था ।"

20. अभि. सा. 11 ने अपने अभिसाक्ष्य में यह कथन किया कि वह जून, 2004 से मुलंद पुलिस थाने से संबद्ध था । वह तारीख 10 दिसम्बर, 2006 को 7.15 बजे अपराह्न से घनश्याम पवार के साथ गश्ती मार्शल के रूप में तैनात था । लगभग 10.20 बजे अपराह्न में जब वे जे. एन. रोड से होकर मदन मोहन मालवीय रोड जा रहे थे, उन्हें "बचाओ बचाओ" का शोर सुनाई दिया । संकट की पुकार सुनकर, वे घटनास्थल की ओर दौड़े और देखा कि छह हमलावरों द्वारा छुरी, तलवार, क्योटा और चाकू से दो व्यक्तियों पर हमला किया जा रहा था । जब वह अपनी मोटरसाइकिल से उतरा, तो हमलावर भाग गए किंतु इस साक्षी ने यह कहा कि उसने सुनील चंदनशिवा (अभियुक्त सं. 1) को रक्तरंजित छुरी लिए हुए पकड़ लिया । यद्यपि घनश्याम पवार ने अन्य हमलावरों का पीछा किया किंतु वे भाग गए । उसके पश्चात्, "किशोर पोतदार" नामक एक और व्यक्ति भी सहायता के लिए वहां आया । अस्पताल जाते समय रास्ते में उनके साथ जगननाथन शेट्टी शामिल हो गया और अभि. सा. 11 ने उससे अपने साथ अस्पताल चलने के लिए कहा । लगभग 10.40 बजे अपराह्न में वे मुलंद अस्पताल पहुंचे और लगभग 10.50 बजे अपराह्न में इस साक्षी ने ड्यूटी आफिसर पुलिस निरीक्षक, जोशी को घटना के बारे में सूचित किया और अभियुक्त सुनील चंदनशिवा और रक्तरंजित छुरी की अभिरक्षा घनश्याम पवार को पुलिस थाने ले जाने के लिए सौंपी, जबकि वह अस्पताल में रुका रहा ।

इस साक्षी ने यह भी कथन किया कि उसने मृतक द्वारा बताए अनुसार हमलावर सुनील काशीनाथ चंदनशिवा, अनिल गाडेकर, विष्णु बुले और संदीप भोसले के नाम अपनी मामला डायरी में लिखे थे । उसने आगे यह अभिसाक्ष्य दिया कि आहत जगदीश हिंगेन की मृत्यु 11.23 बजे अपराह्न में हुई थी । उसके पश्चात्, अभि. सा. 11 और घनश्याम पवार अभियुक्त सं. 1 को मुलंद पुलिस थाने लेकर गए । अभियुक्त सं. 4 की ओर से की गई प्रतिपरीक्षा में अभि. सा. 11 ने यह कथन किया कि :–

> "यह सत्य नहीं है कि मैं यह मिथ्या अभिसाक्ष्य दे रहा हूं कि क्षतिग्रस्त ने मुझे हमलावरों के नामों का प्रकटीकरण किया था और मैंने उन्हें अपनी पॉकेट डायरी में लिखा था । पुलिस निरीक्षक श्री माणे ने मेरा कथन अभिलिखित करते समय मेरी पॉकेट डायरी अभिगृहीत नहीं की थी ।"

21. जहां तक अन्य साक्षियों का संबंध है, जिन्होंने अभियोजन पक्षकथन का समर्थन किया है, उनमें अभि. सा. 3 से 8 वस्त्रों, रक्त, मिट्टी के नमूनों और आयुधों के अभिग्रहण के पंच साक्षी हैं और उन्होंने अलग-अलग पंचनामों पर अपने हस्ताक्षर होने की बात स्वीकार की है ।

22. डा. तपन भट्टाचारजी (अभि. सा. 17) ने, जो वह डाक्टर है जिसने अभियुक्त सं. 5 (विष्णु मारुति बुले) का परीक्षण किया था, यह कथन किया कि अभियुक्त को दाईं हथेली में दर्द था । तद्नुसार, उसने क्षति-प्रमाणपत्र तैयार किया, जिसे उसके द्वारा न्यायालय में स्वीकार किया गया है । उसने यह भी कथन किया है कि विष्णु के शरीर पर क्षति साधारण प्रकृति की थी । तथापि, इस साक्षी द्वारा न्यायालय में विष्णु की शनाख्त नहीं की गई ।

23. डा. सुनील मोहनराव जावले (अभि. सा. 18) ने, जो वह डाक्टर है जिसने मृतक के शव की मरणोत्तर परीक्षा की थी, यह कथन किया कि मृतक को 27 क्षतियां पहुंची थीं । उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह भी कथन किया कि क्षति सं. 1 से 5 उसके सिर पर पहुंची थीं । उसने यह भी कथन किया कि मृत्यु कारित होने का कारण बहु क्षतियों की वजह से अत्यधिक रक्त बह जाना था क्योंकि क्षति सं. 6 और 7 के सिवाय सभी क्षतियां रक्तस्राव क्षतियां थीं । ऐसी क्षतियां मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थीं और यदि उन क्षतियों से कारित व्यक्ति को 5-10 मिनट के अंदर-अंदर तुरंत उपचार नहीं दिया जाता है तो उसकी मृत्यु हो सकती है ।

24. अमरनाथ मुनोली (अभि. सा. 19) ने यह कथन किया है कि उसने क्षतिग्रस्त विट्ठल हिंगेन (अभि. सा. 2) का परीक्षण किया था और पुलिस अधिकारियों को यह सूचित किया था कि वह कथन करने के लिए उपयुक्त मानसिक हालत में है और एक पृष्ठांकन भी किया था । इस साक्षी ने उस पृष्ठांकन की पहचान की और उस पर अपने हस्ताक्षरों को स्वीकार किया । उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया कि जब क्षतिग्रस्त द्वारा ऐसा कथन किया गया था तब वह रोगी के पास नहीं था ।

25. डा. सूरज कुमार अग्रवाल (अभि. सा. 20) ने यह कथन किया कि उसने क्षतिग्रस्त विट्ठल हिंगेन (अभि. सा. 2) की शल्य-क्रिया की थी । कथन (प्रदर्श 23) उसकी मौजदूगी में किया गया था और उसके द्वारा इसका भी पृष्ठांकन किया गया था । उक्त साक्षी ने इस बात से इनकार किया कि प्रदर्श 23 और 69 पर उसके हस्ताक्षर नहीं हैं (उसने ऐसे कथन पर पृष्ठांकन नहीं किया था और इसे ऊपर यथा उल्लिखित साक्षी द्वारा पृष्ठांकित किया गया था) ।

26. दिलीप बापूराव थोरट (अभि. सा. 21) ने अभियुक्त संदीप भोसले को गिरफ्तार किया था और उसका गिरफ्तारी पंचनामा तैयार किया था तथा उसने न्यायालय में अभियुक्त की शनाख्त भी की । इस साक्षी ने तारीख 13 दिसम्बर, 2006 को अभियुक्त विष्णु बुले (अभियुक्त सं. 5) और अनिल गाडेकर को भी पकड़ा और उनके वस्त्र अभिगृहीत किए तथा पंचनामा तैयार किया था ।

27. सुसंगत समय पर, श्रीकांत किशनजी रामदास (अभि. सा. 22) मुलंद पुलिस थाने में पुलिस उप-निरीक्षक की ड्यूटी पर था, जहां अभियुक्त सुनील (अभियुक्त सं. 1) को अभिरक्षा में लाया गया था, पंचनामा बनाया गया था और वस्त्र अभिगृहीत किए गए थे । इस साक्षी ने यह कथन किया कि उसने अभियुक्त सुनील को गिरफ्तार किया था और थाना डायरी में इसकी प्रविष्टि की थी । उसने यह भी स्वीकार किया कि पुलिस कांस्टेबल, लाडसे (अभि. सा. 11) ने उसके समक्ष अभियुक्त और छुरी पेश की थी ।

28. डा. अनिरुद्ध गोखले (अभि. सा. 23) सियोन अस्पताल में ड्यूटी पर तैनात चिकित्सा अधिकारी है । उक्त साक्षी ने यह कथन किया कि उसने यह पृष्ठांकन किया था कि विट्ठल कथन करने के लिए उपयुक्त मानसिक हालत में है ।

29. मधुसूदन मलहार जोशी (अभि. सा. 24) ने यह कथन किया कि

घटना के बारे में जानकारी मिलने के पश्चात् वह पुलिस कांस्टेबल, लाडसे के साथ मुलंद सामान्य अस्पताल के लिए रवाना हुआ था । उसने यह कथन किया कि वहां दो क्षतिग्रस्त व्यक्ति मौजूद थे । इसके पश्चात्, इस साक्षी ने यह कथन किया कि क्षतिग्रस्त विट्ठल को उपचार के लिए सियोन अस्पताल ले जाया गया था । इसके पश्चात्, इस साक्षी ने यह कथन किया कि डाक्टर की अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के पश्चात् विट्ठल का कथन अभिलिखित किया गया था और कथन करने के लिए उसकी उपयुक्त मानसिक हालत की बाबत पृष्ठांकन किया गया था । इस साक्षी ने विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया कि घटना की बाबत रिपोर्ट मजिस्ट्रेट को 24 घंटे के भीतर भेजी गई थी ।

30. अनंत माणा (अभि. सा. 25) पुलिस निरीक्षक, विशेष शाखा है । उसने यह कथन किया कि उसे पुलिस निरीक्षक, जोशी द्वारा घटना के बारे में सूचित किया गया था और उसने सियोन अस्पताल में सुनील नामक एक अभियुक्त को देखा था और अभि. सा. 11 द्वारा उसे अन्य हमलावरों के नाम सूचित किए गए थे । इस साक्षी ने यह भी कथन किया कि उसकी मौजूदगी में एक अभियुक्त अनिल ने स्वेच्छया कथन किया था और उसके बताने पर अपराध में प्रयुक्त आयुध की बरामदगी की गई थी । उसने यह कथन किया कि चूंकि आहत, विजय को जानता था, इसलिए उसने शनाख्त परेड संचालित करने की आवश्यकता नहीं समझी । उसने विनिर्दिष्ट रूप से यह कथन किया कि अभियुक्त सं. 2 और 3 को मिथ्या मामले में नहीं फंसाया गया है ।

31. तथ्यात्मक पृष्ठभूमि में, हम अभियुक्तों की ओर से दी गई कई दलीलों पर विचार करना चाहेंगे । अभियुक्तों की ओर से विनिर्दिष्ट रूप से यह दलील दी गई है कि अभि. सा. 2 ने प्रारंभिक कथन में विनिर्दिष्ट रूप से अभियुक्तों के नाम प्रकटित नहीं किए थे और न ही अभियुक्तों की अलग-अलग भूमिका का उल्लेख किया था, जबकि अभि. सा. 2 का यह पक्षकथन है कि अभियुक्त एक-दूसरे की जान-पहचान वाले हैं । इसके अतिरिक्त, अभि. सा. 2 ने अभियुक्तों के नाम का प्रकटन घटना के कुछ दिनों के पश्चात् एक अनुपूरक कथन द्वारा अभियुक्तों को पूर्व दुश्मनी के कारण फंसाने के आशय से किया था । इस विशिष्ट दलील का मूल्यांकन करने के लिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के भाग को (अनुदित) उद्धृत करना उचित होगा :–

"तथ्य यह है कि उल्लिखित तारीख, समय और स्थान पर इसमें

वर्णित सभी छह अभियुक्त व्यक्तियों ने अवैध जमाव किया, खतरनाक आयुध जैसे चाकू, छुरी, तलवार, दरांती आदि धारण किए, जगदीश नारायण हिंगेन नामक मृतक व्यक्ति, आयु 26 वर्ष, पर प्राणांतक हमला किया और उसकी हत्या कर दी । इसी प्रकार, उन्होंने उसके भाई विट्ठल नारायण हिंगेन पर हमला किया और उसे गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त कर दिया । इसलिए, उनके विरुद्ध अपराध फाइल किया जाता है ।"

32. इस तथ्य के विषय में कोई विवाद नहीं है कि अभियोजन का संपूर्ण पक्षकथन अभि. सा. 2 और अभि. सा. 11 के साक्ष्य पर निर्भर करता है, जोकि घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं । स्वीकृततः, अभि. सा. 2 के कथन के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई थी और उसने प्रारंभ में अभियुक्तों के नाम प्रकटित नहीं किए थे । उसने बाद में एक अनुपूरक कथन में घटना के ब्यौरों का वर्णन किया था ।

33. प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का महत्व प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । जब कोई व्यक्ति पुलिस अधिकारी को कोई कथन करता है, तो उसके आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की जाती है । बातों को दोहराने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग होती है । कुछ लोगों में बातों को हू-ब-हू दोहराने का सामर्थ्य हो सकता है, कुछ में ऐसा करने के सामर्थ्य की कमी हो सकती है । कभी-कभी सदमे की दशा में, वे महत्वपूर्ण ब्यौरों को बताने में चूक कर सकते हैं, क्योंकि लोगों का जब किसी हिंसात्मक कृत्य से सामना होता है तो भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करने के लिए प्रवृत्त होते हैं । केवल इस कारण कि अभियुक्तों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया है और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उनके नाम विनिर्दिष्ट नहीं हैं, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तुओं पर संदेह करने का आधार नहीं हो सकता है और इस आधार पर अभियोजन के पक्षकथन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । किसी का भी यह पक्षकथन नहीं है कि अभि. सा. 2 क्षतिग्रस्त नहीं हुआ था और हमलावरों द्वारा कारित क्षतियों के कारण कुछ समय के लिए अस्पताल में भर्ती नहीं हुआ था और उसने अपने भाई को भी खो दिया था । यह अत्यधिक अधिसंभाव्यता है कि उसने शिकायत रजिस्ट्रीकृत करने के प्रयोजन के लिए एक साधारण कथन किया होगा, जिसे पुलिस द्वारा घटना घटने के कुछ घंटों के पश्चात् ही अभिलिखित किया गया था । बाद में, जब एक बार वह सदमे से बाहर आ गया, तो उसका अनुपूरक कथन अभिलिखित किया गया था और तब उसने अभियुक्तों के नाम प्रकट किए

थे और प्रत्येक अभियुक्त को उसके प्रत्यक्ष कृत्य से संबद्ध किया था । यह स्थिर विधि है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को एक विश्वकोश होने की आवश्यकता नहीं है, जिसमें उन छोटे-छोटे ब्यौरों और दृष्टांतों को प्रस्तुत किया जाए कि अपराध कैसे किया गया था । इसलिए, उपरोक्त चर्चा को देखते हुए हम अभियुक्तों की ओर से दी गई दलील में बल नहीं पाते हैं और इसे दोनों न्यायालयों द्वारा ठीक ही नामंजूर किया गया है ।

34. अभियुक्तों की ओर से विद्वान् अधिवक्ताओं द्वारा यह तर्क दिया गया है कि कोई शनाख्त परीक्षण परेड नहीं की गई थी और अभि. सा. 2 ने पहली बार न्यायालय में अभियुक्तों की शनाख्त की थी और यह बात अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक है । अभि. सा. 2 के साक्ष्य के अनुसार, अभियुक्त उसकी जान-पहचान के हैं और अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अर्थात् अभि. सा. 11 ने कभी यह कथन नहीं किया कि उसने हमलावरों के चेहरे देखे थे । शनाख्त परीक्षण परेड आयोजित करने की आवश्यकता केवल तब उद्‌भूत होती है जब अभियुक्त एक-दूसरे के पहले से जानने वाले न हों । शनाख्त परीक्षण परेड एक सारभूत साक्ष्य नहीं है, अपितु अन्य साक्ष्य की संपुष्टि करने के लिए उपयोगी होती है । यह एक प्रज्ञा का नियम है । शनाख्त परीक्षण परेड को, भले ही आयोजित किया गया हो, सभी मामलों में ऐसे विश्वसनीय साक्ष्य के रूप में नहीं समझा जा सकता है, जिसके आधार पर अभियुक्तों की दोषसिद्धि को कायम रखा जा सके । प्रस्तुत मामले में, शनाख्त परीक्षण परेड के अभाव में अभियोजन का पक्षकथन दूषित नहीं हो जाएगा क्योंकि अभियुक्त और अभि. सा. 2 एक-दूसरे को जानते थे ।

35. हम पहले अभियुक्त सं. 2 और 3 के मामले पर और इसके पश्चात् अभियुक्त सं. 1, 5 और 6 के मामले पर विचार करना चाहेंगे । विवाद्यक जो विचार करने के लिए उत्पन्न होता है, यह है कि क्या निचले न्यायालय ने अभियुक्तों को दोषसिद्ध करके ठीक किया है, क्या अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों के दोष को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित किया है ? हमें इस तथ्य का भान है कि जो स्वर्णिम सूत्र हमारे दांडिक न्यायशास्त्र में आद्योपांत प्रचलित है, वह "युक्तियुक्त संदेह के परे" का मानदंड है, विशिष्ट रूप से, इस मामले में, जहां कतिपय साक्ष्यों को न्यायालय के समक्ष अभिलेख पर नहीं लाया गया है ।

36. अभियोजन का पक्षकथन यह है कि मृतक ने सुनील काशीनाथ चंदनशिवा (अभि.-1), अनिल गाडेकर (अभि.-6), विष्णु बुले (अभि.-5) और

संदीप भोसले (अभि.-4) के नाम हमलावरों के रूप में लेते हुए अभि. सा. 11 को कथन किया था । इस विशिष्ट कथन को अभियोजन साक्ष्य का भाग नहीं बनाया गया था । यहां तक कि अभि. सा. 11 को किए गए उसके कथन में अभियुक्त सं. 2 और 3 के नाम का भी उल्लेख नहीं है । राज्य द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि न्यायालय को ऐसे साक्ष्य को विचार में नहीं लेना चाहिए क्योंकि ऐसे कथन का विधि की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है । हम इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकते हैं कि इस दस्तावेज को स्पष्ट तौर पर छिपाया गया है क्योंकि राज्य वह कारण स्पष्ट करने में असफल रहा है कि क्यों ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सका था । यद्यपि मामला डायरी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं गई थी, किंतु ऐसा दस्तावेज विद्यमान होने की संभाव्यता का समर्थन अभि. सा. 11 के साक्ष्य द्वारा किया गया है, जिससे हमारे मस्तिष्क में अभियुक्त सं. 2 और 3 को फंसाने के संबंध में संदेह उत्पन्न होता है ।

37. अभि. सा. 11 के साक्ष्य, मृतक के कथन, इस तथ्य को कि अभियुक्त सं. 2 और 3 से आयुध बरामद नहीं हुए थे, इन अभियुक्तों के वस्त्रों पर कोई रक्त के धब्बे नहीं पाए गए थे और साथ-ही-साथ घटना के तुरंत पश्चात् अभियुक्त सं. 2 और 3 की गिरफ्तारी और उनकी पुलिस थाने में मौजूदगी को ध्यान में रखते हुए, इन अभियुक्तों की अंतर्ग्रस्तता के संबंध में संदेह उत्पन्न होता है । अभियुक्त सं. 3 का यह भी पक्षकथन है कि अभि. सा. 2 को पूर्व में एक मामले में उनके साक्ष्य के आधार पर दोषसिद्ध किया गया था ।

38. विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय दोनों ने अभियुक्त सं. 2 और 3 को दोषी पाया है । उच्च न्यायालय के निष्कर्ष को उद्धृत करना आवश्यक है :–

> "हमारी सुविचारित राय में, इस दलील को अभिलेख पर अभि. सा. 2, विट्ठल के जबरदस्त परिसाक्ष्य को देखते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता है, जिसने अपने और भाई पर अभियुक्तों द्वारा अपने हाथों में लिए हुए आयुधों से हमला करने के बारे में स्पष्ट रूप से साक्ष्य दिया है । तुरंत दर्ज कराई गई शिकायत में भी उनके नाम का उल्लेख है । अभिलेख पर के साक्ष्य से भी साबित होता है कि सभी अभियुक्त साथ-साथ घटनास्थल पर आए और अभि. सा. 2, विट्ठल और उसके भाई जगदीश दोनों पर एक-साथ हमला करना आरंभ कर

दिया । अतः, मृतक जगदीश मानसिक आघात और गंभीर हालत में था, केवल उसी कारण उसने अभि. सा. 11 को वह मौखिक मृत्युकालीन कथन किया था । केवल इस कारण कि उसने इन दोनों अभियुक्तों द्वारा कारित किए गए विनिर्दिष्ट स्पष्ट-कृत्य के बारे में उल्लेख नहीं किया था, उन्हें संदेह का फायदा देने के लिए उनके मामले में भेद नहीं किया जा सकता है । उनकी घटनास्थल पर मौजूदगी और उनकी हमला करने में सह-अपराधिता को साबित किया गया ठहराया जाना आवश्यक है ।"

39. इस पहलू पर विचारण न्यायालय के निष्कर्ष को भी उद्धृत करना सुसंगत है :–

"अभिलेख पर लाए गए तथ्यों और साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि सभी अभियुक्त व्यक्तियों ने जगदीश हिंगेन और विट्ठल हिंगेन की हत्या करने के सामान्य उद्देश्य के साथ एक विधिविरुद्ध जमाव का गठन किया और सुसंगत तारीख और समय पर आक्रामक आयुधों से उन पर आक्रमण किया और उन्हें गंभीर शारीरिक क्षतियां कारित की, जिसके परिणामस्वरूप जगदीश नारायण हिंगेन की मृत्यु हुई । विट्ठल हिंगेन के साक्ष्य के अनुसार, अभियुक्त सुनील चंदनशिवा, लतेश कार्लेकर और विजय निर्मल **उर्फ** इस्त्रीवाला ने जगदीश हिंगेन पर हमला किया था और इसलिए वे उसकी मृत्यु के कर्ता हैं । इसी प्रकार, अभियुक्त संदीप भोसले, विशाल बुले और अनिल गाडेकर ने विट्ठल हिंगेन पर हमला किया था और उसके शरीर के मार्मिक अंगों पर घोंपने के घाव और गंभीर शारीरिक क्षतियां कारित की थीं और इस प्रकार मुझे यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि अभियोजन पक्ष ने अपने पक्षकथन को साबित किया है ।"

40. मृतक ने पुलिस को कथन किया था और उक्त कथन को किन कारणों से अभियोजन के साक्ष्य का भाग नहीं बनाया गया, इसकी सर्वोत्तम जानकारी उन्हीं को है । मृतक ने उक्त कथन में अभियुक्त सं. 2 और 3 के नाम नहीं लिए थे, दूसरी बात यह कि अभि. सा. 2 ने अनुपूरक कथन में उनके नाम बताए थे, किंतु उसने उनके द्वारा प्रयुक्त किसी आयुध के साथ विनिर्दिष्ट रूप से उन्हें संबद्ध नहीं किया है । अभि. सा. 11 ने अभियुक्त सं. 2 और 3 को किसी स्पष्ट-कृत्य के लिए भी उत्तरदायी नहीं ठहराया है । अन्वेषण के दौरान, अभि. सा. 2 और 3 के वस्त्रों को विशेषज्ञ की राय के लिए भेजा गया था और इससे यह प्रकट हुआ कि वस्त्रों पर

रक्त के कोई धब्बे नहीं थे । उनसे कोई आयुध बरामद नहीं किया गया था । अभि. सा. 2 के मौखिक साक्ष्य के सिवाय अभियुक्त सं. 2 और 3 को अपराध से जोड़ने के लिए अभिलेख पर कोई अन्य साक्ष्य नहीं है । स्वतंत्र संपुष्टि के बिना अभि. सा. 2 के मौखिक परिसाक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती है । दोनों न्यायालयों ने किसी ऐसे साक्ष्य के बिना, जो इन अभियुक्तों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे इंगित करता हो, इन्हें दोषी ठहराकर गलत किया है । अभियोजन पक्ष को अभियुक्त की दोषिता को सभी युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करना चाहिए । अभियुक्त का यह परम अधिकार है कि उसे ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्ध न किया जाए, जिसे युक्तियुक्त संदेह के परे वाले सबूत के साक्ष्यिक मानदंड द्वारा सिद्ध नहीं किया गया है । विधि अभियुक्त को संदेह या अधिसंभाव्यता की प्रबलता के आधार पर दोषसिद्ध करने के लिए अनुज्ञा नहीं देती है ।

41. हमारी राय में, कुशाग्र बुद्धि किसी बात पर भी संदेह व्यक्त कर सकती है और दूसरी ओर, ऐसा कुछ नहीं है जिसे वह भरोसा न दिला सकती हो । जब आप तथ्यों पर विचार करें, तो आपको युक्तियुक्त संदेह हो कि मामला साबित हुआ है नहीं या इस अर्थ में क्या यह युक्तियुक्त संदेह है या नहीं । किसी संदेह की युक्तियुक्तता अवश्य ही व्यवहार्य होनी चाहिए और अमूर्त सैद्धांतिक परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं होनी चाहिए । युक्तियुक्तता एक सद्‌गुण है जो अत्यधिक सावधानी और अत्यधिक उदासीनता के बीच एक साधन का गठन करती है ।

42. उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह राय है कि अभियोजन पक्ष अभियुक्त सं. 2 और 3 के विरुद्ध मामले को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करने में असफल रहा है ।

43. अन्य अभियुक्तों से संबद्ध भूमिका पर आते हैं । अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि अभियुक्त विष्णु बुले (अभि.-5), अनिल गाडेकर (अभि.-6) और संदीप भोसले (अभि.-4) ने उसकी दाईं कलाई, उसके आंख के पास और उदर पर हमला किया था, जबकि अभियुक्त सुनील काशीनाथ चंदनशिवा (अभि.-1), लतेश (अभि.-3) और विजय **उर्फ** इस्त्रीवाला (अभि.-2) ने उसके भाई पर उसके सिर और हाथों पर हमला किया था । यह स्थिर विधि है कि मौखिक साक्ष्य की तब तक चिकित्सीय साक्ष्य पर पूर्विकता बनी रहती है जब तक कि चिकित्सीय साक्ष्य से ऐसी घटना की किसी संभाव्यता का पूरी तरह खंडन नहीं कर दिया जाता है ।

[**राकेश और एक अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1], **काथी भरत वाजसुर और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य**[2] और **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **हरि चंद**[3] वाले मामले देंखे ।] साक्ष्य की अनुरूपता को सिद्ध करने के लिए तथा निष्कर्ष को और अधिक पुष्ट करने के लिए, हम चिकित्सीय परीक्षण के दौरान मृतक के शरीर पर पाई गई क्षतियों का अवलोकन कर सकते हैं । क्षति सं. 1 (टांके लगा हुआ घाव), क्षति सं. 2 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 3 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 4 (विदीर्ण घाव) और क्षति सं. 5 (विदीर्ण घाव) सिर पर मौजूद हैं । जबकि क्षति सं. 7 (नील), क्षति सं. 8 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 9 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 10 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 11 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 12 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 13 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 18 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 19 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 21 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 22 (विदीर्ण घाव), क्षति सं. 23 (विदीर्ण घाव) और क्षति सं. 24 (कटा हुआ घाव) मृतक पर कारित की गई पाई गईं थीं । हमने यह पाया है कि अभि. सा. 2 द्वारा अभियुक्तों पर आरोपित की गई क्षतियां किसी धारदार आयुध से पहुंचाई जा सकती हैं । अभि. सा. 18 (डा. सुनील मोहनराव जावले) ने भी यह राय व्यक्त की है कि "मृत्यु खोपड़ी की हड्डियों के अस्थिभंग के रूप में सिर पर क्षति के साथ-साथ अंतःकपालीय रक्तस्राव और घोंपने के घावों तथा बहु विदीर्ण घावों (अस्वाभाविक) की वजह से पहुंचे सदमे के कारण हुई थी" । तथ्य यह है कि अभियुक्त सं. 1 छुरी (धारदार आयुध) सहित रंगे-हाथों पकड़ा गया था, जिसकी संपुष्टि गिरफ्तारी, आयुधों और वस्त्रों की बरामदगी के पंच साक्षी अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य के साथ-साथ विशेषज्ञ साक्ष्य से भी होती है । इस प्रकार, अभियोजन पक्ष ने निश्चयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करके अभियुक्त सं. 1 की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे सफलतापूर्वक साबित किया है ।

44. अभियुक्त सं. 5 और 6 की अंतर्ग्रस्तता पर आते हैं । वे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तथा मृतक द्वारा किए गए अभिकथित मौखिक मृत्युकालिक कथन में नामित हैं । आयुधों की बरामदगी से भी इनके मामले का समर्थन होता है और अभियोजन साक्षियों के कथन संगत हैं, जो अभियुक्तों की दोषिता को इंगित करते हैं । इन अभियुक्तों की ओर से काउंसेलों ने यह

---

[1] (2011) 9 एस. सी. सी. 698.

[2] (2012) 5 एस. सी. सी. 724.

[3] (2009) 13 एस. सी. सी. 542.

निवेदन करने की कोशिश की कि अभि. सा. 2 के साक्ष्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसके कथन और न्यायालय के समक्ष उसके साक्ष्य में विरोधाभास हैं । उन्होंने यह निवेदन किया कि अभि. सा. 2 ने घटना के दिन अभियुक्तों की अलग-अलग भूमिका का उल्लेख नहीं किया था । डाक्टर के साक्ष्य और मृतक को पहुंची क्षतियों से स्पष्ट तौर पर अभियुक्त सं. 5 और 6 की दोषिता सिद्ध होती है तथा, जैसा कि हमारे द्वारा पहले ही मत व्यक्त किया गया है, मात्र किसी अभियुक्त के विशिष्ट स्पष्ट-कृत्य का उल्लेख न करना अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक नहीं होगा । प्रत्येक दांडिक विचारण में, घटना की तारीख और न्यायालय के समक्ष साक्षियों के अभिसाक्ष्यों के बीच लंबी अवधि बीतने के कारण, प्रसामान्यतः, फर्कों का आना लाजिमी है । जब विरोधाभास बहुत गंभीर हों और कथन की सत्यता के बारे में न्यायालय के मस्तिष्क में संदेह पैदा करते हों, तब ऐसे साक्ष्य का अवलंब लेना सुरक्षित नहीं है । हमारा यह विचार है कि इस मामले से संबंधित साक्ष्य में विरोधाभास बहुत ही तुच्छ प्रकृति के हैं और इनसे अभियोजन के पक्षकथन पर असर नहीं पड़ेगा ।

45. अभि. सा. 2 को कारित क्षतियों का अवलोकन करते हैं । क्षति प्रमाणपत्र (प्रदर्श सं. 20) से यह देखा जा सकता है कि क्षति सं. 1 (माथे पर विदीर्ण घाव), दूसरी क्षति (दाएं प्रबाहु पर विदीर्ण घाव) और तीसरी क्षति (दाएं जठर पर विदीर्ण घाव के साथ वपाजाल बाहर की ओर आया हुआ है) । ऊपर उल्लिखित सभी परिस्थितियों के साथ-साथ साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् हमारी यह सुविचारित राय है कि अभियोजन के पक्षकथन से स्पष्ट तौर पर अभियुक्त सं. 5 और 6 की अंतर्ग्रस्तता और दोषिता युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध होती है ।

46. अंत में, अभियुक्त सं. 1 की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल ने यह दलील दी कि घनश्याम पवार की परीक्षा न करना अभियोजन पक्ष के लिए घातक है । हम इस दलील से सहमत नहीं हैं क्योंकि अभियोजन पक्ष को किसी साक्षी को अपनी प्रज्ञा के आधार पर पेश करने का विवेकाधिकार है । इस मामले के संपूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों में, अभियुक्त सं. 1 की गिरफ्तारी और आयुध के अभिग्रहण के तथ्य को अभि. सा. 11 द्वारा और अभिलेख के अन्य साक्ष्य से निश्चायक रूप से सिद्ध किया गया है । इसलिए, हमारी यह सुविचारित राय है कि पूर्वोक्त दलील भी गुणता-रहित है ।

47. उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह सहमति है कि अभियुक्त सं. 2 और 3 के विरुद्ध मामला युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध नहीं किया गया है, जबकि यह बात अन्य अभियुक्तों की बाबत नहीं कही जा सकती है, जिनकी भूमिकाएं अभिलेख पर उपलब्ध निश्चयात्मक साक्ष्य से साबित की गईं हैं । इसलिए, अभियुक्त सं. 2 और 3 के विरुद्ध दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त करते हुए, हम अभियुक्त सं. 1 की बाबत भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश तथा अभियुक्त सं. 5 और 6 की बाबत भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखते हैं । तद्नुसार, हम संबंधित प्राधिकारियों को अभियुक्त सं. 2 और 3 को, यदि उनकी किसी अन्य मामले में आवश्यकता नहीं है, तुरंत रिहा करने का निदेश देते हैं ।

48. इन अपीलों का पूर्वोक्त निबंधनों के अनुसार निपटारा किया जाता है ।

अपीलों का निपटारा किया गया ।

जस.

संसद् के अधिनियम

अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 2001

(2001 का अधिनियम संख्यांक 45)

[14 सितम्बर, 2001]

अधिवक्ताओं के फायदे के लिए एक कल्याण निधि का गठन करने और उससे संबंधित या उसके आनुषंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए अधिनियम

भारत गणराज्य के बावनवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

अध्याय 1

प्रारंभिक

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारंभ – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 2001 है ।

(2) इसका विस्तार संपूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस तारीख* को प्रवृत्त होगा जो केन्द्रीय सरकार, अधिसूचना द्वारा, नियत करे ; और इस अधिनियम के भिन्न-भिन्न उपबंधों के लिए और भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए भिन्न-भिन्न तारीखें नियत की जा सकेंगी और ऐसे किसी उपबंध में इस अधिनियम के प्रारंभ के प्रति निर्देश का किसी राज्य के संबंध में यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह उस राज्य में उस उपबंध के प्रवृत्त होने के प्रति निर्देश है ।

2. परिभाषाएं – इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

(क) "अधिवक्ता" से कोई ऐसा अधिवक्ता अभिप्रेत है जिसका नाम अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) की धारा 17 के अधीन किसी राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा तैयार की गई और रखी गई नामावली में दर्ज किया गया है और जो किसी राज्य विधिज्ञ संगम या

---

* 1-11-2001, उन राज्यों के सिवाय, जिनमें अनुसूची-2 में विनिर्दिष्ट अधिनियमितियां लागू हैं सम्पूर्ण भारत में । देखिए अधिसूचना सं. का. आ. 946 (अ), तारीख 26-9-2001, भारत का राजपत्र, असाधारण, भाग 2, खण्ड 3(ii), तारीख 26-9-2001.

राज्य अधिवक्ता संगम का सदस्य है ;

(ख) "समुचित सरकार" से अभिप्रेत है, –

(i) किसी राज्य की विधिज्ञ परिषद् की नामावली में सम्मिलित अधिवक्ताओं की दशा में राज्य सरकार ;

(ii) किसी संघ राज्य क्षेत्र की विधिज्ञ परिषद् की नामावली में सम्मिलित अधिवक्ताओं की दशा में केन्द्रीय सरकार ;

(ग) "विधि व्यावसाय बंद किया जाना" से अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) की धारा 26क के अधीन राज्य नामावली से किसी अधिवक्ता के नाम का हटाया जाना अभिप्रेत है ;

(घ) "अध्यक्ष" से धारा 4 की उपधारा (3) के खंड (क) में निर्दिष्ट न्यासी समिति का अध्यक्ष अभिप्रेत है ;

(ङ) "चार्टर्ड अकाउंटेंट" से चार्टर्ड अकाउंटेंट अधिनियम, 1949 (1949 का 38) की धारा 2 की उपधारा (1) के खंड (ख) में यथापरिभाषित ऐसा चार्टर्ड अकाउंटेंट अभिप्रेत है जिसने उस अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (1) के अधीन व्यवसाय का प्रमाणपत्र प्राप्त किया हो ;

(च) "आश्रितों" से निधि के किसी सदस्य के पति या पत्नी, माता-पिता या अवयस्क संतान अभिप्रेत हैं ;

(छ) "निधि" से धारा 3 की उपधारा (1) के अधीन गठित अधिवक्ता कल्याण निधि अभिप्रेत है ;

(ज) "बीमाकर्ता" का वही अर्थ है जो बीमा अधिनियम, 1938 (1938 का 4) की धारा 2 के खंड (9) में है ;

(झ) "निधि का सदस्य" से निधि के फायदों के लिए सम्मिलित ऐसा अधिवक्ता अभिप्रेत है जो इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन उसके सदस्य के रूप में बना रहता है ;

(ञ) "अधिसूचना" से समुचित सरकार के राजपत्र में प्रकाशित अधिसूचना अभिप्रेत है और "अधिसूचित" पद का तद्नुसार अर्थ लगाया जाएगा ;

(ट) "विहित" से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों

द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

(ठ) "अनुसूची" से इस अधिनियम की अनुसूची अभिप्रेत है ;

(ड) "अनुसूचित बैंक" का वही अर्थ है जो भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 (1934 का 2) की धारा 2 के खंड (ड) में है ;

(ढ) "स्टांप" से धारा 26 के अधीन मुद्रित और वितरित अधिवक्ता कल्याण निधि स्टांप अभिप्रेत है ;

(ण) "राज्य" से संविधान की पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट राज्य अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत संघ राज्यक्षेत्र भी है ;

(त) "राज्य अधिवक्ता संगम" से धारा 16 के अधीन किसी राज्य की विधिज्ञ परिषद् द्वारा मान्यताप्राप्त उस राज्य में कोई अधिवक्ता संगम अभिप्रेत है ;

(थ) "राज्य विधिज्ञ संगम" से धारा 16 के अधीन किसी राज्य में, उस राज्य की विधिज्ञ परिषद् द्वारा मान्यताप्राप्त अधिवक्ताओं का संगम अभिप्रेत है ;

(द) "राज्य विधिज्ञ परिषद्" से अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) की धारा 3 में निर्दिष्ट कोई विधिज्ञ परिषद् अभिप्रेत है ;

(ध) "विधि व्यवसाय का निलंबन" से अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय का स्वैच्छिक निलंबन या अवचार के लिए किसी राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा किसी अधिवक्ता का निलंबन अभिप्रेत है ;

(न) "न्यासी समिति" से धारा 4 की उपधारा (1) के अधीन स्थापित अधिवक्ता कल्याण निधि न्यासी समिति अभिप्रेत है ;

(प) "वकालतनामा" के अंतर्गत उपसंजाति ज्ञापन या कोई अन्य दस्तावेज आता है जिसके द्वारा कोई अधिवक्ता किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष उपसंजात होने या अधिवाक् करने के लिए सशक्त किया गया है ;

(फ) उन शब्दों और पदों के, जो इस अधिनियम में प्रयुक्त हैं और परिभाषित नहीं हैं किन्तु अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) में परिभाषित हैं, वही अर्थ होंगे जो क्रमशः उनके उस अधिनियम में हैं ।

अध्याय 2

अधिवक्ता कल्याण निधि का गठन

3. अधिवक्ता कल्याण निधि – (1) समुचित सरकार, एक कल्याण निधि का गठन करेगी जिसका नाम "अधिवक्ता कल्याण निधि" होगा ।

(2) निधि में निम्नलिखित जमा किया जाएगा :–

(क) धारा 15 के अधीन राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा संदत्त सभी रकमें ;

(ख) राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा किया गया कोई अन्य अभिदाय ;

(ग) भारतीय विधिज्ञ परिषद्, किसी राज्य विधिज्ञ संगम, किसी राज्य अधिवक्ता संगम या अन्य संगम या संस्था या किसी अधिवक्ता या अन्य व्यक्ति द्वारा निधि को किया गया कोई स्वैच्छिक संदान या अभिदाय ;

(घ) कोई ऐसा अनुदान जो इस निमित्त किए गए सम्यक् विनियोग के पश्चात् केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा निधि को किया जाए ;

(ङ) धारा 12 के अधीन उधार ली गई कोई राशि ;

(च) धारा 18 के अधीन संगृहीत सभी राशियां ;

(छ) निधि के किसी सदस्य की मृत्यु पर, किसी समूह बीमा पालिसी के अधीन भारतीय जीवन बीमा निगम या किसी अन्य बीमाकर्ता से प्राप्त सभी राशियां ;

(ज) निधि के सदस्यों की समूह बीमा पालिसियों की बाबत भारतीय जीवन बीमा निगम या किसी अन्य बीमाकर्ता से प्राप्त कोई लाभ या लाभांश या प्रतिदाय ;

(झ) निधि के किसी भाग से किए गए किसी विनिधान पर कोई ब्याज या लाभांश या अन्य प्रत्यागम ;

(ञ) धारा 26 के अधीन स्टांपों के विक्रय द्वारा संगृहीत सभी राशियां ।

(3) उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट राशि का संदाय या उनका संग्रहण ऐसे अभिकरणों द्वारा, ऐसे अंतरालों पर और ऐसी रीति से किया जाएगा, जो विहित की जाए ।

अध्याय 3

न्यासी समिति की स्थापना

4. न्यासी समिति की स्थापना – (1) ऐसी तारीख से जो समुचित सरकार अधिसूचना द्वारा, इस निमित्त नियत करे, एक न्यासी समिति की स्थापना की जाएगी जिसका नाम "अधिवक्ता कल्याण निधि न्यासी समिति" होगा ।

(2) न्यासी समिति एक निगमित निकाय होगी जिसका शाश्वत उत्तराधिकर और एक सामान्य मुद्रा होगी और जिसे संपत्ति का अर्जन, धारण और व्ययन करने की शक्ति होगी और जो उक्त नाम से वाद ला सकेगी और उसके विरुद्ध वाद लाया जा सकेगा ।

(3) न्यासी समिति निम्नलिखित से मिलकर बनेगी : –

(क) किसी राज्य का महाधिवक्ता परंतु जहां किसी राज्य का कोई महाधिवक्ता नहीं है वहां समुचित सरकार किसी वरिष्ठ अधिवक्ता को अध्यक्ष के रूप में नामनिर्दिष्ट करेगी,	– अध्यक्ष, पदेन ;
(ख) समुचित सरकार के अपने विधि विभाग या मंत्रालय का सचिव	– सदस्य, पदेन ;
(ग) समुचित सरकार के अपने गृह विभाग या मंत्रालय का सचिव	– सदस्य, पदेन ;
(घ) राज्य विधिज्ञ परिषद् का अध्यक्ष	– सदस्य, पदेन ;
(ङ) सरकारी प्लीडर या लोक अभियोजक जो समुचित सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किया जाए	– सदस्य ;
(च) दो अधिवक्ता, जो राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा	– सदस्य ;

नामनिर्दिष्ट किए जाएंगे

(छ) राज्य विधिज्ञ परिषद् का सचिव – सचिव, पदेन ।

(4) उपधारा (3) के खंड (क) के परन्तुक के अधीन नामनिर्दिष्ट अध्यक्ष, पद ग्रहण करने की तारीख से तीन वर्ष से अनधिक अवधि के लिए पद धारण करेगा ।

(5) उपधारा (3) के खंड (ङ) या खंड (च) के अधीन नामनिर्दिष्ट न्यासी समिति का प्रत्येक सदस्य पद ग्रहण करने की तारीख से तीन वर्ष से अनधिक अवधि के लिए पद धारण करेगा ।

5. न्यासी समिति के अध्यक्ष या सदस्य की निरर्हताएं और उसका हटाया जाना – (1) समुचित सरकार न्यासी समिति के अध्यक्ष या किसी ऐसे सदस्य को पद से हटाएगी, –

(क) जो अनुन्मोचित दिवालिया है या किसी समय इस रूप में न्यायनिर्णीत किया गया है ; या

(ख) जो न्यासी समिति के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में कार्य करने के लिए शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम हो गया है ; या

(ग) जो किसी ऐसे अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया है जिसमें समुचित सरकार की राय में नैतिक अधमता अन्तर्वलित है ; या

(घ) जिसने ऐसे वित्तीय या अन्य हित अर्जित कर लिए हैं जिससे न्यासी समिति के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में उसके कृत्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है ; या

(ङ) जिसने अपने पद का इस प्रकार दुरुपयोग किया है जिससे उसका पद पर बने रहना लोकहित के लिए हानिकर होगा ; या

(च) जो किसी समय न्यासी समिति के लगातार तीन से अधिक अधिवेशनों में न्यासी समिति की इजाजत के बिना अनुपस्थित है या रहा है :

परंतु न्यासी समिति, पर्याप्त आधारों पर ऐसे अध्यक्ष या सदस्य की अनुपस्थिति माफ कर सकेगी ।

(2) न्यासी समिति का अध्यक्ष या कोई सदस्य उपधारा (1) के खंड (घ) या खंड (ङ) के अधीन तब तक नहीं हटाया जाएगा जब तक उसे

सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो ।

6. न्यासी समिति के नामनिर्दिष्ट अध्यक्ष और सदस्यों द्वारा पद त्याग और आकस्मिक रिक्ति का भरा जाना – (1) धारा 4 की उपधारा (4) में निर्दिष्ट अध्यक्ष या उस धारा की उपधारा (3) के खंड (ङ) के अधीन नामनिर्देशित सदस्य, समुचित सरकार को लिखित में तीन मास की सूचना देकर अपना पद त्याग सकेगा और समुचित सरकार द्वारा ऐसा त्यागपत्र स्वीकार कर लिए जाने पर ऐसा अध्यक्ष या सदस्य अपना पद रिक्त कर देगा ।

(2) धारा 4 की उपधारा (3) के खंड (च) के अधीन नामनिर्देशित कोई सदस्य, राज्य विधिज्ञ परिषद् को लिखित में तीन मास की सूचना देकर अपना पद त्याग सकेगा और राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा ऐसा त्यागपत्र स्वीकार कर जाने पर ऐसा सदस्य अपना पद रिक्त कर देगा ।

(3) उपधारा (1) में निर्दिष्ट ऐसे अध्यक्ष और किसी सदस्य के जिसने पद त्याग किया है, पद में कोई आकस्मिक रिक्ति, यथाशक्य शीघ्र समुचित सरकार द्वारा भरी जा सकेगी और इस प्रकार नामनिर्देशित अध्यक्ष या सदस्य, केवल तब तक पद धारण करेगा जब तक कि ऐसा अध्यक्ष या वह सदस्य, जिसके स्थान पर उसका नामनिर्देशन किया गया है, पद धारण करने का हकदार होता, यदि रिक्ति न हुई होती ।

(4) उपधारा (2) में निर्दिष्ट किसी सदस्य के, जिसने पद त्याग किया है, पद में कोई आकस्मिक रिक्ति, यथाशक्य शीघ्र, राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा भरी जा सकेगी और इस प्रकार नामनिर्देशित सदस्य, तब तक पद धारण करेगा जब तक कि वह सदस्य जिसके स्थान पर उसका नामनिर्देशन किया गया है, पद धारण करने का हकदार होता, यदि रिक्ति न हुई होती ।

7. रिक्तियों आदि से न्यासी समिति की कार्यवाहियों का अविधिमान्य न होना – न्यासी समिति का कोई कार्य या कार्यवाही, केवल इस कारण अविधिमान्य नहीं होगी कि –

(क) न्यासी समिति में कोई रिक्ति है या उसके गठन में कोई त्रुटि है ; या

(ख) न्यासी समिति के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में कार्य करने वाले किसी व्यक्ति के नामनिर्देशन में कोई त्रुटि या अनियमितता है ; या

(ग) न्यासी समिति की प्रक्रिया में कोई ऐसी अनियमितता है जो

मामले के गुणागुण पर प्रभाव नहीं डालती है ।

8. न्यासी समिति के अधिवेशन – (1) न्यासी समिति प्रत्येक तीन कलैंडर मास में कम-से-कम एक बार अधिवेशन करेगी और इस अधिनियम तथा तद्धीन बनाए गए नियमों के अधीन कारबार के संव्यवहार के लिए प्रत्येक वर्ष कम-से-कम ऐसे चार अधिवेशन किए जाएंगे ।

(2) न्यासी समिति के तीन सदस्यों से न्यासी समिति के किसी अधिवेशन की गणपूर्ति होगी ।

(3) न्यासी समिति का अध्यक्ष या, यदि वह किसी अन्य कारण से न्यासी समिति के अधिवेशन में उपस्थित होने में असमर्थ है, तो अधिवेशन में उपस्थित न्यासी समिति के सदस्यों द्वारा अपने में से निर्वाचित कोई अन्य सदस्य, अधिवेशन की अध्यक्षता करेगा ।

(4) ऐसे सभी प्रश्न जो न्यासी समिति के अधिवेशन में आते हैं, उपस्थित और मतदान करने वाले न्यासी समिति के सदस्यों के बहुमत द्वारा विनिश्चित किए जाएंगे और मतों के समान होने की दशा में अध्यक्ष का या उसकी अनुपस्थिति में न्यासी समिति की अध्यक्षता करने वाले सदस्य का, निर्णायक मत होगा ।

9. न्यासी समिति के नामनिर्दिष्ट अध्यक्ष और सदस्यों को यात्रा और दैनिक भत्ते – धारा 4 की उपधारा (4) में निर्दिष्ट अध्यक्ष और उस धारा की उपधारा (3) के उपखंड (ङ) और उपखंड (च) में निर्दिष्ट न्यासी समिति के सदस्य ऐसे यात्रा और दैनिक भत्ते संदत्त किए जाने के हकदार होंगे, जो राज्य विधिज्ञ परिषद् के सदस्यों को ग्राह्य हैं ।

10. निधि का निहित होना और उसका उपयोजन – निधि इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए और उसके प्रयोजनों के लिए न्यासी समिति में निहित होगी और उसके द्वारा धारित तथा उपयोजित की जाएगी ।

11. न्यासी समिति के कृत्य – (1) इस अधिनियम और तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए न्यासी समिति निधि का प्रशासन करेगी ।

(2) उपधारा (1) में अंतर्विष्ट उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना न्यासी समिति, –

(क) निधि की रकमों और आस्तियों को न्यास में धारण करेगी ;

(ख) निधि में सदस्यों के रूप में प्रवेश या पुन: प्रवेश के लिए आवेदन प्राप्त करेगी और ऐसे आवेदनों का उनकी प्राप्ति की तारीख से नब्बे दिन के भीतर निपटान करेगी ;

(ग) यथास्थिति, निधि के सदस्यों, उनके नामनिर्देशितियों या विधिक वारिसों से निधियों से संदाय के लिए आवेदन प्राप्त करेगी, ऐसी जांच करेगी जो वह आवश्यक समझे और आवेदनों को उनकी प्राप्ति की तारीख से पांच मास के भीतर निपटाएगी ;

(घ) न्यासी समिति की कार्यवृत्त पुस्तक में, आवेदनों के संबंध में अपने विनिश्चय अभिलिखित करेगी ;

(ङ) निधि के सदस्यों या, यथास्थिति, उनके नामनिर्देशितियों या विधिक वारिसों को अनुसूची 1 में विनिर्दिष्ट दरों पर रकमों का संदाय करेगी ;

(च) समुचित सरकार और राज्य विधिज्ञ परिषद् को ऐसी कालिक और वार्षिक रिपोर्टें भेजेगी जो विहित की जाएं ;

(छ) आवेदकों को रसीदी रजिस्ट्री डाक द्वारा या इलेक्ट्रानिक पद्धति के माध्यम से, निधि में सदस्यों के रूप में प्रवेश या पुन: प्रवेश के लिए आवेदनों के संबंध में न्यासी समिति के विनिश्चय या निधि के फायदे के दावों को संसूचित करेगी ;

(ज) ऐसे अन्य कार्य करेगी, जो इस अधिनियम के अधीन या तद्धीन बनाए गए नियमों के अधीन किए जाते हैं, या किए जाएं या किए जाने के लिए अपेक्षित हों ।

12. उधार लेना और विनिधान – (1) न्यासी समिति, समुचित सरकार और राज्य विधिज्ञ परिषद् के पूर्व अनुमोदन से, समय-समय पर, इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित राशि उधार ले सकेगी ।

(2) न्यासी समिति, सभी धनों और प्राप्तियों को, जो निधि का भाग हैं, किसी अनुसूचित बैंक में जमा करेगी या उसका समुचित सरकार के स्वामित्वाधीन या नियंत्रणाधीन किसी निगम की ऋण लिखतों में विनिधान करेगी या समुचित सरकार द्वारा प्लवित ऋणों में या ऐसी किसी अन्य रीति में, जो राज्य विधिज्ञ परिषद् समय-समय पर समुचित सरकार के पूर्व अनुमोदन से निदेश दे, विनिधान करेगी ।

(3) इस अधिनियम के अधीन देय और संदेय सभी रकम और निधि के प्रबंध और प्रशासन से संबंधित सभी व्यय निधि में से संदत्त किए जाएंगे ।

13. लेखा और लेखापरीक्षा – (1) न्यासी समिति उचित लेखा और अन्य सुसंगत अभिलेख रखेगी और लेखाओं का वार्षिक विवरण और वार्षिक रिपोर्ट ऐसे प्ररूप और ऐसी रीति में तैयार करेगी, जो विहित की जाए ।

(2) न्यासी समिति के लेखाओं की वार्षिक रूप से राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा नियुक्त चार्टर्ड अकाउन्टेंट द्वारा लेखापरीक्षा की जाएगी ।

(3) चार्टर्ड अकाउन्टेंट द्वारा लेखापरीक्षा किया गया न्यासी समिति का लेखा उसकी लेखापरीक्षा रिपोर्ट के साथ उस समिति द्वारा राज्य विधिज्ञ परिषद् को भेजा जाएगा और राज्य विधिज्ञ परिषद् उसके संबंध में न्यासी समिति को ऐसे निदेश जारी कर सकेगी, जो वह ठीक समझे ।

(4) न्यासी समिति, उपधारा (3) के अधीन राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा जारी निदेशों का अनुपालन करेगी ।

(5) न्यासी समिति, निधि में से लेखापरीक्षा के लिए ऐसे प्रभारों का संदाय करेगी जो राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा नियत किए जाएं ।

14. सचिव की शक्तियां और कर्तव्य – न्यासी समिति का सचिव, –

(क) न्यासी समिति का मुख्य कार्यकारी प्राधिकारी होगा और उसके विनिश्चयों को कार्यान्वित करने के लिए दायी होगा ;

(ख) न्यासी समिति की ओर से और उसके विरुद्ध, सभी वादों और कार्यवाहियों में, न्यासी समिति का प्रतिनिधित्व करेगा ;

(ग) न्यासी समिति के सभी विनिश्चयों और विलेखों को अपने हस्ताक्षर से प्राधिकृत करेगा ;

(घ) अध्यक्ष के साथ संयुक्त रूप से न्यासी समिति के बैंक खाते का संचालन करेगा ;

(ङ) न्यासी समिति के अधिवेशन बुलाएगा और ऐसे अधिवेशनों के कार्यवृत्त तैयार करेगा ;

(च) सभी आवश्यक अभिलेखों और जानकारी के साथ न्यासी समिति के अधिवेशनों में उपस्थित होगा ;

(छ) ऐसे प्ररूप, रजिस्टर और अन्य अभिलेख रखेगा, जो समय-

समय पर विहित किए जाएं और न्यासी समिति से संबंधित सभी पत्र व्यवहार करेगा ;

(ज) वित्तीय वर्ष के दौरान न्यासी समिति द्वारा किए गए कारबार का वार्षिक विवरण तैयार करेगा ;

(झ) ऐसे अन्य कार्य करेगा जो न्यासी समिति और राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा निदेशित हैं या किए जाएं ।

15. राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा कतिपय धनों का निधि में संदाय – राज्य विधिज्ञ परिषद्, निधि में वार्षिक रूप से ऐसी रकम का संदाय करेगी जो अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) की धारा 24 के खंड (च) के अधीन प्राप्त की गई नामांकन फीस के बीस प्रतिशत के बराबर हो ।

अध्याय 4

अधिवक्ताओं के किसी संगम की मान्यता

16. अधिवक्ताओं के किसी संगम की राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा मान्यता – (1) अधिवक्ताओं का कोई संगम, चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो, जो इस अधिनियम के प्रारंभ की तारीख से पूर्व एक संगम के रूप में रजिस्ट्रीकृत है, ऐसी तारीख से पूर्व, जो राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा इस निमित्त अधिसूचित की जाए, मान्यता के लिए राज्य विधिज्ञ परिषद् को ऐसे प्ररूप में, जो विहित किया जाए आवेदन कर सकेगा ।

(2) अधिवक्ताओं का कोई संगम, चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो, जो इस अधिनियम के प्रारंभ की तारीख से या उसके पश्चात् एक संगम के रूप में रजिस्ट्रीकृत है, संगम के रूप में अपने रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर राज्य विधिज्ञ परिषद् को ऐसे प्ररूप में जो विहित किया जाए, मान्यता के लिए आवेदन कर सकेगा ।

(3) उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन मान्यता के लिए प्रत्येक आवेदन के साथ, –

(क) संगम के नियमों और उपनियमों की एक प्रति होगी ;

(ख) संगम के पदधारियों के नाम और पते होंगे ;

(ग) संगम के सदस्यों की एक सूची होगी, जिसमें प्रत्येक सदस्य का नाम, पता, उम्र, राज्य विधिज्ञ परिषद् की नामांकन संख्या और नामांकन की तारीख तथा व्यवसाय का साधारण स्थान अंतर्विष्ट होगा ।

(4) राज्य विधिज्ञ परिषद् ऐसी जांच के पश्चात् जो वह आवश्यक समझे, संगम को मान्यता दे सकेगी और मान्यता का प्रमाणपत्र, ऐसे प्ररूप में जो विहित किया जाए, जारी कर सकेगी ।

(5) उपधारा (4) के अधीन राज्य विधिज्ञ परिषद् का किसी संगम की मान्यता के बारे में किसी भी विषय पर विनिश्चय अंतिम होगा ।

स्पष्टीकरण – इस धारा में, "रजिस्ट्रीकृत" से सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1860 (1860 का 21) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन रजिस्ट्रीकृत या रजिस्ट्रीकृत समझा गया अभिप्रेत है ।

17. राज्य विधिज्ञ संगमों और राज्य अधिवक्ता संगमों के कर्तव्य – (1) प्रत्येक राज्य विधिज्ञ संगम और राज्य अधिवक्ता संगम, प्रत्येक वर्ष 15 अप्रैल को या उससे पूर्व राज्य विधिज्ञ परिषद् को उस वर्ष की 31 मार्च को यथाविद्यमान अपने सदस्यों की सूची भेजेगा ।

(2) प्रत्येक राज्य विधिज्ञ संगम और राज्य अधिवक्ता संगम, राज्य विधिज्ञ परिषद् को –

(क) सदस्यता में किसी परिवर्तन की, जिसके अंतर्गत प्रवेश और पुन: प्रवेश सम्मिलित है, ऐसे परिवर्तन के तीस दिन के भीतर सूचना देगा ;

(ख) अपने सदस्यों में से किसी की मृत्यु या व्यवसाय की अन्यथा समाप्ति की या व्यवसाय के स्वैच्छिक निलंबन की घटना की तारीख से तीस दिन के भीतर, सूचना देगा ;

(ग) ऐसे अन्य विषय की सूचना देगा, जो राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा समय-समय पर अपेक्षित हो ।

अध्याय 5

सदस्यता और अधिवक्ता कल्याण निधि में से संदाय

18. निधि की सदस्यता – (1) इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व, राज्य के किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकरण में व्यवसायरत प्रत्येक अधिवक्ता, जो उस राज्य में किसी राज्य विधिज्ञ संगम या राज्य अधिवक्ता संगम का सदस्य है, इस अधिनियम के प्रारंभ से छह मास के भीतर न्यासी समिति को निधि के सदस्य के रूप में प्रवेश के लिए, ऐसे प्ररूप में जो विहित किया जाए, आवेदन करेगा ।

(2) प्रत्येक व्यक्ति जो, –

(क) इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् राज्य विधिज्ञ परिषद् की नामावली में अधिवक्ता के रूप में सम्मिलित किया गया है ;

(ख) राज्य के किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकरण में व्यवसाय कर रहा है और जो उस राज्य में राज्य विधिज्ञ संगम का या राज्य अधिवक्ता संगम का सदस्य है,

अधिवक्ता के रूप में अपने नामांकन के छह मास के भीतर न्यासी समिति को निधि के सदस्य के रूप में प्रवेश के लिए ऐसे प्ररूप में जो विहित किया जाए, आवेदन करेगा ।

(3) उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन किसी आवेदन की प्राप्ति पर न्यासी समिति, ऐसी जांच करेगी जो वह उचित समझे और या तो आवेदक को निधि में प्रवेश देगी या अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से आवेदन को अस्वीकार कर देगी :

परंतु आवेदन को अस्वीकार करने वाला कोई आदेश तब तक पारित नहीं किया जाएगा जब तक कि आवेदक को सुनवाई का अवसर न दे दिया गया हो ।

(4) प्रत्येक आवेदक, आवेदन के साथ न्यासी समिति के खाते में दो सौ रुपए की आवेदन फीस का संदाय करेगा ।

(5) प्रत्येक अधिवक्ता, जो निधि का सदस्य है, निधि में प्रत्येक वर्ष 31 मार्च को या उससे पूर्व पचास रुपए के वार्षिक अभिदान का संदाय करेगा :

परंतु प्रत्येक अधिवक्ता, जिसने उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन आवेदन किया है अपने पहले वार्षिक अभिदान का निधि में सदस्य बनने के तीन मास के भीतर संदाय करेगा :

परंतु यह और कि कोई ज्येष्ठ अधिवक्ता, एक हजार रुपए का वार्षिक अभिदान करेगा ।

(6) निधि का ऐसा कोई सदस्य, जो किसी वर्ष के लिए वार्षिक अभिदान का उस वर्ष के 31 मार्च से पूर्व संदाय करने में असफल रहा है, निधि की सदस्यता से हटाए जाने के लिए दायी होगा ।

(7) निधि के किसी सदस्य को, जिसे उपधारा (6) के अधीन निधि की सदस्यता से हटाया गया है, ऐसे हटाए जाने की तारीख से छह मास के भीतर दस रुपए की पुन: प्रवेश फीस के साथ बकायों का संदाय करने

पर निधि में पुन: प्रवेश दिया जा सकेगा ।

(8) निधि का प्रत्येक सदस्य, निधि की सदस्यता में प्रवेश के समय अपने आश्रितों में से एक या अधिक का नामांकन, उसकी मृत्यु की दशा में इस अधिनियम के अधीन सदस्य को संदेय किसी राशि को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करते हुए, करेगा ।

(9) यदि निधि का कोई सदस्य, उपधारा (8) के अधीन एक से अधिक व्यक्तियों का नामांकन करता है तो वह नामांकन में नामनिर्देशितियों में से प्रत्येक को संदेय रकम या अंश विनिर्दिष्ट करेगा ।

(10) निधि का कोई सदस्य किसी भी समय न्यासी समिति को लिखित में सूचना भेजकर नामांकन रद्द कर सकेगा ।

(11) निधि का प्रत्येक सदस्य, जिसने उपधारा (10) के अधीन अपना नामांकन रद्द किया है, पांच रुपए की रजिस्ट्रीकरण फीस के साथ नया नामांकन करेगा ।

(12) निधि का प्रत्येक ऐसा सदस्य, जिसका नाम अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) की धारा 26क के अधीन राज्य की नामावली से हटा दिया गया है या जो स्वेच्छा, व्यवसाय निलंबित करता है, ऐसे हटाए जाने या निलंबन के पन्द्रह दिन के भीतर ऐसे हटाए जाने या निलंबन की जानकारी न्यासी समिति को देगा और यदि निधि का कोई सदस्य बिना किसी पर्याप्त कारण के ऐसा करने में असफल रहता है तो न्यासी समिति ऐसे सिद्धांतों के अनुसार जो विहित किए जाएं इस अधिनियम के अधीन उस सदस्य को संदेय रकम को कम कर सकेगी ।

19. निधि के किसी सदस्य को अनुग्रह अनुदान – न्यासी समिति, निधि के किसी सदस्य द्वारा उसे किए गए आवेदन पर और दावे की सत्यता के बारे में अपना समाधान करने के पश्चात् निम्नलिखित आधार पर निधि में से ऐसे सदस्य को अनुग्रह अनुदान अनुज्ञात कर सकेगी, –

(क) उसके अस्पताल में भर्ती होने की दशा में या बड़ी शल्य क्रिया की दशा में ; या

(ख) यदि वह यक्ष्मा, कुष्ठरोग, लकवा, कैंसर, विकृतचित्त या ऐसी ही अन्य गंभीर बीमारी या नि:शक्तता से पीड़ित है ।

20. पुनर्विलोकन – न्यासी समिति, स्वप्रेरणा से या किसी हितबद्ध व्यक्ति से प्राप्त आवेदन पर, इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन उसके

द्वारा आदेश पारित किए जाने के नब्बे दिन के भीतर, ऐसे आदेश का पुनर्विलोकन कर सकेगी, यदि वह किसी भूल के अधीन पारित किया गया था, चाहे वह तथ्य की हो या विधि की या किसी तात्विक तथ्य की उपेक्षा से हो :

परंतु न्यासी समिति, इस धारा के अधीन किसी व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला ऐसा कोई आदेश तब तक पारित नहीं करेगी जब तक कि ऐसे व्यक्ति को सुनवाई का अवसर न दे दिया गया हो ।

21. व्यवसाय के बंद करने पर रकम का संदाय – (1) प्रत्येक अधिवक्ता को, जो पांच वर्ष से अन्यून अवधि के लिए निधि का सदस्य रहा है, अपना व्यवसाय बंद करने पर, अनुसूची 1 में विनिर्दिष्ट दर पर रकम का संदाय किया जाएगा :

परंतु जहां न्यासी समिति का यह समाधान हो गया है कि निधि के किसी सदस्य ने ऐसी निधि के सदस्य के रूप में उसके प्रवेश की तारीख से पांच वर्ष की अवधि के भीतर अपना व्यवसाय किसी स्थायी नि:शक्तता के कारण बंद किया है वहां न्यासी समिति ऐसे सदस्य को अनुसूची 1 में विनिर्दिष्ट दर पर रकम का संदाय कर सकेगी ।

(2) जहां निधि के किसी सदस्य की मृत्यु उपधारा (1) के अधीन संदेय रकम को प्राप्त करने से पूर्व हो जाती है वहां, यथास्थिति, उसके नामनिर्देशिती या विधिक वारिस को निधि के मृतक सदस्य को संदेय रकम संदत्त की जाएगी ।

22. निधि में सदस्य के हित के अन्य संक्रामण, कुर्की, आदि पर निर्बन्धन – (1) निधि में किसी सदस्य के हित या निधि के किसी सदस्य या उसके नामनिर्देशिती या विधिक वारिस का निधि से कोई रकम पाने का अधिकार, समनुदिष्ट, अन्य संक्रांत या प्रभारित नहीं किया जाएगा और किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी की किसी डिक्री या आदेश के अधीन कुर्की के लिए दायी नहीं होगा ।

(2) कोई लेनदार, निधि के या निधि के किसी सदस्य या उसके नामनिर्देशिती या विधिक वारिस के उसमें किसी हित के विरुद्ध कार्यवाही करने का हकदार नहीं होगा ।

स्पष्टीकरण – इस धारा के प्रयोजनों के लिए "लेनदार" के अंतर्गत तत्समय प्रवृत्त दिवालियापन से संबंधित विधि के अधीन नियुक्त राज्य या कोई शासकीय समनुदेशिती या शासकीय रिसीवर भी आता है ।

23. आय-कर से छूट – आय-कर अधिनियम, 1961 (1961 का 43) या आय, लाभ या अभिलाभ पर कर से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य अधिनियमिति में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, धारा 3 की उपधारा (1) के अधीन गठित निधि में उद्भूत आय को आय-कर से छूट प्राप्त होगी ।

24. निधि के सदस्यों के लिए समूह जीवन बीमा और अन्य फायदे – न्यासी समिति, निधि के सदस्यों के कल्याण के लिए, –

(क) भारतीय जीवन बीमा निगम या किसी अन्य बीमाकर्ता से निधि के सदस्यों के जीवन के लिए समूह बीमा पालिसियां प्राप्त करेगी ; या

(ख) निधि के सदस्यों और उनके आश्रितों के लिए चिकित्सीय और शैक्षिक सुविधाओं के लिए ऐसी रीति से उपबंध करेगी जो विहित की जाएं ; या

(ग) निधि के सदस्यों को, पुस्तकें क्रय करने के लिए धन की व्यवस्था करेगी ; या

(घ) निधि के सदस्यों के लिए, सामूहिक सुविधाओं के निर्माण या उनके अनुरक्षण के लिए धन की व्यवस्था करेगी :

परन्तु न्यासी समिति, धारा 18 की उपधारा (5) के अधीन प्राप्त कुल वार्षिक अभिदान का दस प्रतिशत, अधीनस्थ न्यायालयों में विधि व्यवसाय करने वाले निधि के सदस्यों के लिए सामूहिक सुविधाओं के निर्माण या अनुरक्षण पर व्यय करेगी ; या

(ङ) किसी ऐसे अन्य प्रयोजन के लिए निधियों का उपबंध करेगी जो न्यासी समिति द्वारा विनिर्दिष्ट किए जाएं ; या

(च) किन्हीं ऐसे अन्य फायदों के लिए उपबंध करेगी जो विहित किए जाएं ।

25. न्यासी समिति के विनिश्चय या आदेश के विरुद्ध अपील – (1) न्यासी समिति के किसी विनिश्चय या आदेश के विरुद्ध अपील राज्य विधिज्ञ परिषद् को होगी ।

(2) अपील विहित प्ररूप में होगी और उसके साथ निम्नलिखित होंगे –

(क) उस विनिश्चय या आदेश की प्रति जिसके विरुद्ध अपील की गई है ;

(ख) अनुसूचित बैंक की किसी भी शाखा में राज्य विधिज्ञ परिषद् के खाते में पच्चीस रुपए के संदाय के साक्ष्य स्वरूप रसीद ।

(3) जिस विनिश्चय या आदेश के विरुद्ध अपील की गई है, उसकी प्राप्ति की तारीख से तीस दिन के भीतर अपील फाइल की जाएगी ।

(4) ऐसी अपील पर राज्य विधिज्ञ परिषद् का विनिश्चय अंतिम होगा ।

अध्याय 6

स्टाम्पों का मुद्रण, वितरण और रद्दकरण

26. अधिवक्ता कल्याण निधि स्टाम्पों का राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा मुद्रण और वितरण – (1) समुचित सरकार, राज्य विधिज्ञ परिषद् से इस निमित्त अनुरोध प्राप्त होने पर पांच रुपए मूल्य के या ऐसे अन्य मूल्य के जो विहित किया जाए, अधिवक्ता कल्याण निधि स्टांपों का मुद्रण और वितरण करवाएगी जिसमें विहित किए जाने वाले डिजाइन में "अधिवक्ता कल्याण निधि स्टाम्प" अंतर्लिखित होगा ।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट प्रत्येक स्टाम्प 2.54 से.मी. x 5.08 से.मी. आकार का होगा जो अधिवक्ताओं को विक्रय किया जाएगा ।

(3) स्टाम्प राज्य विधिज्ञ परिषद् की अभिरक्षा में रहेंगे ।

(4) राज्य विधिज्ञ परिषद् स्टाम्पों के वितरण और विक्रय का नियंत्रण, राज्य विधिज्ञ संगमों और राज्य अधिवक्ता संगमों के माध्यम से करेगी ।

(5) राज्य विधिज्ञ परिषद् राज्य विधिज्ञ संगम और राज्य अधिवक्ता संगम स्टाम्पों के उचित लेखे, विहित किए जाने वाले प्ररूप और रीति में रखेंगे ।

(6) राज्य विधिज्ञ संगम और राज्य अधिवक्ता संगम, राज्य विधिज्ञ परिषद् से उसके मूल्य का संदाय करने के पश्चात्, जिसमें से आनुषंगिक व्ययों के लिए दस प्रतिशत की कटौती की जाएगी, स्टाम्पों का क्रय करेंगे ।

27. वकालतनामों पर स्टाम्प का लगा होना – (1) प्रत्येक अधिवक्ता निम्नलिखित मूल्य के स्टाम्प लगाएगा –

(क) किसी जिला न्यायालय या जिला न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों में उसके द्वारा फाइल किए गए प्रत्येक वकालतनामे पर पांच रुपए का ;

(ख) किसी अधिकरण या अन्य प्राधिकरण या उच्च न्यायालय

या उच्चतम न्यायालय में उसके द्वारा फाइल किए गए प्रत्येक वकालतनामे पर दस रुपए का :

परन्तु समुचित सरकार, पच्चीस रुपए से अनधिक मूल्य के स्टाम्प इस उपधारा के अधीन लगाया जाना विहित कर सकेगी :

परन्तु यह और कि समुचित सरकार, किसी जिला न्यायालय या जिला न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों या किसी अधिकरण या अन्य प्राधिकरण या उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में फाइल किए जाने वाले प्रत्येक वकालतनामे पर भिन्न-भिन्न मूल्यों के स्टाम्पों का लगाया जाना विहित कर सकती है ।

(2) स्टाम्प का मूल्य न तो किसी मामले में "खर्च" होगा और न ही किसी भी दशा में मुवक्किल से लिया जाएगा ।

(3) किसी अधिवक्ता द्वारा उपधारा (1) या उपधारा (2) के उपबंधों के किसी उल्लंघन से वह निधि के फायदों से संपूर्णत: या भागत: वंचित हो जाएगा और न्यासी समिति ऐसे उल्लंघन की रिपोर्ट राज्य विधिज्ञ परिषद् को समुचित कार्रवाई किए जाने के लिए करेगी ।

(4) जिला न्यायालय या जिला न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय या किसी अधिकरण या अन्य प्राधिकरण या उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष फाइल किए गए प्रत्येक वकालतनामे पर लगाई गई प्रत्येक स्टाम्प ऐसी रीति से रद्द की जाएगी जो विहित की जाए ।

अध्याय 7

प्रकीर्ण

28. कतिपय व्यक्तियों का फायदों के लिए पात्र न होना – कोई ज्येष्ठ अधिवक्ता या ऐसा व्यक्ति, जो केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार से पेंशन प्राप्त करता हो, धारा 19 के अधीन अनुग्रह अनुदान या धारा 21 के अधीन उसके द्वारा विधि व्यवसाय को बंद करने पर रकम के संदाय या धारा 24 के खंड (क) या खंड (ख) या खंड (ग) के अधीन किसी फायदे का हकदार नहीं होगा ।

29. सद्भावपूर्वक किए गए कार्य का संरक्षण – समुचित सरकार या न्यासी समिति या न्यासी समिति के अध्यक्ष या किसी सदस्य या सचिव या राज्य विधिज्ञ परिषद् या किसी व्यक्ति के विरुद्ध ऐसी किसी बात के लिए जो इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन

सद्भावपूर्वक की गई है या की जाने के लिए आशयित है, कोई वाद, अभियोजन या अन्य विधिक कार्यवाही नहीं होगी ।

30. सिविल न्यायालयों की अधिकारिता का वर्जन – किसी सिविल न्यायालय को ऐसे किसी प्रश्न को तय करने, विनिश्चित करने या निपटाने अथवा किसी मामले का अवधारण करने की अधिकारिता नहीं होगी जो इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन न्यासी समिति या राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा तय किया जाना, विनिश्चित किया जाना अथवा निपटाया जाना अपेक्षित है ।

31. साक्षियों को समन करने और साक्ष्य लेने की शक्ति – न्यासी समिति और राज्य विधिज्ञ परिषद् को, इस अधिनियम के अधीन किसी जांच के प्रयोजनार्थ, निम्नलिखित विषयों की बाबत वही शक्तियां प्राप्त होंगी जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के अधीन किसी वाद का विचारण करते समय किसी सिविल न्यायालय में निहित हैं, अर्थात् :–

(क) किसी व्यक्ति को हाजिर करवाना या उसकी शपथ पर परीक्षा करना ;

(ख) दस्तावेजों के प्रकटीकरण और पेश किए जाने की अपेक्षा करना ;

(ग) शपथ पत्र पर साक्ष्य प्राप्त करना ;

(घ) साक्षियों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालना ;

(ङ) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाए ।

32. अनुसूची 1 और 2 का संशोधन करने की शक्ति – (1) समुचित सरकार, न्यासी समिति की सिफारिश पर और निधि में रकम की उपलभ्यता पर सम्यक् विचार करते हुए, अधिसूचना द्वारा, अनुसूची 1 में विनिर्दिष्ट दरों में संशोधन कर सकती है ।

(2) केन्द्रीय सरकार, जब कभी आवश्यक समझे, अधिसूचना द्वारा अनुसूची 2 में संशोधन कर सकती है ।

33. समुचित सरकार की निदेश जारी करने की शक्ति – इस अधिनियम के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, न्यासी समिति, इस अधिनियम के अधीन शक्तियों का प्रयोग या कृत्यों का निर्वहन करते समय, वृत्तिक और प्रशासनिक विषयों से भिन्न नीति के प्रश्नों पर, ऐसे निदेशों से आबद्ध होगी जो समुचित सरकार,

समय-समय पर, उसे लिखित रूप में दे :

परन्तु न्यासी समिति को, जहां तक व्यवहार्य हो, इस उपधारा के अधीन कोई निदेश दिए जाने से पूर्व अपने विचार व्यक्त करने का अवसर दिया जाएगा ।

(2) समुचित सरकार का विनिश्चय, चाहे वह प्रश्न नीति का हो या नहीं, अंतिम होगा ।

34. समुचित सरकार की न्यासी समिति को अधिक्रांत करने की शक्ति – (1) यदि किसी समय समुचित सरकार की यह राय हो कि –

(क) न्यासी समिति के नियंत्रण से परे परिस्थितियों के कारण, वह इस अधिनियम के उपबंधों द्वारा या इसके अधीन उस पर अधिरोपित कृत्यों का निर्वहन या कर्तव्यों का अनुपालन करने में असमर्थ है ; या

(ख) न्यासी समिति ने, समुचित सरकार द्वारा इस अधिनियम के अधीन दिए गए किसी निदेश का पालन करने में या इस अधिनियम के उपबंधों द्वारा या इसके अधीन उस पर अधिरोपित कृत्यों का निर्वहन या कर्तव्यों का अनुपालन करने में बार-बार व्यतिक्रम किया है ; या

(ग) ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनसे लोकहित में ऐसा करना आवश्यक हो गया है,

तो समुचित सरकार, अधिसूचना द्वारा और उसमें विनिर्दिष्ट किए जाने वाले कारणों से, न्यासी समिति को छह मास से अनधिक उतनी अवधि के लिए, जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट की जाए, अधिक्रांत कर सकेगी और अधिकारिता रखने वाले उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से, उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को न्यासी समिति के नियंत्रक के रूप में नियुक्त करेगी :

परन्तु समुचित सरकार, ऐसी कोई अधिसूचना जारी करने से पूर्व, न्यासी समिति को प्रस्थापित अधिक्रमण के विरुद्ध अभ्यावेदन देने के लिए युक्तियुक्त अवसर देगी और न्यासी समिति के अभ्यावेदनों, यदि कोई हों, पर विचार करेगी ।

(2) उपधारा (1) के अधीन न्यासी समिति का अधिक्रमण करने वाली अधिसूचना के प्रकाशन पर –

(क) न्यासी समिति के अध्यक्ष, सदस्य और सचिव अधिक्रमण

की तारीख से ही उस रूप में अपने पदों को रिक्त कर देंगे ;

(ख) वे सभी शक्तियां, कृत्य और कर्तव्य, जो न्यासी समिति द्वारा या उसकी ओर से इस अधिनियम के उपबंधों द्वारा या उसके अधीन प्रयोग या निर्वहन किए जा रहे हों, उपधारा (3) के अधीन न्यासी समिति का पुनर्गठन होने तक, न्यासी समिति के नियंत्रण द्वारा प्रयोग की जाएंगी और निर्वहन किए जाएंगे ; और

(ग) न्यासी समिति के स्वामित्व में या नियंत्रणाधीन सभी संपत्तियां और निधि, उपधारा (3) के अधीन न्यासी समिति के पुनर्गठित होने तक, समुचित सरकार में निहित होंगी ।

(3) उपधारा (1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना में विनिर्दिष्ट अधिक्रमण की अवधि के समाप्त होने पर या उससे पूर्व, समुचित सरकार, ऐसी समिति के अध्यक्ष, सदस्यों और सचिव की नई नियुक्ति द्वारा न्यासी समिति का पुनर्गठन करेगी और ऐसी दशा में, ऐसा व्यक्ति, जिसने उपधारा (2) के खंड (क) के अधीन अपना पद रिक्त किया था, पुनर्नियुक्ति के लिए निरर्हित नहीं समझा जाएगा ।

(4) समुचित सरकार, उपधारा (1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना की एक प्रति और इस धारा के अधीन की गई किसी कार्रवाई की पूर्ण रिपोर्ट और वे परिस्थितियां जिनके कारण ऐसी कार्रवाई की गई है, यथास्थिति, संसद् के प्रत्येक सदन या राज्य विधान-मंडल के प्रत्येक सदन, जहां उसके दो सदन हों, या जहां ऐसे विधान-मंडल का एक सदन हो वहां उस सदन के समक्ष शीघ्रतम रखवाएगी ।

35. केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति – (1) केन्द्रीय सरकार, जहां समुचित सरकार है, अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम के उपबंधों के कार्यान्वयन के लिए नियम बना सकेगी ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्तियों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियमों द्वारा निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध किया जा सकेगा, अर्थात् :–

(क) धारा 11 के खंड (च) के अधीन भेजी जाने वाली नियतकालिक और वार्षिक रिपोर्टें ;

(ख) वह प्ररूप और रीति जिसमें धारा 13 की उपधारा (1) के अधीन वार्षिक लेखा विवरण और वार्षिक रिपोर्ट तैयार की जाएगी ;

(ग) धारा 14 के खंड (छ) के अधीन रखे जाने वाले प्ररूप,

रजिस्टर और अन्य अभिलेख ;

(घ) वह प्ररूप जिसमें अधिवक्ताओं का कोई संगम, धारा 16 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन राज्य विधिज्ञ परिषद् को मान्यता के लिए आवेदन कर सकेगा ;

(ङ.) वह प्ररूप जिसमें राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा धारा 16 की उपधारा (4) के अधीन मान्यता प्रमाणपत्र जारी किया जाएगा ;

(च) वह प्ररूप जिसमें कोई अधिवक्ता, धारा 18 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन निधि के सदस्य के रूप में प्रवेश के लिए आवेदन देगा ;

(छ) वे सिद्धांत जिनके अनुसार निधि के किसी सदस्य को संदेय रकम में से धारा 18 की उपधारा (12) के अधीन कटौती की जाएगी ;

(ज) धारा 24 के खंड (ख) के अधीन निधि के सदस्यों और उनके आश्रितों के लिए चिकित्सीय और शैक्षिक सुविधाएं देने की रीति ;

(झ) धारा 24 के खंड (च) के अधीन दिए जाने वाले अन्य फायदे ;

(ञ) धारा 25 की उपधारा (2) के अधीन अपील का प्ररूप ;

(ट) धारा 26 की उपधारा (1) के अधीन मुद्रित और वितरित किए जाने वाले स्टाम्पों का मूल्य और डिजाइन ;

(ठ) वह प्ररूप और रीति जिसमें धारा 26 की उपधारा (5) के अधीन स्टाम्पों के लेखे रखे जाएंगे ;

(ड) पच्चीस रुपए से अनधिक स्टाम्पों का मूल्य, जो धारा 27 की उपधारा (1) के पहले परन्तुक के अधीन विहित किया जाए ;

(ढ) धारा 27 की उपधारा (1) के दूसरे परन्तुक के अधीन प्रत्येक वकालतनामे पर लगाए जाने वाले स्टाम्पों का मूल्य ;

(ण) धारा 27 की उपधारा (4) के अधीन स्टाम्पों के रद्दकरण की रीति ;

(त) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाना हो या विहित किया जाए ।

36. राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति – (1) राज्य सरकार,

जहां समुचित सरकार हो, अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के उपबंधों का कार्यान्वयन करने के लिए ऐसे नियम बना सकेगी जो केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाए गए नियमों, यदि कोई हों, से असंगत न हों ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्तियों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियम निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध कर सकेंगे, अर्थात् :–

(क) धारा 11 के खंड (च) के अधीन भेजी जाने वाली नियतकालिक और वार्षिक रिपोर्टें ;

(ख) वह प्ररूप और रीति जिसमें वार्षिक लेखा विवरण और वार्षिक रिपोर्ट धारा 13 की उपधारा (1) के अधीन तैयार किए जाएंगे ;

(ग) धारा 14 के खंड (छ) के अधीन रखे जाने वाले प्ररूप, रजिस्टर और अन्य अभिलेख ;

(घ) वह प्ररूप जिसमें अधिवक्ताओं का कोई संगम, धारा 16 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन राज्य विधिज्ञ परिषद् को मान्यता के लिए आवेदन कर सकेगा ;

(ङ) वह प्ररूप जिसमें राज्य विधिज्ञ परिषद् द्वारा धारा 16 की उपधारा (4) के अधीन मान्यता प्रमाण पत्र जारी किया जाएगा ;

(च) वह प्ररूप जिसमें कोई अधिवक्ता, धारा 18 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन निधि के सदस्य के रूप में प्रवेश के लिए आवेदन करेगा ;

(छ) वे सिद्धांत जिनके अनुसार निधि के किसी सदस्य को संदेय रकम में से धारा 18 की उपधारा (12) के अधीन कटौती की जाएगी ;

(ज) धारा 24 के खंड (ख) के अधीन निधि के सदस्यों और उनके आश्रितों के लिए चिकित्सीय और शैक्षिक सुविधाएं देने की रीति ;

(झ) धारा 24 के खंड (च) के अधीन दिए जाने वाले अन्य फायदे ;

(ञ) धारा 25 की उपधारा (2) के अधीन अपील का प्ररूप ;

(ट) धारा 26 की उपधारा (1) के अधीन मुद्रित और वितरित किए जाने वाले स्टाम्पों का मूल्य और डिजाइन ;

(ठ) वह प्ररूप और रीति जिसमें धारा 26 की उपधारा (5) के अधीन स्टाम्पों के लेखे रखे जाएंगे ;

(ड) पच्चीस रुपए से अनधिक स्टाम्पों का मूल्य, जो धारा 27 की उपधारा (1) के पहले परन्तुक के अधीन विहित किया जाए ;

(ढ) धारा 27 की उपधारा (1) के दूसरे परन्तुक के अधीन प्रत्येक वकालतनामे पर लगाए जाने वाले स्टाम्पों का मूल्य ;

(ण) धारा 27 की उपधारा (4) के अधीन स्टाम्पों के रद्दकरण की रीति ;

(त) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाना हो या विहित किया जाए ।

37. नियमों और अधिसूचनाओं का संसद् और राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखा जाना – (1) केन्द्रीय सरकार द्वारा इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम और धारा 32 के अधीन जारी की गई प्रत्येक अधिसूचना, बनाए जाने या जारी किए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा/रखी जाएगी । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उक्त सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम या अधिसूचना में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा/होगी । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए या अधिसूचना जारी नहीं की जानी चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा/जाएगी । किन्तु नियम या अधिसूचना के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

(2) राज्य सरकार द्वारा इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम और धारा 32 के अधीन जारी की गई प्रत्येक अधिसूचना बनाए जाने या जारी किए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र राज्य विधान-मंडल के, जहां इसके दो सदन हों, प्रत्येक सदन के समक्ष या जहां ऐसे राज्य विधान-मंडल में एक सदन हो, उस सदन के समक्ष रखा जाएगा/रखी जाएगी ।

38. व्यावृत्ति – इस अधिनियम के उपबंध, उन राज्यों को लागू नहीं होंगे जिनमें अनुसूची 2 में विनिर्दिष्ट अधिनियमितियां लागू हैं ।

अनुसूची 1

[धारा 21(1) और धारा 32(1) देखिए]

निधि के सदस्य के रूप में वर्षों की संख्या	संदेय रकम की दर
(1)	(2)
30	30,000 रुपए
29	29,000 रुपए
28	28,000 रुपए
27	27,000 रुपए
26	26,000 रुपए
25	25,000 रुपए
24	24,000 रुपए
23	23,000 रुपए
22	22,000 रुपए
21	21,000 रुपए
20	20,000 रुपए
19	19,000 रुपए
18	18,000 रुपए
17	17,000 रुपए
16	16,000 रुपए
15	15,000 रुपए
14	14,000 रुपए
13	13,000 रुपए
12	12,000 रुपए
11	11,000 रुपए
10	10,000 रुपए
9	9,000 रुपए
8	8,000 रुपए
7	7,000 रुपए
6	6,000 रुपए
5	5,000 रुपए
4	4,000 रुपए
3	3,000 रुपए
2	2,000 रुपए
1	1,000 रुपए

अनुसूची 2

[धारा 32 (2) और धारा 38 देखिए]

(1)	(2)
1.	उत्तर प्रदेश अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 1974 (1974 का 6)
2.	बिहार राज्य अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 1983 (1983 का 16)
3.	मध्य प्रदेश अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 1982 (1982 का 9)
4.	दि आंध्र प्रदेश एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1987 (1987 का 33)
5.	दि उड़ीसा एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, (1987 का 18)
6.	राजस्थान अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 1987 (1987 की 15)
7.	दि तमिलनाडु एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, (1987 का 49)
8.	दि गुजरात एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1991 (1991 का 14)
9.	दि गोवा एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1995 (1997 का 2)
10.	दि असम एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1998 (1999 का 18)
11.	दि महाराष्ट्र एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1981 (1981 का 61)
12.	हिमाचल प्रदेश अधिवक्ता कल्याण निधि अधिनियम, 1996 (1996 का 14)
13.	दि केरल एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1980 (1980 का 21)
14.	दि कर्नाटक एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1983 (1985 का 2)
15.	दि वेस्ट बंगाल एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1991 (1991 का 13)
16.	दि जम्मू एण्ड कश्मीर एडवोकेट्स वेलफेयर फंड ऐक्ट, 1997 (1997 का 26)

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल
निर्णय सूची

	पृष्ठ संख्या
अनाथ नाथ विश्वास तथा अन्य **बनाम** द्वारका नाथ चक्रवर्ती तथा अन्य	38
अवध कामर्शियल बैंक लि., फैजाबाद **बनाम** ठकुराइन बिंद्यबासिनी कुंवर तथा अन्य	21
कनाडियन सेलनीज लि. **बनाम** बी. वी. डी. कंपनी लि.	18
पाकल नारायण स्वामी **बनाम** सम्राट	1
रिचर्ड गिली **बनाम** पोशो लि. (समापनाधीन)	35
वैरीचरला नारायण गजपतिराजू **बनाम** राजस्व खंड अधिकारी, विजगापत्तमन	52
श्रीमती वल्लन **बनाम** फजला तथा अन्य	45

पाकल नारायण स्वामी..................... अपीलार्थी

बनाम

सम्राट.............................. प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड एटकिन, न्यायमूर्ति लार्ड थंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड राइट, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर और न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 – धारा 162 – इस धारा का सामान्य व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिए – किन्हीं कठिनाइयों की कल्पना करके उसे सीमित नहीं करना चाहिए उसमें ऐसे व्यक्ति का बयान भी आ जाता है जो बयान देते समय अभियुक्त नहीं था किंतु बाद में उस अपराध का अभियुक्त हो गया – यह व्यापक अर्थ लेने से साक्ष्य अधिनियम की धारा निरसित नहीं होती ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 – धारा 162 – जब कोई अग्राह्य साक्ष्य ग्रहण कर लिया गया हो तो दोषसिद्धि अपील में तब तक नहीं उलटी जाएगी जब तक यह प्रकट न हो कि उसके कारण अन्याय हुआ है – जब उसके अलावा भी साक्ष्य दोषसिद्धि के लिए पर्याप्त हो तो दोषसिद्धि कायम रहेगी ।

निर्वचन – जब कानून की भाषा स्पष्ट हो तो न्यायालय का यह कर्तव्य नहीं होता कि विधायी आशय की कल्पना में व्यक्त हो जाए ।

साक्ष्य विधि – संस्वीकृति – संस्वीकृति तभी मानी जाएगी जब कि अभियुक्त ने या तो सीधे-सीधे अपराध स्वीकार कर लिया हो या वे सब तथ्य स्वीकार कर लिए हों जिनसे अपराध बनता है – मात्र ऐसे कुछ तथ्यों की स्वीकृति जिनसे अपराध का निष्कर्ष निकाला जा सकता है संस्वीकृति नहीं कही जाएगी ।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32(1) – परिस्थितियां वे होनी चाहिए जिनका कि वास्तविक घटना से निकट संबंध हो और वे उस संव्यवहार की होनी चाहिए जिसके परिणामस्वरूप बयान देने वाले की मृत्यु हुई – मृतक का यह बयान साक्ष्य में ग्राह्य माना गया कि वह अमुक स्थान पर (जहां उसकी मृत्यु घटित हुई) अमुक व्यक्ति (अभियुक्त) की पत्नी के बुलाने पर अपना रुपया प्राप्त करने के लिए उसके घर जा रहा है ।

इस मामले में विशेष इजाजत से की गई यह अपील पटना उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध है जिसके द्वारा बेरहमपुर स्थित सेशन न्यायाधीश के उस विनिश्चय की पुष्टि की गई थी जिसमं सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को हत्या का दोषी ठहराकर मृत्यु दंड दिया था । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – बयान मृत्यु का कारण उत्पन्न होने के पहले दिया गया हो सकता है अथवा मृतक को मारे जाने की प्रत्याशा के लिए कोई कारण होने के पूर्व का हो सकता है । परिस्थितियां उस संव्यवहार की परिस्थितियां होनी चाहिए । भय या आशंका व्यक्त करने वाली सामान्य अभिव्यक्तियां, चाहे वे विशिष्ट व्यक्ति के बारे में हों या अन्यथा, यदि वे मृत्यु के अवसर से सीधे संबंधित न हों तो ग्राह्य नहीं होंगी । किंतु मृतक द्वारा किया गया यह बयान कि वह उस स्थान पर जा रहा है जहां कि वह वस्तुतः मारा गया अथवा कि वह किन कारणों से वहां जा रहा है अथवा कि वह अमुक व्यक्ति से मिलने जा रहा है अथवा कि उसे अमुक व्यक्ति ने मिलने के लिए बुलाया है, इनमें से प्रत्येक उस संव्यवहार की परिस्थिति होगा और यही स्थिति होगी भले ही वह व्यक्ति अज्ञात हो अथवा अभियुक्त न हो । ऐसा बयान अभियुक्त को निर्दोष व्यक्त करने का भी हो सकता है । निःसंदेह "संव्यवहार की परिस्थिति" पद ऐसा है जिससे कुछ परिसीमा व्यक्त होती है । यह उतना व्यापक नहीं है जितना कि मिलता-जुलता पद "पारिस्थितिक साक्ष्य" है जिसमें सभी सुसंगत तथ्यों का साक्ष्य आ जाता है । दूसरी ओर यह "संव्यवहारगत तथ्य" की अपेक्षा संकीर्ण है । परिस्थितियों का वास्तविक घटना से निकट का संबंध होना चाहिए, यद्यपि उदाहरणार्थ, दीर्घ समय तक विष देने के मामले में से ऐसी तारीखें हो सकती हैं जो वास्तविक घातक मात्रा की तारीख से बहुत दूर की हों । यह अवेक्षणीय है कि परिस्थितियां उस संव्यवहार की हैं जिससे कि बयान करने वाले की मृत्यु हुई । यह आवश्यक नहीं है कि कोई ऐसा ज्ञात संव्यवहार को जो इससे भिन्न हो कि अंत में बयान देने वाले की मृत्यु घटित हुई, क्योंकि साक्ष्य की ग्राह्यता की शर्त है कि "उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो" । धारा की भाषा इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि बयान तब भी ग्राह्य नहीं है जब कि वह ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो कि बाद में अभियुक्त बन गया ।

यह स्पष्ट है कि ये शब्द अपने सामान्य अर्थों में किसी ऐसे व्यक्ति का

समावेश करेंगे जो बाद में अभियुक्त हो जाए । अपराध के अन्वेषण में बहुधा अनेक व्यक्तियों की परीक्षा करनी होती है जिनमें से किसी पर उस समय संदेह न हो या जिन सब पर उस समय संदेह हो । धारा के प्रारंभिक शब्द, जो फेरबदल किए गए बयान पर हस्ताक्षर कराने का प्रतिषेध करते हैं, उन सब बयानों को लागू होंगे जो उस समय लिए जाएं । अतः, वे उस बयान को भी लागू होंगे जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया हो जो उस समय संभवतः संदिग्ध न हो, यद्यपि वह अंत में अभियुक्त हो जाए । किंतु वस्तुतः जब शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो तो न्यायालयों का यह कर्तव्य नहीं होता कि आशयों की कल्पना में व्यस्त हो जाएं ।

यह प्रत्यक्ष है कि दोनों धाराएं कुछ परिस्थितियों में एक साथ चल सकती हैं । धारा 162 उन बयानों तक सीमित है जो पुलिस अधिकारी को अन्वेषण के दौरान दिए जाएं । धारा 25 में पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई ऐसी संस्वीकृतियां आ जाती हैं जो अन्वेषण प्रारंभ होने के पहले की गई हों या अन्यथा अन्वेषण के दौरान न की गई हों । धारा 27, धारा 26 के परंतुक के रूप में प्रतीत होती है, जिस धारा 26 में किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया बयान आता है जब वह पुलिस अभिरक्षा में हो और ऐसे बयानों को लागू होता है चाहे वे किसी के भी समक्ष दिए गए हों, उदाहरणार्थ साथी बंदी या डाक्टर या आगंतुक के समक्ष । ये बयान धारा 162 के अंतर्गत नहीं आते । प्रस्तुत मामले में बयान देने वाला पुलिस अभिरक्षा में नहीं था और उस बयान के परिणामस्वरूप कोई बात पता चली नहीं बताई गई । न्यायालय के विचार में धारा 162 की भाषा स्पष्टतः इतनी व्यापक है कि उसमें ऐसी कोई भी संस्वीकृति वर्जित हो जाती है जो पुलिस अधिकारी के समक्ष अन्वेषण के दौरान की जाए, चाहे उससे कोई बात पता चले या नहीं । अतः उनसे उस सीमा तक वह धारा निरसित हो सकती है जो अन्यथा लागू होती । अभिकथित बयान धारा 162 के कारण अग्राह्य था । अपीलार्थी का यह तर्क अनावश्यक हो जाता है कि वह साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के अधीन संस्वीकृति के रूप में ग्राह्य नहीं था । किंतु क्योंकि इस प्रश्न पर बहस की गई और उस पर भारतीय न्यायालयों में भी चर्चा है, अतः यह कहना उपयोगी होगा कि न्यायालय के विचार से कोई बयान जिसमें अपने को बचाने वाला कथन हो संस्वीकृति की कोटि में नहीं आ सकता, यदि बचाने वाला कथन ऐसे तथ्य का है जो कि सही होने पर उस अपराध को नकार देगा जिसकी संस्वीकृति की जानी है । (पैरा 7, 9, 10 और 12)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[1857] (1857) 6 हाउस आफ लार्ड्स केसेज 61 :
ग्रे बनाम **पियर्सन** । 10

अनुमोदित निर्णय

[1932] इं. ला. रि. 55 मद्रास 903 =
आ. हं. रि. 1932 मद्रास 391 :
श्यामो महापात्र बनाम **सम्राट** । 9

उलटा गया निर्णय

[1927] इं. ला. रि. 54 कलकत्ता 237 =
आ.हं.रि. 1927 कलकत्ता 17 :
अजीमुद्दीन बनाम **सम्राट** । 9

निर्दिष्ट निर्णय

[1844] (1844) 11 सी. एल. एंड एफ. 85 [143] :
ससेक्स वियरेज का मामला ; 10

[1562] (1562) प्लाउड 353 [369] :
स्टोवेल बनाम **लार्ड जुश** ; 10

[1891] (1891) अपील केसेज 531 [542] :
इनकम टैक्स कमिश्नर्स बनाम **पेम्सेल** । 10

दांडिक अधिकारिता : 1938 की दांडिक अपील संख्या 81.

पटना उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध यह अपील की गई है ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डी. डान प्रीट और एच. डब्ल्यू. विलियम्स

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री जी. डी. रोबर्टस, डब्ल्यू. वालच और जे. मोगाध

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड एटकिन ने दिया ।

न्या. एटकिन – विशेष इजाजत से की गई यह अपील पटना उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध है जिसके द्वारा बरहामपुर स्थित सेशन

न्यायाधीश के उस विनिश्चय की पुष्टि की गई थी जिसमें सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को कुर्रीनुकाराजू की हत्या का दोषी ठहराकर मृत्यु दंड दिया था । अभियुक्त, उसकी पत्नी, उसके साले तथा उसके लिपिक पर, जो उसके घर में रहते थे, छत्रपुर के उपखंड मजिस्ट्रेट के समक्ष आरोप था कि उन्होंने मई-जून, 1937 में हत्या की । साक्ष्य सुनने के बाद परीक्षी मजिस्ट्रेट ने सभी अभियुक्तों को उन्मोचित कर दिया । उनका निष्कर्ष था कि आरोप के समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है । तब बरहामपुर के सेशन न्यायाधीश ने दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करके अभियुक्तों से अपेक्षा की कि कारण बताएं कि उन्हें विचारणार्थ सुपुर्द क्यों न किया जाए और जुलाई, 1937 में उन्होंने आदेश दिया कि वर्तमान अभियुक्त और उसकी पत्नी को सेशन सुपुर्द किया जाए कि वे भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख (हत्या का षड्यंत्र), 302 (हत्या) और 201 (अपराध का साक्ष्य विलुप्त करना) के अधीन अपरराध के लिए उनका विचारण किया जाए । विचारण में सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी की पत्नी को सभी आरोपों से दोषमुक्त कर दिया, किंतु अपीलार्थी को हत्या का दोषी ठहराकर मृत्यु दंड दिया । अपील इस बात पर आधारित है कि कुछ साक्ष्य ग्रहण किया गया जो कि दंड प्रक्रिया संहिता और साक्ष्य अधिनियम के उपबंधों द्वारा अग्राह्य किया गया है और इसका समर्थन इस तर्क पर भी किया गया है कि विवादित साक्ष्य ग्रहण किया जाए या नहीं (और निश्चिय ही वह अग्राह्य किया जाना था) इस दोषसिद्धि के समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है ।

2. मंगलवार तारीख 23.3.1937 को दोपहर के लगभग पुरी में एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में एक स्टील के बक्स में एक व्यक्ति का शव पाया गया । पुरी बंगाल नागपुर रेल की एक शाखा का अंतिम स्टेशन है जहां कि बक्स अदावाकृत के रूप में छोड़ा गया था । वह शव सात भागों में कटा हुआ था और चिकित्सीय साक्ष्य ने इसमें संदेह नहीं छोड़ा था कि व्यक्ति की हत्या की गई थी । पहचानने में कुछ दिन लग गए किंतु अंत में मृतक के शव को उसकी विधवा ने पहचान लिया । वह लगभग 40 वर्ष का था और उसका विवाह लगभग 22 वर्ष पूर्व हुआ था । वह पीतापुर के दीवान की सेवा में चपरासी था जिसकी एक पुत्री अभियुक्त की पत्नी थी । अभियोजन पक्ष का कहना था कि उसके विवाह के पूर्व और प्रश्नगत घटना के लगभग 19 वर्ष पूर्व अभियुक्त की पत्नी का, जो तब लगभग 13 वर्ष की लड़की थी, मृतक से संबंध था । मृतक की विधवा ने चार पत्र पेश किए जिन पर प्रकटतः उस लड़की के हस्ताक्षर थे और 1918 की तारीख

पड़ी थी, जो उस कथन का समर्थन करते थे । हस्तलेख के साक्ष्य के विषय में न्यायाधीश का समाधान नहीं हुआ । समर्थन में विचारणीय कोई अन्य साक्ष्य नहीं था और बताया गया यह हेतु निश्चय ही अमान्य किया जाना चाहिए । किंतु यह बात तो रहती है कि मृतक के पास ये चार दस्तावेज थे जिन पर दृश्यतः अभियुक्त की पत्नी के हस्ताक्षर थे । अभियुक्त और उसकी पत्नी का विवाह लगभग 1919 में हुआ । वे पीतापुर से लगभग 250 मील दूर बरहामपुर में रहने चले गए । 1933 के लगभग वे पीतापुर लौटे, जहां वे पत्नी के पिता के यहां ठहरे प्रतीत होते हैं । उस समय उनको धन की आवश्यकता रही प्रतीत होती है । 1936 में अभियुक्त की पत्नी ने मृतक से विभिन्न समयों पर थोड़ी-थोड़ी राशि करके 3,000/- रुपए उधार लिए, जिन पर ब्याज की वार्षिक दर 18 प्रतिशत थी । इन संव्यवहारों को साबित करने वाले लगभग 50 पत्र और टिप्पण, जिन पर अभियुक्त की पत्नी के हस्ताक्षर थे, मृतक के पीतापुर स्थित मकान में उसकी मृत्यु के बाद पाए गए । शनिवार तारीख 20.3.1937 को मृतक को एक पत्र मिला, जिसकी ठीक-ठीक विषयवस्तु साबित नहीं की गई । किंतु यह उचित तौर पर स्पष्ट था कि उसमें उसे बुलाया गया था कि वह उसी दिन या अगले दिन बरहामपुर आए । उस पर कोई हस्ताक्षर नहीं थे । विधवा का कहना था कि उस दिन उसके पति ने एक पत्र दिखाकर कहा था कि वह बरहामपुर जा रहा है क्योंकि अपीलार्थी की पत्नी ने उसे लिखा है कि आ करके अपना रुपया ले जाओ । इस साक्ष्य पर आपत्ति की गई । यह इस आधार पर ग्रहण किया गया कि वह साक्ष्य अधिनियम की धारा 32(1) के उपबंधों के अंतर्गत आ जाता है । इस साक्ष्य को ग्रहण करना भी अपील का एक आधार है और उस पर आगे चर्चा की जाएगी । मृतक अपने घर से रविवार 21 मार्च को ऐसे समय से चला कि बरहामपुर जाने वाली रेलगाड़ी पकड़ सके । मंगलवार, 3 मार्च को उसका शव जैसा कि पहले बताया गया, पुरी में गाड़ी में मिला ।

3. यह प्रतीत होता है कि पुलिस को अभियुक्त तथा उसके घर वालों पर संदेह 4 अप्रैल के पहले नहीं हुआ । उस तारीख को पुलिस ने उसके यहां जाकर वहां रहने वालों की जांच की और अभियुक्त का बयान लिया, जिसकी ग्राह्यता इस अपील के मुख्य आधारों में से एक है । बताया गया कि पुलिस ने परिसर की तलाशी केवल अपराध में फंसाने वाले दस्तावेजों के लिए ली और अपराह्न में उपर्युक्त चार व्यक्तियों को गिरफ्तार कर

लिया । उपर्युक्त तथ्यों के साक्ष्य के अतिरिक्त अभियोजन पक्ष ने बरहामपुर की एक दुकान के दो कर्मचारियों के भी बयान कराए जहां कि बक्स बनाए और बेचे जाते थे । उन्होंने बयान दिया कि सोमवार 22 मार्च को अपराह्न में अभियुक्त के धोबी ने उनकी दुकान पर आकर एक बक्स के लिए आदेश दिया एक बक्स अभियुक्त के मकान पर ले जाकर उसको तथा उसकी पत्नी को दिखाया गया । यह बहुत बड़ा कहकर नापसंद कर दिया गया । फिर प्रश्नगत बक्स के आकार का छोटा बक्स दुकान पर धोबी को दिया गया और वह उसे ले गया । वह दुकान के कच्चे रोजनामचे और स्वच्छ प्रति में प्रश्नगत तारीख को दर्ज किया गया । यद्यपि विचारण न्यायाधीश का विचार था कि इस प्रविष्टि में छेड़छाड़ की गई है जिससे कि उसमें बक्स की ऊंचाई जोड़ दी जाए, विचारण न्यायाधीश और उच्च न्यायालय का, जिन दोनों ने वे प्रविष्टियां देखी थीं, समाधान हो गया कि उन प्रविष्टियों से उस दिन ऐसे बक्स का विक्रय वस्तुतः सिद्ध होता है । इन साक्षियों ने पहचाना कि जिस बक्स में शव पाया गया वह उनका बनाया हुआ है और वह उपर्युक्त परिस्थितियों में सोमवार को दोपहर बाद बेचा गया था । धोबी को भी बुलाया गया और उसने यह साबित किया कि अभियुक्त द्वारा दुकान से लाया गया पहला बक्स अस्वीकार करने के बाद दूसरा बक्स खरीदा गया । किंतु उसने तारीख शनिवार की बताई । न्यायाधीश के विचार से उसका बयान अविश्वसनीय था और उन्होंने कहा कि वे उसे छोड़ते हैं । किंतु उन्होंने कहा कि इस बक्स का विक्रय साक्षियों के कहे अनुसार सोमवार 22 मार्च को होना साबित हो गया है ।

4. फिर अभियोजन पक्ष ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि अभियुक्त बक्स को उस रेलगाड़ी पर ले गया जिसमें कि वह मंगलवार 23 मार्च को पाया गया । एक जतका चालक ने, जो अभियुक्त के निकट रहता था, बयान दिया कि विचारण के लगभग चार मास पूर्व प्रातःकाल अभियुक्त उसके घर आया और उसने कहा था कि उसे जतका की आवश्यकता है, वह जतका अभियुक्त के घर ले गया और एक बक्स, जो प्रश्नगत बक्स के समान था, जतके में लादा गया और फिर वह अभियुक्त और बक्स लेकर स्टेशन गया और वहां बक्स उतारकर स्टेशन के भीतर ले जाया गया । संपुष्टि के लिए एक और व्यक्ति का साक्ष्य दिया गया जो कि जतके के साथ-साथ दौड़ा था क्योंकि उसका घोड़ा नया था । अभियुक्त ने इन दोनों साक्षियों द्वारा जिरह में दिए गए बयानों का प्रबल आश्रय लिया कि उन्हें स्मरण था कि वह शनिवार था क्योंकि बरहामपुर में हाट का दिन था ।

दोनों न्यायालयों ने इसे 23 तारीख को बक्स ले जाने के बारे में साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया । उनका विचार था कि तारीख के विषय में अंतर सद्भावपूर्ण त्रुटि के कारण है । एक प्रतिष्ठित साक्षी ने बयान दिया कि उसने 23 मार्च को अभियुक्त को प्रातःकाल स्टेशन पर उस समय देखा था जब कि वह गाड़ी आई जिसमें कि बक्स बाद में मिला । वह यह नहीं बता सका कि उसने अभियुक्त को गाड़ी में प्रवेश करते भी देखा । जब पुलिस ने अभियुक्त का उसके घर पर 4 अप्रैल को बयान लिया तो यह बताया गया कि उसने बयान दिया था जो कि अभियुक्त अग्राह्य कराना चाहता है और जिसकी यहां आगे चर्चा करनी होगी । उक्त बयान यह था कि मृतक उसके घर 21 मार्च को सायंकाल आया था, वह आउट हाउस के एक कमरे में रात में सोया था और 22 तारीख को सायंकाल पैसेंजर गाड़ी से चला गया, तथा 23 मार्च को प्रातःकाल अभियुक्त गंगुलू (जतका चालक) के साथ उसके जतके में गया था और वह पैसेंजर गाड़ी से एक देलही चिरंजीवी राव के पास निजी काम से छत्रपुर गया था । छत्रपुर स्टेशन पर यह पता चलने पर कि वह व्यक्ति कहीं गया है वह विजगापत्नम पैसेंजर गाड़ी से जगन्नाथ पुर लौट आया, जहां से वह जुरिया नायक को देखने नरेन्द्रपुर गया । वह भी वहां नहीं था, अतः अभियुक्त जतका द्वारा बरहामपुर लौट आया । यह बयान प्रत्यक्षतः महत्वपूर्ण था क्योंकि उसमें स्वीकार किया गया था कि मारा गया व्यक्ति अभियुक्त के घर 21 तारीख को आया था । दोनों न्यायालयों ने यह साक्ष्य ग्रहण किया । हमारी राय में वह अग्राह्य किया जाना चाहिए था, जिसके कारण हम आगे बताऐंगे । अभियुक्त और उसके घर के तीन अन्य व्यक्ति 4 तारीख को गिरफ्तार किए गए और फिर घर खाली रहा ।

5. 7 तारीख को पुलिस ने परिसर की और तलाशी ली और कपड़ों का एक बंडल मिला, जो दृश्यतः धोया हुआ था, किंतु जिस पर खून के धब्बे थे । वह घेर में 18 इंच गहरे गड़ा हुआ मिला । कुछ कपड़े जिन पर खून के धब्बे थे और जो अभी गीले थे स्नानघर में एक बक्स में मिले । विचारण न्यायाधीश ने इस साक्ष्य को माना । अपील में दोनों न्यायाधीशों का विचार था कि ये वस्तुएं उस समय उस परिसर में नहीं थीं जब पुलिस ने 4 तारीख को तलाशी ली । न्यायमूर्ति मनोहर लाल का विचार था कि यह बरामदगी अत्यंत संदिग्ध परिस्थितियों में की गई है और उसके आधार पर अभियुक्त के विरुद्ध कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए । इस स्थिति में हमारा विचार है कि 7 अप्रैल की बरामदगी का विश्वास करना

निरापद नहीं होगा । परीक्षा करने वाले मजिस्ट्रेट के समक्ष अभियुक्त का बयान था कि वह दोषी नहीं है । वह 17 मार्च को बरहामपुर एक मुकदमे के संबंध में आया था, जिसका उसने कुछ विवरण भी दिया । उसने न तो धोबी के माध्यम से बक्स खरीदा और वह कहीं जतके में ले गया ।

6. मृतक पिछले मार्च में किसी समय उसके घर नहीं आया । वह मृतक को जानती भी नहीं थी । विचारण में उसने कहा कि निचले न्यायालय में उसने जो बयान दिया था वह सही था । जब न्यायाधीश ने पूछा कि वह कोई कारण बता सकता है कि इतने साक्षी आकर उसके विरुद्ध बयान क्यों देते हैं तो उसने कहा : "साक्षी गलत कहते हैं और पुलिस अत्यधिक उत्साह से ग्रस्त है ।"

7. जिस पहले प्रश्न की हम चर्चा करना चाहते हैं वह यह है कि क्या विधवा का यह बयान साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 32(1) के अधीन ग्राह्य है कि 20 मार्च को मृतक ने उसे बताया था कि वह बहरामपुर जा रहा है क्योंकि अभियुक्त की पत्नी ने उसे लिखा था और उससे कहा था कि आकर के अपनी बकाया प्राप्त कर ले । वह धारा उपबंधित करती है :–

> "सुसंगत तथ्यों के लिखित या मौखिक कथन, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए थे, जो मर गया .... निम्नलिखित दशाओं में स्वयमेव सुसंगत हैं : (1) जब कि वह कथन किसी व्यक्ति द्वारा अपनी मृत्यु के कारण के बारे में या उस संव्यवहार की किसी परिस्थिति के बारे में किया गया है जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हुई, तब उन मामलों में, जिनमें उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो, ऐसे कथन सुसंगत हैं चाहे उस व्यक्ति को, जिसने उन्हें किया है, उस समय जब वे किए गए थे मृत्यु की प्रत्याशंका थी या नहीं और चाहे उस कार्यवाही की, जिसमें उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत होता है, प्रकृति कैसी ही क्यों न हो ।"

7. इस धारा के प्रभाव के विषय में भारतीय न्यायालयों में अनेक प्रकार के प्रश्न उठाए गए है । यह कहा गया कि बयान संव्यवहार हो जाने के बाद किया गया होना चाहिए, किसी भी दशा में बयान करने वाला व्यक्ति मृत्यु के निकट होना चाहिए तथा "परिस्थितियों" में केवल वही कार्य आ सकते हैं जो तब और वहां किए गए जब और जहां मृत्यु घटित हुई । हमारे विचार से प्रयुक्त शब्दों के स्वाभाविक अर्थ में ऐसी कोई परिसीमा

नहीं है । बयान मृत्यु का कारण उत्पन्न होने के पहले दिया गया हो सकता है, अथवा मृतक को मारे जाने की प्रत्याशंका के लिए कोई कारण होने के पूर्व का हो सकता है । परिस्थितियां उस संव्यवहार की परिस्थितियां होनी चाहिए । भय या आशंका व्यक्त करने वाली सामान्य अभिव्यक्तियां, चाहे वे विशिष्ट व्यक्ति के बारे में हों या अन्यथा, यदि वे मृत्यु के अवसर से सीधे संबंधित न हों तो ग्राह्य नहीं होंगी । किंतु मृतक द्वारा किया गया यह बयान कि वह उस स्थान पर जा रहा है जहां कि वह वस्तुतः मारा गया अथवा कि वह किन कारणों से वहां जा रहा है अथवा कि वह अमुक व्यक्ति से मिलने जा रहा है अथवा कि उसे अमुक व्यक्ति ने मिलने के लिए बुलाया है, इनमें से प्रत्येक उस संव्यवहार की परिस्थिति होगा और यही स्थिति होगी भले ही वह व्यक्ति अज्ञात हो अथवा अभियुक्त न हो । ऐसा बयान अभियुक्त को निर्दोष व्यक्त करने का भी हो सकता है । निःसंदेह "संव्यवहार की परिस्थिति" पद ऐसा है जिससे कुछ परिसीमा व्यक्त होती है । यह उतना व्यापक नहीं है जितना कि मिलता-जुलता पद "पारिस्थितिक साक्ष्य" है जिसमें सभी सुसंगत तथ्यों का साक्ष्य आ जाता है । दूसरी ओर यह "संव्यवहारगत तथ्य" की अपेक्षा संकीर्ण है । परिस्थितियों का वास्तविक घटना से निकट का संबंध होना चाहिए यद्यपि, उदाहरणार्थ, दीर्घ समय तक विष देने के मामले में वे सभी तारीखे हो सकती हैं जो वास्तविक घातक मात्रा की तारीख से बहुत दूर की हों । यह अवेक्षणीय है कि परिस्थितियां उस संव्यवहार की हैं जिससे कि बयान करने वाले की मृत्यु हुई । यह आवश्यक नहीं है कि कोई ऐसा ज्ञात संव्यवहार होना चाहिए जो इससे भिन्न हो कि अंत में बयान देने वाले की मृत्यु घटित हुई, क्योंकि साक्ष्य की ग्राह्यता की शर्त है कि "उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो" । प्रस्तुत मामले में मृतक की मृत्यु का कारण प्रश्नगत है । संव्यवहार वह है जिसमें कि मृतक की हत्या 21 या 22 मार्च को की गई और उसका शव एक बक्स में पाया गया जो कि अभियुक्त की ओर से खरीदा गया साबित किया गया । मृतक द्वारा 20 या 21 मार्च को बताया गया कि वह उस स्थान पर जा रहा है जहां कि अभियुक्त रहता है और एक व्यक्ति से, अर्थात् अभियुक्त की पत्नी से, मिलने जा रहा है जो अभियुक्त के घर में रहती थी । यह स्पष्टतः ऐसा बयान प्रतीत होता है जो कि उस संव्यवहार की कुछ परिस्थितियों के बारे में है जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हुई । यह बयान साक्ष्य में सही तौर पर ग्रहण किया गया ।

8. अब इस प्रश्न की चर्चा करना आवश्यक है कि क्या अभियुक्त का गिरफ्तारी के पूर्व पुलिस के समक्ष दिया गया बयान दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 द्वारा संरक्षित है । उक्त धारा की उपधारा (1) में उपबंध है :–

> "162(1) किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी से इस अध्याय के अधीन अन्वेषण के दौरान किया गया कोई कथन, यदि लेखबद्ध किया जाता है तो कथन करने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित नहीं किया जाएगा और न ऐसा कोई कथन या उसका कोई अभिलेख, चाहे वह पुलिस डायरी में हो या न हो, और न ऐसे कथन या अभिलेख का कोई भाग ऐसे किसी अपराध की, जो ऐसे कथन किए जाने के समय अन्वेषणाधीन था, किसी जांच या विचारण में, इसमें इसके पश्चात् उपबंधित के सिवाय, किसी भी प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जाएगा ।"

9. यह धारा अपने संशोधित रूप में मूल धारा के स्थान पर दंड प्रक्रिया संहिता संशोधन अधिनियम, 1923 की धारा 34 द्वारा प्रतिस्थापित की गई । इस पर भारत के उच्च न्यायालयों के अनेक निर्णय हो चुके हैं और उसके विषय में स्पष्ट मतभेद है । अधिकांश न्यायालयों ने निर्णय किया है कि वह ऐसे व्यक्ति द्वारा दिए गए बयान को लागू नहीं होती जो कि वह बयान साक्ष्य में निवेदित किए जाने के समय अभियुक्त व्यक्ति है । अल्पमत का निर्णय है कि ऐसी कोई परिसीमा नहीं है । हमारे समक्ष कम से कम 12 प्रकाशित निर्णयों का हवाला दिया गया, जिन पर तथा अन्य निर्णयों पर हमने विचार किया । उभयपक्ष की रायों का प्रतिनिधित्व करने वाले निर्णय हैं : **अजीमुद्दीन** बनाम **सम्राट**[1] - जिसमें कि न्यायमूर्ति रैंकिन के निर्णय में ऐसा बयान अभियुक्त के विरुद्ध ग्रहण किया गया और **श्यामो महापात्र** बनाम **सम्राट**[2] - जिसमें कि मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायमूर्ति रोली ने बयान को अग्राह्य किया । इस बोर्ड को सर जार्ज रैंकिन की उपस्थिति का लाभ सभी प्रकाशित निर्णयों पर पूर्ण विचार के लिए मिला और हम इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि धारा की भाषा इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि बयान तब भी ग्राह्य नहीं है जब कि वह ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो कि बाद में अभियुक्त बन गया ।

---

[1] इं. ला. रि. 54 कलकत्ता 237 = आ. इं. रि. 1927 कलकत्ता 17.

[2] इं. ला. रि. 55 मद्रास 903 = आ. इं. रि. 1932 मद्रास 391.

10. इस धारा में "इस अध्याय" पद का निर्देश उस धारा-समूह के प्रति है जो संहिता के भाग 5 के अध्याय 14 से प्रारंभ होता है, जिसका शीर्षक है : "पुलिस को इत्तिला और उसकी अन्वेषण करने की शक्ति" । कुछ पुलिस अधिकारियों को कुछ अपराधों का अन्वेषण करने की शक्ति देने के बाद संहिता की धारा 160 में अन्वेषण करने वाले किसी भी पुलिस अधिकारी को शक्ति दी गई है कि वह लिखित आदेश द्वारा किन्हीं ऐसे व्यक्तियों से जो उस मामले की परिस्थितियों से परिचित प्रतीत हों, अपने समक्ष हाजिर होने की अपेक्षा करे । धारा 161 के अनुसार कोई पुलिस अधिकारी, जो इस अध्याय के अधीन अन्वेषण कर रहा हो, मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से परिचित समझे जाने वाले किसी भी व्यक्ति की मौखिक परीक्षा कर सकता है और वह व्यक्ति, उन प्रश्नों के सिवाय जिनके उत्तरों की प्रवृत्ति ऐसी हो कि वे उसे अपराध में फसाएं, अपने से पूछे गए सभी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए आबद्ध होगा । तत्पश्चात् प्रश्नगत धारा आती है जिसकी भाषा "किसी भी व्यक्ति" के संबंध में होने के कारण सामान्य रूप में है । यह स्पष्ट है कि ये शब्द अपने सामान्य अर्थों में किसी ऐसे व्यक्ति का समावेश करेंगे जो बाद में अभियुक्त हो जाए । अपराध के अन्वेषण में बहुधा अनेक व्यक्तियों की परीक्षा करनी होती है जिनमें से किसी पर उस समय संदेह न हो या जिन सब पर उस समय संदेह हो । धारा के प्रारंभिक शब्द, जो लेखबद्ध किए गए बयान पर हस्ताक्षर कराने का प्रतिषेध करते हैं, उन सब बयानों को लागू होंगे जो उस समय लिए जाएं । अतः वे उस बयान को भी लागू होंगे जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया हो जो उस समय संभवतः संदिग्ध न हो, यद्यपि वह अंत में अभियुक्त हो जाए । अतः "कोई ऐसा कथन" में ऐसा मामला भी आएगा और प्रकट यह होगा कि यदि कोई बयान ग्रहण किया जाना है तो "किसी भी प्रयोजन के लिए प्रयुक्त" शब्दों को ये शब्द जोड़कर सीमित करना होगा "सिवाय उस व्यक्ति की ओर से या उसके विरुद्ध जिसने बयान दिया जब वह किसी अपराध का अभियुक्त हो" । यदि ऐसे अपवाद का आशय होता तो यह आशा की जा सकती थी कि वह अभिव्यक्त होता और हमें प्रयुक्त स्पष्ट शब्दों से ऐसे विचलन के लिए पर्याप्त आधार नहीं मिलता । यदि विधान-मंडल द्वारा प्रयुक्त शब्दों से उस धारा के विरचन में उसके आशय की कल्पना करे तो मानना यह होगा कि उनका विचार था कि जानकारी के मुक्त प्रकटन को प्रोत्साहित करें अथवा बयान देने वाले व्यक्ति के कथित बयानों के विषय में पुलिस के बयानों की मानी गई अविश्वसनीयता से रक्षा करें, अथवा दोनों आशय हो सकते हैं । किसी भी दशा में ये कारण ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए

गए बयान को और जोर से लागू होंगे जो अंत में अभियुक्त हो गए । किंतु वस्तुतः जब शब्दों का अर्थ स्पष्ट है तो न्यायालयों का यह कर्तव्य नहीं होता कि आशयों की कल्पना में व्यस्त हो जाए :–

> "मैं इस नियम की बुद्धिमत्ता से बहुत समय से और गहनता से प्रभावित हूं और अब मैं उसे कम से कम वेस्टमिंस्टर हाल के न्यायालयों में सर्वमान्य मानता हूं कि वसीयतों और वस्तुतः कानूनों तथा सभी लिखतों के अर्थान्वयन में शब्दों का व्याकरण के अनुसार और सामान्य अर्थ लेना चाहिए, सिवाय उस दशा के जब कि उससे कुछ बेतुकापन या शेष लिखत से विरोध या असंगति उत्पन्न हो जाए, जिस दशा में शब्दों का व्याकरण के अनुसार या सामान्य अर्थ इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है कि वह बेतुकापन और असंगति न रहे, किंतु उसके आगे परिवर्तन नहीं होना चाहिए **ग्रे** बनाम **पियर्सन**[1] में लार्ड वेंसलेडेल ।"

मान्यवर, मुख्य न्यायमूर्ति टिंडल द्वारा **ससेक्स पियरेज का मामला**[2] में न्यायाधीशों की राय सुनाने में निर्णय में प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग करते हुए : "संसद् के अधिनियमों के अर्थान्वयन का एकमात्र नियम यह है कि उनका अर्थान्वयन अधिनियम पारित करने वाली संसद् के आशय के अनुसार किया जाना चाहिए । यदि कानून में प्रयुक्त शब्द स्वयं में निश्चित और दुविधारहित हैं तो इससे अधिक कुछ आवश्यक नहीं हो सकता कि उन शब्दों का स्वाभाविक और सामान्य अर्थ लगाया जाए । ऐसे मामले में स्वयं शब्द ही विधि-निर्माता के आशय को सर्वोत्तम व्यक्त करते हैं । किंतु यदि विधान-मंडल द्वारा प्रयुक्त शब्दों से कोई संदेह उत्पन्न हो तो आशय ज्ञात करने का यह सदैव निरापद साधन माना गया है कि कानून बनाने के आधार और हेतु की सहायता ली जाए तथा उद्देशिका का आश्रय लिया जाए जो कि **स्टोवेल** बनाम **लार्ड जुश**[3] में मुख्य न्यायमूर्ति डायर के अनुसार अधिनियम के निर्माताओं के मस्तिष्क को खोलने वाली कुंजी है और वे त्रुटियां बता देता है जिनका वे उपचार करना चाहते थे, **इनकम टैक्स कमिश्नर्स** बनाम **पेम्सेल**[4] में लार्ड हेल्सबरी ।"

---

[1] (1857) 6 हाउस आफ लार्ड्स केसेज 61(106).

[2] (1844) 11 सी. एल. एंड एफ. 85(143).

[3] (1562) प्लाउड 353(369).

[4] (1891) अपील केसेज 531(542).

11. प्रस्तुत मामले में स्वयं शब्द विधान-मंडल का आशय व्यक्त कर देते हैं । अतः यह अग्राह्य लगता है कि स्पष्ट अर्थ करने में लाभ-हानि पर विचार किया जाए, चाहे वह अभियोजन पक्ष के हित में हो या अभियुक्त के हित में । प्रकट यह होगा कि भारत के कुछ न्यायालयों में इन शब्दों का स्वाभाविक अर्थ लेने में जो कठिनाई अनुभव हुई है वह साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 25, 26 और 27 के माने गए एक प्रभाव की है । धारा 25 में उपबंध है कि पुलिस अधिकारी से की गई कोई संस्वीकृति अभियुक्त के विरुद्ध साबित नहीं की जाएगी । धारा 26 के अनुसार पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में किसी व्यक्ति द्वारा की गई संस्वीकृति उसके विरुद्ध साबित नहीं की जाएगी । धारा 27 एक परंतुक के रूप में है कि जब किसी तथ्य के बारे में यह साक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, जो पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में है, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चला है तब ऐसी जानकारी में से उतनी साबित की जा सकेगी जितनी तद्द्वारा पता चले तथ्य से स्पष्टतः संबंधित है, चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती हो या नहीं । कहा यह गया कि संहिता की धारा 162 का कहा गया अर्थ लेने से साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 निरसित हो जाएगी, क्योंकि तथ्य का पता देने वाला बयान भी तब साबित नहीं किया जा सकेगा । यह प्रत्यक्ष है कि दोनों धाराएं कुछ परिस्थितियों में एक साथ चल सकती हैं । धारा 162 उन बयानों तक सीमित है जो पुलिस अधिकारी को अन्वेषण के दौरान दिए जाएं । धारा 25 में पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई ऐसी संस्वीकृतियां आ जाती हैं जो अन्वेषण प्रारंभ होने के पहले की गई हों या अन्यथा अन्वेषण के दौरान न की गई हों । धारा 27, धारा 26 के परंतुक के रूप में प्रतीत होती है, जिस धारा 26 में किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया बयान आता है जब वह पुलिस अभिरक्षा में हो और ऐसे बयानों को लागू होता है चाहे वे किसी के भी समक्ष दिए गए हों, उदाहरणार्थ साथी बंदी या डाक्टर या आगंतुक के समक्ष । ये बयान धारा 162 के अंतर्गत नहीं आते । धारा 162 में शब्दों का स्पष्ट अर्थ लेने पर क्या यह बयान अग्राह्य रहेगा, भले ही उससे किसी तथ्य का ऐसा पता लगे, जो धारा 27 द्वारा अनुध्यात है, इसका अभिनिश्चय करना आवश्यक नहीं लगता ।

12. प्रस्तुत मामले में बयान देने वाला पुलिस अभिरक्षा में नहीं था और उस बयान के परिणास्वरूप कोई बात पता चली नहीं बताई गई । हमारे

विचार से धारा 162 की भाषा स्पष्टतः इतनी व्यापक है कि उसमें ऐसी कोई भी संस्वीकृति वर्जित हो जाती है जो पुलिस अधिकारी के समक्ष अन्वेषण के दौरान की जाए, चाहे उससे कोई बात पता चले या नहीं । अतः उनसे उस सीमा तक वह धारा निरसित हो सकती है जो अन्यथा लागू होती । यदि निरसित न हो तो वह संभवतः इस आधार पर कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 1(2) के अर्थों में विशेष विधि है और धारा 162 तप्रतिकूल विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है । हम इस प्रश्न पर कोई राय व्यक्त नहीं करते क्योंकि सहीं दृष्टिकोण कुछ भी हो, धारा 162 का वह पूरा अर्थ लगाना आवश्यक लगता है जो पहले बताया गया । केवल यह और कहना है कि धारा 162 का अब जो अर्थ किया गया है उससे अभियोजन पक्ष या अभियुक्त पक्ष को जो भी कठिनाइयां आएं लगभग उन सबसे इस प्रकार बचा जा सकता है कि बयान व संस्वीकृतियां धारा 164 के अधीन लेखबद्ध करा ली जाएं । हमारे इस विनिश्चय को देखते हुए कि अभिकथित बयान धारा 162 के कारण अग्राह्य था, अपीलार्थी का यह तर्क अनावश्यक हो जाता है कि वह साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के अधीन संस्वीकृति के रूप में ग्राह्य नहीं था । किंतु क्योंकि इस प्रश्न पर बहस की गई और उस पर भारतीय न्यायालयों में भी चर्चा है अतः यह कहना उपयोगी होगा कि हमारे विचार से कोई बयान जिसमें अपने को बचाने वाला कथन हो संस्वीकृति की कोटि में नहीं आ सकता, यदि बचाने वाला कथन ऐसे तथ्य का है जो कि सही होने पर उस अपराध को नकार देगा जिसकी संस्वीकृति की जानी है । इसके अतिरिक्त संस्वीकृति में या तो अपराध स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा अपराध के सभी तथ्य सारतः स्वीकार किए जाने चाहिए । अपराध में गंभीरतः फंसाने वाले तथ्य की स्वीकृति, भले ही वह निश्चायक रूप से अपराध में फंसाने वाले तथ्य की हो, स्वतः संस्वीकृति नहीं होती, उदाहरणार्थ यह स्वीकृति की अभियुक्त उस चाकू या रिवाल्वर का स्वामी है और हाल तक वह उसके कब्जे में था जिससे कि हत्या की गई और किसी अन्य व्यक्ति का कब्जा होने का कोई स्पष्टीकरण न हो । कुछ भ्रांति स्टीफन के "डाइजेस्ट आफ दि ला आफ एवीडेन्स", के अनुच्छेद 22 में दी गई संस्वीकृति की परिभाषा से उत्पन्न होती है । उसमें संस्वीकृति ऐसी स्वीकृति के रूप में परिभाषित है जो अपराध से आरोपित व्यक्ति द्वारा किसी समय की जाए और जिसमें यह कहा जाए या जिससे यह निष्कर्ष निकले कि उसने वह अपराध किया । यदि आस-पास के अनुच्छेदों की परीक्षा की

जाए तो यह स्पष्ट होगा कि विद्वान् लेखक सामान्य तौर पर संस्वीकृतियों की चर्चा करने के बाद दांडिक मामलों में स्वीकृतियों की चर्चा कर रहे हैं और उस प्रयोजनार्थ वह संस्वीकृति की इस प्रकार की परिभाषा दे रहे हैं कि उसमें ऐसी सब स्वीकृतियां आ जाएं जिससे कि तीन आगे के अनुच्छेदों में समान शब्द प्रयोग में आ सके, प्रलोभन द्वारा अभिप्राप्त संस्वीकृति, शपथ पर की गई संस्वीकृति और गोपनीयता के वायदे पर की गई संस्वीकृति । यहां साक्ष्य अधिनियम, 1872 में परिभाषा नहीं है और उस अधिनियम में भाषा के स्वाभाविक प्रयोग से यह सुसंगत नहीं होगा कि संस्वीकृति का अर्थ ऐसे बयान से लगाया जाए जो अभियुक्त द्वारा किया गया हो और जिससे यह निष्कर्ष निकले कि उसने अपराध किया ।

13. यह निर्णय किया जा चुका है कि अभियुक्त का बयान गलत तौर पर ग्रहण किया गया । उसका अपील पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? अपीलार्थी की ओर से श्री प्रीट ने जारेदार बहस की कि विचारण न्यायाधीश ने इस बयान को यह साबित करने के लिए स्वतः पर्याप्त साक्ष्य माना कि मृतक 21 मार्च की रात को अभियुक्त के घर आया था और जब वह साक्ष्य नहीं रह गया तो हत्या के लिए दोषसिद्धि के समर्थन के लिए पर्याप्त नहीं रह गया । हम यह दृष्टिकोण नहीं अपना सकते । इस प्रयोजनार्थ हम वह नियम लागू मानेंगे जो पटना उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 537 के संबंध में व्यक्त विचारण के .... दौरान .... निर्णय या अन्य कार्रवाइयों में हुई .... किसी गलती .... के कारण .... अपील में .... अपील .... न्यायालय द्वारा तब तक नहीं उलटा जाएगा .... जब तक कि .... के कारण वास्तव में न्याय नहीं हो पाया है ।"

14. प्रस्तुत मामले में हम यह नियम अपनाएंगे यद्यपि यह उन नियमों से अधिक व्यापक है जो इस बोर्ड ने दांडिक अपीलों पर विचार करने में अपनी शक्तियों के प्रयोग के लिए बताए हैं । यह उल्लेखनीय है कि विवादित बयान का एकमात्र प्रभाव यह था कि अभियोजन पक्ष को इस तात्विक तथ्य का साक्ष्य मिल जाए कि मृतक मर्मभूत समय पर अभियुक्त के घर पहुंचा । यह साक्ष्य अग्राह्य करने का भी उसी आशय का अन्य प्रचुर एवं सबल साक्ष्य है । यह साबित मानना होगा कि बक्स अभियुक्त के आदेश से खरीद कर उसके घर 22 मार्च के अपराह्न में ले जाया गया ।

23 मार्च को प्रातः लगभग 6 बजे वह बक्स, जिसमें मृतक की लाश थी, बरहामपुर स्टेशन पर रेल में रखा गया और स्टेशन पर वह ऐसी सवारी से लाया गया जिसका आदेश अभियुक्त ने दिया था और जिससे बक्स के साथ में वह भी स्टेशन गया । मृतक उसके पहले दिन अपने घर से अभियुक्त के घर जाने के अभिव्यक्त प्रयोजनार्थ चला था । इन परिस्थितियों में मृतक के अभियुक्त के घर होने का पर्याप्त साक्ष्य है । यही बात तो उस बयान से साबित करने का प्रयत्न था । इस कठिनाई को देखते हुए श्री प्रीट ने यह सिद्ध करना चाहा कि उस बयान को अगृहीत किया जाए या गृहीत, किसी भी दशा में उनके मुवक्किल की दोषिता का पर्याप्त साक्ष्य नहीं था । उसने कहा तथ्य संगत थे, क्योंकि अभियुक्त हत्या के बाद मात्र सहायक बन गया जिसमें वह पक्षकार नहीं था । हम यह कहने में असमर्थ हैं कि उसके लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं था । जिसके आधार पर कि तथ्य का निर्णय करने वाला न्यायाधीश उचित तौर पर हत्या किए गए व्यक्ति का क्षत-विक्षत शव था और वह बक्स उसने उसके रेल में रखे जाने से 12 घंटे से कुछ अधिक पहले ही खरीदा था । उसने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया और केवल इस बात से इनकार करके संतोष कर लिया कि वह उस व्यक्ति को जानता भी था या कि वह उसके घर आया था, या कि उसने बक्स देखा भी था । ये सब कथन असत्य थे । इन परिस्थितियों में यह कहना असंभव है कि हत्या के दोषसिद्धि में परिणित होने वाली कार्यवाही से विफलता हुई है । इन कारणों से अपील खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

कनाडियन सेलनीज लि. .... अपीलार्थी

बनाम

बी. वी. डी. कंपनी लि. .... प्रत्यर्थी

निर्णीत 23.1.1939

न्यायमूर्ति लार्डस केंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड रसेल, न्यायमूर्ति मैकमिलन, न्यायमूर्ति राइट और न्यायमूर्ति रोमर

पेटेंट – जो पेटेंट बहुत व्यापक है और पूर्व-प्रत्याशित है वह विधिमान्य नहीं होता ।

पेटेंट – दावात्याग – दावा-त्याग करने से पेटेंट तत्काल संशोधित हो जाता है और उसी संशोधित रूप में लागू होता है – उसके असंशोधित रूप के आधार पर कोई अनुतोष नहीं मांगा जा सकता – संशोधन उस कार्यवाही को लागू नहीं होगा जो दावा-त्याग के समय विचाराधीन हो ।

सिविल अपील अधिकारिता :	**1938 की अपील संख्या 21.**
अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री सर डब्ल्यू मौंकटन, ई. जे. नीप और सी. जे. बोनार्ड
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री आर. स्योनती और सी. रोबिनसन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल ने दिया ।

न्या. रसेल – प्रारंभ में उन सुसंगत तथ्यों का उल्लेख करना उचित है जिनसे यह अपील उद्भूत हुई है । अपीलार्थी कनाडा के तारीख 16.11.1926 को मंजूर किए गए लेटर्स पेटेंट सं. 265960 के समनुदेशिती है । पेटेंट कपड़ा और चादर की सामग्री और उसके विनिर्माण संबंधी सुधार के संबंध में है । उसकी विनिर्दिष्टियों के एक अंश के अनुसार वह ऐसी प्रक्रिया का है जिसमें सम्मिलित चादर सामग्री को, जिसमें अनेक प्रकार के सम्मिश्र परत सामग्री होती है उष्णता और दबाव से प्रसंस्कृत करके उसे नरम किया जाता है और इस प्रकार वे तंतु सब एक हो जाते हैं । प्रत्यर्थी माण्ट्रील में कमीजों के व्यापारी हैं । उनमें जुड़ा हुआ कालर होता है जिससे कि अपीलार्थियों के अनुसार उनके पेटेंट का अतिलंघन होता है । उन्होंने अपीलार्थियों के विरुद्ध एक वाद किया जिसमें प्रथमतः यह घोषणा चाही

कि उनका माल पेटेंट सं. 265960 तथा 311185 का अतिलंघन नहीं करता और यदि अतिलंघन भी करता है तो वे पेटेंट अविधिमान्य हैं क्योंकि वे पूर्व प्रत्याशित हैं, उनमें अत्यधिक दावा किया गया है और वे दुविधात्मक हैं । एक्सचेकर न्यायालय ने पेटेंट सं. 311185 अविधिमान्य घोषित कर दिया तथा पेटेंट सं. 265960 को विधिमान्य मानते हुए निर्णय किया कि उसका अतिलंघन किया गया है । अतः वाद खारिज कर दिया गया । अपील में उच्चतम न्यायालय ने पेटेंट सं. 265960 को भी अविधिमान्य घोषित कर दिया और प्रत्यर्थियों को उनका खर्चा दिलाया । अविधिमान्य घोषित करने का आधार यह था कि पेटेंट में किया गया दावा अति व्यापक है, उसमें आविष्कार से अधिक का समावेश किया गया है तथा बहुत कुछ पूर्व पेटेंटों में प्रत्याशित था । यह निर्णय पेटेंट अधिनियम, 1936 की धारा 50 के अनुसार था । उच्चतम न्यायालय ने अपना निर्णय पेटेंट के पूर्व प्रत्याशित होने के आधार पर दिया । अतः अन्य प्रश्नों पर चर्चा नहीं की ।

2. इस स्थिति को देखते हुए अपीलार्थी ने पेटेंट को उपांतरित कराने के लिए दावा-त्याग (disclaimer) तारीख 3.4.1937 को या उसके लगभग दाखिल कर दिया और तत्पश्चात् 8.4.1937 को उसने उच्चतम न्यायालय में आवेदन दिया कि पूर्व निर्णय का पुनर्विलोकन किया जाए क्योंकि उसने दावा-त्याग करके पेटेंट उपांतरित करा दिया है । उच्चतम न्यायालय ने यह आवेदन इस आधार पर खारिज कर दिया कि अपीलार्थी ने अपने आचरण से अपने को निरर्हित कर लिया है क्योंकि दूसरी ओर से आपत्ति की जाने पर भी वह इस न्यायालय तक लड़ा और जब दूसरे पक्षकार के पक्ष में यहां निर्णय हो गया तभी उसने दावा-त्याग किया । उसने किसी प्रश्न का निर्णय किए बिना आवेदन खर्चे सहित खारिज कर दिया । उसी के विरुद्ध अपीलार्थियों ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की । परिणामतः वे यह घोषणा चाहते हैं कि लेटर्स पेटेंट विधिमान्य है और प्रत्यर्थी ने उनका अतिलंघन किया है ।

3. विधिमान्यता अपीलार्थी दो आधारों पर चाहते हैं : प्रथमतः यह कि पेटेंट का सीमित अर्थ लेकर निचले न्यायालयों के निर्णय गलत ठहराए जाने चाहिए और दूसरे यह कि किसी भी दशा में दावा-त्याग के बाद पेटेंट विधिमान्य हो गया है ।

4. जहां तक पुनर्विलोकन आवेदन के निर्णय का संबंध है, यह प्रश्न उस न्यायालय पर निर्भर करता था कि वह पुनः बहस सुने या न सुने । जब एक बार पूरी बहस सुनकर वह कारण सहित निर्णय दे चुका है तो हम

उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते । पेटेंट का जो अर्थ उच्चतम न्यायालय ने लगाया है उससे हम सहमत हैं और उनके इस मत से भी सहमत हैं कि पूर्व प्रत्याशित होने के कारण पेटेंट अविधिमान्य था ।

5. अब प्रश्न आता है कि दावा-त्याग के प्रभाव का । यहां दावा-त्याग शर्तरहित है । वस्तुतः उसे होना भी ऐसा ही चाहिए । सशर्त दावा-त्याग विधितः अनुमत नहीं है । जैसे ही दावा-त्याग दाखिल किया गया और वह कमिश्नर के न्यायालय में लेखबद्ध हुआ वह पेटेंट का भाग हो गया । अब दावा केवल संशोधित पेटेंट के संबंध में ही हो सकता है और केवल वही संरक्षित है । सब पूर्व विनिर्दिष्टियां संशोधित हो गईं । स्वयं अपीलार्थी ने दावा-त्याग दाखिल करके उच्चतम न्यायालय का अर्थान्वयन स्वीकार कर लिया और उसके अब प्रश्नगत करना अनुमत नहीं है । जहां तक उसका इस कार्यवाही पर प्रभाव का संबंध है, स्वयं उक्त अधिनियम की धारा 50(3) में उपबंधित है कि कोई दावा-त्याग ऐसी किसी कार्यवाही को प्रभावित नहीं करेगा जो दावा-त्याग किए जाने के समय विचाराधीन हो, सिवाय इस प्रश्न पर कि वह अनुचित उपेक्षा या विलंब से की गई । अतः पक्षकारों के इस वाद में अधिकारों का निर्णय संशोधित लेटर्स पेटेंट के आधार पर नहीं हो सकता ।

6. एक प्रश्न और विचारणीय रहता है । प्रश्नगत आदेश में संपूर्ण पेटेंट शून्य घोषित कर दिया गया है किंतु अब वह पेटेंट संशोधित रूप में विद्यमान है । उसके पार्श्व में न्यायालय की घोषणा अंकित करने से भ्रांति हो सकती है । अतः हमारा विचार है कि प्रश्नगत आदेश में यह स्पष्ट कर दिया जाए कि आदेश मूल विनिर्दिष्टियों वाले पेटेंट के संबंध में है । प्रत्यर्थियों के अभिवक्ता ने अनुरोध किया कि संशोधित पेटेंट के अधीन पक्षकारों के अधिकारों और दायित्वों का निर्णय कर दिया जाए । किंतु वर्तमान कार्यवाही तो तारीख 19.3.1937 को समाप्त हो चुकी है । संशोधित पेटेंट का प्रश्न नई कार्यवाही में ही उठाया जा सकता है । अतः ऐसी दशा में यह अपील उक्त संशोधन सहित खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है । अपीलार्थी प्रत्यर्थियों का इस अपील का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

अवध कामर्शियल बैंक लि., फैजाबाद.......... अपीलार्थी

बनाम

ठकुराइन बिंद्यबासिनी कुंवर तथा अन्य............... प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड एटकिन, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 48 – नया आवेदन के स्वरूप को विनिश्चित करते समय आवेदन के प्ररूप पर मामले का सार अभिभावी होना चाहिए – इस मामले में आवेदन नया निष्पादन आवेदन न होकर पूर्व आवेदन को पुनर्जीवित करने के लिए ही है ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 47 – डिक्री – निष्पादन – ब्याज की युक्तियुक्त दर पर विचार करते समय उचित सौदा निष्पादन कार्यवाहियों में प्रवृत्त किया जा सकता है ।

एक बंधक वाद में 1916 में अंतिम डिक्री पारित की गई थी और उसे एक ऐसे अन्य न्यायालय को निष्पादन के लिए अंतरित किया जिसे 1917 में सभी बंधक संपत्ति के विक्रय के लिए आवेदन दिया गया था । कतिपय कारणों से कार्यवाहियां रोक दी गईं थीं किंतु बंधकदार के आवेदन पर 1922 में प्रत्यावर्तित कर दी गईं और निर्णित ऋणी की संपत्ति बेच दी गई । किंतु उसके कुछ धन संदत्त करने के लिए सहमत होने पर विक्रय रद्द कर दिए गए । धन संदत्त किया गया और निष्पादन न्यायालय निष्पादन मामले को अभिलेखागार भेज दिया । तत्पश्चात् देय राशि का संदाय करने के लिए निर्णीत ऋणी को समय देने के लिए एक करार किया गया कि निर्णीत ऋणी बढ़ी हुई ब्याज की दर का संदाय करें । अंत में 1931 में डिक्रीदार ने उस संपत्ति को बेचने के लिए पश्चात्वर्ती न्यायालय को आवेदन दिया जो बंधक से मुक्त नहीं की गई थी । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – हमारी राय में उसके अधीन की गई अदायगियों का मोहन लाल गंज के न्यायालय द्वारा लेखबद्ध किया जाना और डिक्री फैजाबाद को पुनः अंतरित करने के लिए उस न्यायालय को आवेदन इस परिस्थिति के पारिणामिक थे और उसी के कारण थे कि फैजाबाद के निष्पादन न्यायालय ने इस प्रकार कार्य किया था जैसे कि उस न्यायालय में निष्पादन समाप्त हो गया हो । सितंबर, 1923 में अधीनस्थ न्यायाधीश ने उपायुक्त से लिखकर पूछा था कि इस निष्पादन मामले में क्या हुआ और उन्हें सूचित किया गया था कि 5 लाख अदा हो चुके हैं तथा पक्षकारों में समझौता हो

रहा है तथा मामला दो वर्ष से पूर्व नहीं निपटेगा और फाइल को और विचाराधीन रखना उनके लिए आवश्यक नहीं है । तद्नुसार 6.10.1923 के आदेश द्वारा मामला अंशतः तुष्ट के रूप में तथा 5 लाख रुपए मुजरा देकर अभिलेखागार भेज दिया गया । अधीनस्थ न्यायाधीश के निर्णय से हमें ज्ञात हुआ है कि कागज मोहन लाल गंज लौटा दिए गए । फिर भी विक्रय कार्यवाही फैजाबाद के राजस्व प्राधिकारियों के समक्ष 4 वर्ष पर्यन्त सक्रिय रूप से चलती रही और वह इस अर्थ में कि समय के लिए समझौते किए गए, वे लेखबद्ध किए गए, उनका अंशतः पालन किया गया और फिर नवीकरण किया गया, जब कि विक्रय के लिए आवश्यक कदम समय-समय पर स्थगित किए जाते रहे । 1924 में एक समझौता अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा लेखबद्ध किया गया और उनके 5.4.1924 के आदेश से अनेक संपत्तियां निर्मुक्त की गईं । 1927 का समझौता इस मान्यता पर किया गया कि फैजाबाद न्यायालय में निष्पादन कार्यवाही विचाराधीन है जिसके अधीन विक्रय की कार्यवाही किसी भी क्षण की जा सकती है और जिसके अंतर्गत विक्रय इस शर्त पर मुल्तवी किया जा सकता है कि निर्णीत ऋणी करारकृत शर्तों का पालन करे । यह तथ्य कि पक्षकार या उनके सलाहकार या राजस्व न्यायालय के पदाधिकारी चाहते थे कि जो भी न्यायालय उस निमित्त सक्षम हो उससे संशोधित डिक्री मिल जाए । इसका परिणाम यह हुआ कि फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसके तारतम्य में कार्यवाही की जो उन्होंने अक्तूबर, 1923 में किया था, जिससे फैजाबाद में निष्पादन मामला अप्रत्याशित रूप से समाप्त हो गया था और उसके कारण मोहनलाल गंज के न्यायालय द्वारा डिक्री पुनः अंतरित की जानी पड़ी । अधीनस्थ न्यायाधीश कहते हैं : "इस न्यायालय ने कागज मूल न्यायालय को लौटा दिए थे, अतः उन्हें समझौता भी भेज दिया था ।" निःसंदेह विद्वान् न्यायाधीश इस विषय में बहुत भ्रमित थे कि संशोधित डिक्री प्राप्त करने के अनुरोध की प्राप्ति पर क्या कार्यवाही करना उचित होगा । हम उनकी कठिनाई समझते हैं । किंतु इन परिस्थितियों में हम यह सही नहीं समझते कि अपीलार्थियों के आवेदन को संहिता की धारा 48 में अर्थों में नया आवेदन केवल उन कदमों के कारण मान लिया जाए जिनके द्वारा उन्होंने यह आवश्यक समझा कि फैजाबाद के न्यायालय के निष्पादन मामला पक्षकारों के आशय के विपरीत समाप्त करने को अकृत किया जा सके । और न हमारा यह विचार है कि 8 प्रतिशत की दर से ब्याज के (जिसका करार पहली बार 1924 में किया गया था और जिसे पक्षकारों ने अपनी लंबी वार्ता में तत्पश्चात् क्रियान्वित किया) दावे से वह आवेदन एक नया

आवेदन हो गया जो मार्च, 1927 के समझौते द्वारा अनुध्यात पूर्व कार्यवाही जारी रखने के आवेदन से भिन्न था और न इस बात के कारण कि मूल संपत्तियों का एक अंश ही प्रतिभूति से आबद्ध और डिक्री के अधीन विक्रय-योग्य रह गया । इसके विपरीत यह आवेदन पूर्व कार्यवाही को पुनर्जीवित करने के लिए था और वह इस आधार पर कि वह समाप्त नहीं हुई । आवेदन की प्रकृति का विनिश्चय प्रत्येक मामले की परिस्थितियों में किया जाना होता है और प्रस्तुत मामले में पक्षकारों का परस्पर सौदा बड़े महत्व की परिस्थिति है तथा यह बात भी कि फैजाबाद न्यायालय ने तत्प्रतिकूल कार्यवाही अनवधानतावश की । मामले का सार आवेदन के प्ररूप पर अभिभावी होगा और हमारी राय में वह आवेदन धारा 48 द्वारा अनुध्यात नया आवेदन नहीं है । डिक्री पारित करने वाले न्यायालय को ऐसे आवेदनों के लिए 6 मास के परिसीमाकाल की व्यवस्था पूर्णतः स्पष्ट नहीं है और उसके उद्देश्य एक से अधिक हो सकते हैं । किंतु स्वयं नियम की भांति यह उपबंध भी यह अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं करता कि संहिता पक्षकारों को इस बात के लिए पूर्णतः अक्षम बना देता है कि समय के लिए ऐसा प्रबंध करें जो निष्पादन कार्यवाही में प्रवर्तनीय हो । ऐसे सौदों के अनेक रूप हो सकते हैं और प्रत्येक मामले के विषय में पहले से निर्णय संभव नहीं है । यदि धारा 47 के अधीन कार्य करने वाले न्यायालय को यह प्रतीत हो कि करार का सही प्रभाव यह था कि निर्णीत ऋणी द्वारा दिए गए वचनों के बदले डिक्री तुरंत उन्मोचित हो जाए तो निःसंदेह न्यायालय को निष्पादन कार्यवाही के दौरान करार के प्रवर्तन का अवसर नहीं आएगा, बल्कि लेनदार को संविदा के आधार पर अलग वाद करने के लिए छोड़ दिया जाएगा । दूसरी ओर, यदि करार का आशय निर्णीत ऋणी के डिक्री के अधीन दायित्व को शासित करने का तथा प्रवर्तन के समय या ढंग को प्रभावित करने का है तो वह ऐसा विषय है जिस पर धारा 47 के अधीन विचार किया जाना है । ऐसे मामले में यह कहना कि लेनदार को संभवतः अलग वाद करना होगा संहिता का गलत अर्थ लगाना होगा, जो संहिता की ऐसे सब मामलों पर विचार निष्पादन में किए जाने की अपेक्षा करके निष्पादन न्यायालय की परिधि और कृत्यों का एक व्यापक दृष्टिकोण प्रकट करती है । हम उपर्युक्त **गोवर्धन दास** वाले निर्णय में पृष्ठ 585 पर किए गए इस कथन से सहमत हैं कि अनेक मामलों में डिक्रीदार और निर्णीत ऋणी के बीच निष्पादन कार्यवाही के दौरान किया गया समझौता, जो यथाविधि लेखबद्ध कर लिया गया, प्रवर्तित किया गया है । और हमारी यह राय नहीं है कि यह बहुप्रचलित और पुरानी

पद्धति संहिता के विरुद्ध है । हमारी राय में प्रस्तुत मामले में समझौता निष्पादन कार्यवाही में प्रवर्तित किया जा सकता है और किया जाना चाहिए । (पैरा 9 और 12)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1932]	इं. ला. रि. 54 इलाहाबाद 573 = आ. इं. रि. 1932 इलाहाबाद 273 : **गोवर्धन दास** बनाम **दाऊ दयाल** ;	11
[1937]	54 इंडियन अपील 302(308) = आ. इं. रि. 1937 प्रिवी कौसिल 256 : **प्रद्युम्न कुमार मालिक** बनाम **दिनेन्द्र मालिक** ।	11

सिविल अधिकारिता : 1937 की अपील सं. 60.

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री सर हरबर्ट कुनलिफ और डब्ल्यू. वालच

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री एम. एच. रशीद

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

न्या. रैंकिन – यह अपील डिक्रीदार की है । यह अवध कामर्शियल बैंक लि. फैजाबाद ने अवध मुख्य न्यायालय के 14.8.1934 के उस आदेश के विरुद्ध की है जिसके द्वारा अधीनस्थ न्यायाधीश, मोहनलालगंज, लखनऊ ने 22.1.1916 को पारित विक्रय की अंतिम डिक्री के निष्पादन के लिए आवेदन खारिज कर दिया था । प्रत्यर्थी बाबू नरेन्द्र बहादुर सिंह के (जिसे यहां आगे "निर्णीत ऋणी" कहा गया है) प्रतिनिधि हैं । उसकी मृत्यु इस अपील के विचाराधीन रहते 1936 में हो गई । उसने अपीलार्थियों के पक्ष में 2.9.1894 को एक बंधक किया था, वह 8 प्रतिशत वार्षिक ब्याज सहित 2,35,008/- रुपए के लिए था । बंधक अनेक पैतृक संपत्तियों का था जिनमें खाम/पुख्तादारी (propetary and under proprietary) दोनों प्रकार के गांव थे । इस बंधक को प्रवर्तित कराने के लिए उसके विरुद्ध अपीलार्थी ने एक वाद 1911 में किया था । उसने अधीनस्थ न्यायाधीश से 31.10.1912 को विक्रय की प्रारंभिक डिक्री प्राप्त कर ली थी । न्यायिक आयुक्त न्यायालय को अपील की जाने पर यह प्रारंभिक डिक्री 15.6.1915 को संशोधित कर दी गई । अब बंधक पर बकाया राशि 3.7.1915 से 4

प्रतिशत ब्याज सहित 7,96,763/- रुपए निश्चित की गई । उसके शीघ्र बाद सरकार के आदेश से प्रतिपाल्य अधिकरण ने निर्णीत ऋणी की संपदा का प्रबंध ग्रहण कर लिया और फिर वह संपदा 29.9.1917 तक नहीं छोड़ी गई । तद्नुसार प्रतिपाल्य अधिकरण के प्रबंधक होने के नाते फैजाबाद के उपायुक्त उस बंधक वाद में प्रतिवादी हो गए और उनके विरुद्ध विक्रय की अंतिम डिक्री 22.1.1916 को पारित की गई । उसने तब देय राशि 7,96,763/- रुपए पर देय 4 प्रतिशत भावी ब्याज सहित 8,13,470/- रुपए निश्चित की ।

2. इस डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही लंबी चली है । उसमें अब हमारे समक्ष लाए गए आवेदन के अतिरिक्त हैं डिक्री पारित करने वाले न्यायालय (मोहनलाल गंज) को एक आवेदन (7.9.1916) कि उसे निष्पादन के फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश को अंतरित कर दें, फैजाबाद के न्यायालय को आवेदन (3.7.1917) कि सभी बंधक संपत्ति के विक्रय का आदेश दें तथा 16.1.1922 का एक आवेदन जिसे पहली कार्यवाही जिसमें निष्पादन के रोके जाने से तथा अन्यथा बहुत हस्तक्षेप हुआ है, पुनः स्थापित की जाए और चालू रखी जाए, भले ही राजस्व न्यायालय और अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसे अभिलेखागार भेजने का आदेश दिया हो । यह अंतिम आवेदन अधीनस्थ न्यायाधीश के 17.1.1922 के आदेश द्वारा मंजूर कर लिया गया ।

3. यह प्रकट होता है कि जब 1916-17 में अपीलार्थी अपनी विक्रय की डिक्री क्रियान्वित कराने को अग्रसर हुए तो प्रतिपाल्य अधिकरण ने उनसे सौदा किया कि उसे बंधक ऋण धीरे-धीरे अदा करने के लिए समय दे दे और ब्याज की दर 4 प्रतिशत से बढ़ाकर 6 1/2 प्रतिशत कर दी जाए । इस ब्याज की अदायगी तथा डिक्री के अधीन देय मूलधन की कुछ राशि की अदायगी करने के लिए पर्याप्त राशि इस ठहराव के अनुसार दी गई है । फिर निर्णीत ऋणी ने सितंबर, 1917 में प्रबंध अपने हाथों में वापस ले लिया । उसने प्रतिपाल्य अधिकरण द्वारा की गई कार्यवाही से इनकार किया और कहा कि उसके मामलों में उसका हस्तक्षेप बिल्कुल अवैध था । दिसंबर, 1917 में उसने अपीलार्थी की निष्पादन कार्यवाही पर आपत्ति की कि (1) विक्रय की अंतिम डिक्री उस पर आबद्धकर नहीं है क्योंकि उपायुक्त उसका प्रतिनिधित्व नहीं करते थे ; (2) प्रतिपाल्य अधिकरण को कोई अधिकार नहीं था कि डिक्री में दी गई 4 प्रतिशत की दर से उच्चतर दर पर ब्याज देने को सहमत होता । अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह आपत्तियां

17.5.1918 को खारिज कर दीं । अपील की जाने पर न्यायिक आयुक्त न्यायालय ने पहली आपत्ति तो खारिज की, किंतु दूसरी आपत्ति को माना और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिपाल्य अधिकरण द्वारा की गई सभी अदायगी केवल 4 प्रतिशत की दर से ब्याज के आधार पर देय डिक्रीत राशि में मुजरा की जाए । उनकी 16.12.1918 की डिक्री में एक लेखा विवरण लगा हुआ था जिसमें कि उस तारीख को बकाया राशि जिसका निष्पादन होना था दिखाई गई थी । यह राशि 7,65,868/- रुपए लिखी जानी चाहिए थी किंतु गणना की गलती के कारण वह 6,70,610/- रुपए लिखी गई । यह मूल सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 152 के अधीन आवेदन पर न्यायिक आयुक्त न्यायालय के 29.8.1918 के आदेश द्वारा सुधार ली गई ।

4. 16.12.1918 की इस डिक्री के विरुद्ध सपरिषद् हिज मैजेस्टी अपील करने के लिए दोनों पक्षकारों ने प्रमाणपत्र प्राप्त किए । निर्णीत ऋणी की याचिका पर 9.2.1920 के सपरिषद् आदेश से अपील के निर्णय तक के लिए रोक आदेश दे दिया गया जिसकी शर्तें थीं कि (क) निर्णीत-ऋणी 7.9.1916 से वसूली की तारीख तक 4 प्रतिशत के स्थान पर 6-1/2 प्रतिशत की दर से ब्याज देगा तथा (ख) वर्तमान अपीलार्थी की अपील वापस ले ली जानी चाहिए । निर्णीत ऋणी की हिज मैजैस्टी की अपील मई, 1921 में खारिज हो गई, किंतु क्योंकि सपरिषद् आदेश इस प्रकार तैयार नहीं किया गया था कि बढ़े हुए ब्याज के वचनबंध को प्रभावी करे अतः 25.5.1922 को दूसरा संपरिषद् आदेश पारित किया गया जिसमें निदेश दिया गया कि न्यायिक आयुक्त की 16.12.1918 की डिक्री में बढ़े हुए ब्याज का यह उपबंध जोड़ दिया जाए । यह निदेश फैजाबाद के न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 45 के अधीन नवंबर, 1922 तक औपचारिक रूप से सूचित नहीं किया गया और इस बीच निष्पादन निर्णीत ऋणी द्वारा एक अलग वाद में प्राप्त किए गए व्यादेश से जनवरी, 1922 से जुलाई, 1922 तक रुका रहा । उस वाद में प्रतिपाल्य अधिकरण की कार्यवादी की वैधता पर आपत्ति की गई थी । जुलाई, 1917 में फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश को अपीलार्थी द्वारा दिए गए निष्पादन आवेदन को उक्त कारणों ने 1922 तक निष्प्रभावी बनाए रखा और इसी कारण उसने 16.1.1922 को आवेदन दिया कि निष्पादन कार्यवाही पुनः स्थापित करके जारी रखी जाए और यह आवेदन मंजूर करने का आदेश दिया जाए । यह परिस्थिति की अपीलार्थी ने डिक्री के अंतरण के लिए, विक्रय के आदेश के लिए और जारी रखने के आदेश के लिए आवेदन देते समय ऐसा प्रत्येक अवसर पर एक सारणीबद्ध विवरण के रूप में किया

(सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 21 नियम 10) इस बात को नहीं छिपाती की अब तक उसने अंतिम डिक्री के निष्पादन के लिए एक और केवल एक ही आवेदन दिया था ।

5. चूंकि बंधक में समाविष्ट संपत्ति पैतृक थी, अतः निष्पादन कार्यवाही कलेक्टर को अंतरित करनी पड़ी और उसे सिविल प्रक्रिया संहिता की अनुसूची 3 लागू होती थी (सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 68 और 69) । 1922 में अधीनस्थ न्यायाधीश के आदेश के बाद निर्णीत ऋणी के कुछ गांवों में अदना जमींदारी (पुख्तादारी) अधिकार राजस्व न्यायालय ने अक्तूबर, 1922 में बेच दिए । किंतु वे विक्रय 18.11.1922 को परस्पर सहमति से रद्द कर दिए गए और निर्णीत ऋणी ने करार किया कि अक्तूबर, 1923 तक अमुक राशियां अदा कर देगा । यह उसने अदा भी कर दीं । 3.4.1924 को दूसरा करार किया गया जिसके अनुसार तब देय राशि का आधा 1.4.1925 तक दिया जाना था और शेष 1.4.1926 तक, तथा मार्च 1924 के बाद ब्याज वार्षिक 6 1/2 प्रतिशत से बढ़कर वार्षिक 8 प्रतिशत हो जाना था और या षठ्मासिक विराम के साथ षठ्मासिक रूप से दिया जाना था । इस करार की एक शर्त के रूप में आधे जमींदारी गांव और सभी अदना जमींदारी (पुख्तादारी) गांव बंधक से मुक्त कर दिए गए जिससे कि निर्णीत ऋणी वचन दी गई अदायगी के लिए आवश्यक धन संग्रह कर सके । इस करार का पूर्णतः पालन नहीं किया गया, बल्कि निर्णीत ऋणी को समय दे दिया गया और उसने 1926 तक अनेक अदायगियां कीं । 9.3.1927 को पक्षकारों ने एक अंतिम करार किया । यह अंतिम करार एक समझौते की अर्जी में लिखा गया जिसने कि तब देय राशि 3 1/2 लाख रुपए निश्चित की और यह व्यवस्था की कि मूलधन की अदायगी 50,000/- रुपए-50,000/- रुपए की वार्षिक राशि में की जाए और 8 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज षड्मासिक रूप से दिया जाए और ब्याज की अदायगी में व्यतिक्रम होने पर चक्रवृद्धि ब्याज की देनदारी होगी :–

> "यदि नियत किस्तें नियमित रूप से अदा की जाती रहीं तो नीलाम विक्रय की कार्यवाही प्रास्थगित रहेगी । यदि कोई किस्त या किसी किस्त का भाग या ब्याज की राशि या ब्याज का भाग नियत समय पर न दिया जाए तो डिक्रीदारों को अनुमत होगा कि अपनी संपूर्ण राशि के लिए निष्पादन करा लें और अपनी संपूर्ण राशि उस संपत्ति से समझौते की शर्त के अनुसार नीलाम द्वारा वसूल कर लें जो कि डिक्रीदारों ने अपनी राशि के लिए दायित्व से मुक्त नहीं की है ।"

6. 14.3.1927 को फैजाबाद स्थित विक्रय अधिकारी ने समझौता

अर्जी फैजाबाद न्यायालय को भेज दी जिससे कि वह उस न्यायालय को भेज दी जाए जो 22.1.1916 की डिक्री का संशोधन 8 प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज के नए ठहराव के अनुसार करने को सक्षम है । यह प्रकट नहीं होता कि डिक्री के ऐसे संशोधन के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता का कौन-सा उपबंध विचार में था । किंतु प्रकट यह होता है कि विक्रय अधिकारी और पक्षकार आशा करते थे कि फैजाबाद न्यायालय के माध्यम से उन्हें संशोधित डिक्री मिल जाएगी । वस्तुतः जैसा कि हमें अब ज्ञात हुआ, निष्पादन कार्यवाही फैजाबाद स्थित विक्रय अधिकारी के समक्ष 1923 से 1927 तक सक्रिय रूप से चलती रही थी किंतु फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश ने निष्पादन मामला अक्तूबर, 1923 में अभिलेखागार भेज दिया था और कागज मोहनलाल गंज के न्यायालय को लौटा दिए थे । दृश्यतः उन्होंने ऐसा डिक्री-धारकों को नोटिस दिए बिना किया तथा उपायुक्त से पत्राचार के परिणास्वरूप यह देखते हुए किया कि निर्णीत ऋणी अक्तूबर, 1922 के न्यायिक विक्रयों को रद्द करने के नवंबर, 1922 के प्रबंध की शर्तों का पालन कर रहा है । इन परिस्थितियों में फैजाबाद न्यायालय ने वह समझौता अर्जी 21.3.1927 को मोहनलाल गंज न्यायालय को भेज दी और उत्तरोक्त न्यायालय के अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसका सार सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 2 के अधीन समायोजन के रूप में समुचित रजिस्टर में लेखबद्ध कर लिया । उस समझौते पर संहिता के अधीन उन्हें केवल यही कार्यवाही करने का अधिकार था । कोई संशोधित डिक्री कभी अस्तित्व में नहीं आई और विक्रय अधिकारी के फैजाबाद न्यायालय को भेजे गए अनुस्मारकों के उत्तर में भी उन्हें ऐसी कोई दस्तावेज नहीं मिली । किंतु 1927 में और फिर 1930 तक निर्णीत ऋणी ने समझौता वाले प्रबंध के अधीन अनेक अदायगियां कीं, जो मोहनलाल गंज के न्यायालय में लेखबद्ध किया गया था । किंतु फिर उसने व्यतिक्रम कर दिया और तब 24.3.1903 को अपीलार्थियों ने मोहनलाल गंज न्यायालय को सारणीबद्ध विवरण के रूप में आवेदन दिया कि डिक्री निष्पादन के लिए फैजाबाद वापस भेज दी जाए । निर्णीत ऋणी की इस आपत्ति के बावजूद कि उसकी चूक से संपूर्ण राशि तुरंत देय नहीं हो गई है 2,14,287/- रुपए के लिए अंतरण प्रमाणपत्र जारी कर दिया गया और 19.3.1931 को अपीलार्थियों ने फैजाबाद में आदेश 21, नियम 10 के अधीन दूसरा आवेदन दिया । इसमें उन्होंने अनुरोध किया कि समझौते के अधीन बकाया 2,10,985/- रुपए की वसूली कुछ जमींदारी गांवों के विक्रय द्वारा की जाए जो कि बंधक से मुक्त नहीं किए गए थे । उसमें कहा गया कि व्यतिक्रम की दशा के लिए प्रबंध यह था कि विक्रय की कार्यवाही कागजों के

अनुसार पुनः प्रारंभ कर दी जाएगी ।

7. हमारे समक्ष यह मुख्य प्रश्न है कि क्या अपीलार्थियों का यह आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 के अधीन वर्जित है क्योंकि वह विक्रय की अंतिम डिक्री की तारीख (22.1.1916) से 12 वर्ष से अधिक बाद का है । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने 26.11.1932 को निर्णय किया कि यह आवेदन उस धारा के अर्थों में नया आवेदन है किंतु अपीलार्थी संहिता की अनुसूची 3 के नियम 11 के खंड 3 के अधीन हकदार हैं कि उस समय की उन्हें छूट दी जाए जो कि उन्हें 1916 से 12 वर्ष के भीतर लाने को पर्याप्त है । मुख्य न्यायालय ने (14.8.1934 को) विचार किया कि अपीलार्थी इस खंड के अधीन समय की किसी छूट के हकदार नहीं है, उन्हें डिक्री की तारीख के रूप में 22.1.1916 के अलावा कोई तारीख अनुमत नहीं हो सकती, और परिसीमा अधिनियम की धारा 19 व 20 संहिता की धारा 48 द्वारा नियत समय को लागू नहीं होती । उन्होंने यह भी अभिनिर्धारित किया कि किसी भी दशा में अपीलार्थी 6 1/2 प्रतिशत से अधिक दर पर ब्याज के लिए निष्पादन नहीं करा सकते । अर्जीदारों के निष्पादन के लिए आवेदन खारिज करने के उनके विनिश्चय के विरुद्ध यह अपील सपरिषद् हित मैजेस्टी को की गई है ।

8. समय के लिए किए गए सौदों अथवा अन्य समझौतों के निष्पादन मामले पर प्रभाव के विषय में भारत के उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों में प्रकट होने वाले बड़े न्यायिक मतभेद के कारण उभयपक्ष के विद्वान् अधिवक्ताओं ने अनेक मामलों की चर्चा की है । किंतु संहिता की धारा 48 के अधीन विचारणार्थ पहला प्रश्न यह है कि अर्जीदार का विक्रय के लिए आवेदन नया आवेदन है या नहीं अथवा क्या वह 1917 के उस आवेदन को आगे चलाने या चालू रखने के लिए केवल समनुषंगी या अनुषंगी था जो कि 1922 में पुनः स्थापित किया गया था । अपीलार्थियों ने आदेश 21, नियम 11 के अधीन दोनों ही अवसरों पर सारणी के रूप में आवेदन दिया, 24.3.1930 को जबकि उन्होंने डिक्री फैजाबाद को अंतरित किए जाने के लिए अनुरोध किया और फिर 19.3.1931 को भी जब उन्होंने विक्रयार्थ आदेश के लिए अनुरोध किया । किंतु इन सारणियों के रूप में कथनों में से एक किसी भी दृष्टि से अनावश्यक था । उन्होंने न्यायालय से आवेदन सदैव इस विशिष्ट प्रकार से किया, तब भी जब 1922 में वे स्पष्ट रूप से यह अनुरोध कर रहे थे कि पहले की गई कार्यवाही जारी रखी जाए और वही मार्ग उन्होंने 19.3.1931 को अपनाया यद्यपि उनकी प्रार्थना यह थी कि जो विक्रय कार्यवाही 1927 के समझौते की तारीख को विचाराधीन थी वह

राजस्व न्यायालय द्वारा पहले ही तैयार किए गए कागजों के अनुसार पुनः प्रारंभ की जानी या हाथ में ली जानी चाहिए । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश का विचार था कि यह आवेदन इसलिए नया आवेदन माना जाना चाहिए क्योंकि जिस संपत्ति का विक्रय चाहा गया था वह पूरा ताल्लूका न होकर जमींदारी गांव का केवल आधा हिस्सा था, तथा ब्याज 8 प्रतिशत की दर से वसूल किया जाना है और क्योंकि अपीलार्थियों ने उस न्यायालय को, जिसने डिक्री पारित की थी, नए सिरे से आवेदन देकर 1930 में फैजाबाद के लिए वापस अंतरण प्राप्त किया था । मुख्य न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने अपने निर्णय में इस प्रश्न की चर्चा नहीं की है । हो सकता है कि उनके समक्ष इस पर बहस नहीं की गई हों । किंतु यद्यपि अपीलार्थियों द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया इस प्रश्न पर उनके विरुद्ध जाती है, फिर भी जब उनके डिक्री के अधीन अधिकार उस पर निर्भर करते हैं तो यह बहुत आवश्यक है कि उस स्थिति की सूक्ष्म परीक्षा की जाए जिसमें उस समय वे 1927 के समझौते द्वारा आ गए थे ।

9. हमारी राय में उसके अधीन की गई अदायगियों का मोहन लाल गंज के न्यायालय द्वारा लेखबद्ध किया जाना और डिक्री फैजाबाद को पुनः अंतरित करने के लिए उस न्यायालय को आवेदन इस परिस्थिति के पारिणामिक थे और उसी के कारण थे कि फैजाबाद के निष्पादन न्यायालय ने इस प्रकार कार्य किया था जैसे कि उस न्यायालय में निष्पादन समाप्त हो गया हो । सितंबर, 1923 में अधीनस्थ न्यायाधीश ने उपायुक्त से लिखकर पूछा था कि इस निष्पादन मामले में क्या हुआ और उन्हें सूचित किया गया था कि 5 लाख अदा हो चुके हैं तथा पक्षकारों में समझौता हो रहा है तथा मामला दो वर्ष से पूर्व नहीं निपटेगा और फाइल को और विचाराधीन रखना उनके लिए आवश्यक नहीं है । तद्नुसार 6.10.1923 के आदेश द्वारा मामला अंशतः तुष्ट के रूप में तथा 5 लाख रुपए मुजरा देकर अभिलेखागार भेज दिया गया । अधीनस्थ न्यायाधीश के निर्णय से हमें ज्ञात हुआ है कि कागज मोहन लाल गंज लौटा दिए गए । फिर भी विक्रय कार्यवाही फैजाबाद के राजस्व प्राधिकारियों के समक्ष 4 वर्ष पर्यन्त सक्रिय रूप से चलती रही और वह इस अर्थ में कि समय के लिए समझौते किए गए, वे लेखबद्ध किए गए, उनका अंशतः पालन किया गया और फिर नवीकरण किया गया, जब कि विक्रय के लिए आवश्यक कदम समय-समय पर स्थगित किए जाते रहे । 1924 में एक समझौता अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा लेखबद्ध किया गया और उनके 5.4.1924 के आदेश से अनेक संपत्तियां निर्मुक्त की गईं । 1927 का समझौता इस मान्यता पर किया गया कि फैजाबाद न्यायालय में निष्पादन कार्यवाही विचाराधीन है जिसके

अधीन विक्रय की कार्यवाही किसी भी क्षण की जा सकती है और जिसके अंतर्गत विक्रय इस शर्त पर मुल्तवी किया जा सकता है कि निर्णीत ऋणी करारकृत शर्तों का पालन करे । यह तथ्य कि पक्षकार या उनके सलाहकार या राजस्व न्यायालय के पदाधिकारी चाहते थे कि जो भी न्यायालय उस निमित्त सक्षम हो उससे संशोधित डिक्री मिल जाए । इसका परिणाम यह हुआ कि फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसके तारतम्य में कार्यवाही की जो उन्होंने अक्तूबर, 1923 में किया था, जिससे फैजाबाद में निष्पादन मामला अप्रत्याशित रूप से समाप्त हो गया था और उसके कारण मोहनलाल गंज के न्यायालय द्वारा डिक्री पुनः अंतरित की जानी पड़ी । अधीनस्थ न्यायाधीश कहते हैं : "इस न्यायालय ने कागज मूल न्यायालय को लौटा दिए थे, अतः उन्हें समझौता भी भेज दिया था ।" निःसंदेह विद्वान् न्यायाधीश इस विषय में बहुत भ्रमित थे कि संशोधित डिक्री प्राप्त करने के अनुरोध की प्राप्ति पर क्या कार्यवाही करना उचित होगा । हम उनकी कठिनाई समझते हैं । किंतु इन परिस्थितियों में हम यह सही नहीं समझते कि अपीलार्थियों के आवेदन को संहिता की धारा 48 में अर्थों में नया आवेदन केवल उन कदमों के कारण मान लिया जाए जिनके द्वारा उन्होंने यह आवश्यक समझा कि फैजाबाद के न्यायालय के निष्पादन मामला पक्षकारों के आशय के विपरीत समाप्त करने को अकृत किया जा सके । और न हमारा यह विचार है कि 8 प्रतिशत की दर से ब्याज के (जिसका करार पहली बार 1924 में किया गया था और जिसे पक्षकारों ने अपनी लंबी वार्ता में तत्पश्चात् क्रियान्वित किया) दावे से वह आवेदन एक नया आवेदन हो गया जो मार्च, 1927 के समझौते द्वारा अनुध्यात पूर्व कार्यवाही जारी रखने के आवेदन से भिन्न था और न इस बात के कारण कि मूल संपत्तियों का एक अंश ही प्रतिभूति से आबद्ध और डिक्री के अधीन विक्रय-योग्य रह गया । इसके विपरीत यह आवेदन पूर्व कार्यवाही को पुनर्जीवित करने के लिए था और वह इस आधार पर कि वह समाप्त नहीं हुई । आवेदन की प्रकृति का विनिश्चय प्रत्येक मामले की परिस्थितियों में किया जाना होता है और प्रस्तुत मामले में पक्षकारों का परस्पर सौदा बड़े महत्व की परिस्थिति है तथा यह बात भी कि फैजाबाद न्यायालय ने तत्प्रतिकूल कार्यवाही अनवधानतावश की । मामले का सार आवेदन के प्ररूप पर अभिभावी होगा और हमारी राय में वह आवेदन धारा 48 द्वारा अनुध्यात नया आवेदन नहीं है ।

10. इस निष्कर्ष के बाद पक्षकारों के अन्य तर्कों की हमारे द्वारा परीक्षा अनावश्यक हो जाती है, सिवाय उस तर्क के, जो मुख्य न्यायालय ने माना है, कि किसी भी दशा में ब्याज 22.1.1916 की डिक्री के निष्पादन

में 6 1/2 प्रतिशत से अधिक की दर पर वसूल नहीं किया जा सकता । कहा यह गया कि 6 1/2 प्रतिशत से अधिक के लिए किसी न्यायालय का कोई आदेश नहीं है । 8 प्रतिशत का करार पहली बार 1924 में किया गया । वह विक्रय अधिकारी की जानकारी में तथा उपायुक्त के अनुमोदन से किया गया और उस सौदे के भाग के रूप में बहुत से गांव बंधक से निर्मुक्त कर दिए गए । इस सौदे का उल्लेख अर्जीदारों द्वारा फैजाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश को 1924 में दिए गए आदेश 21, नियम 2 के अधीन आवेदन में है, यद्यपि ब्याज विषयक शर्त अभिव्यक्त रूप से नहीं लिखी गई । उनसे उन गांवों की विक्रय से निर्मुक्ति का निदेश देने वाला आदेश प्राप्त किया गया । इसी प्रकार से 1927 में डिक्री के अधीन देय राशि पक्षकारों की सहमति से कुछ समय के लिए 8 प्रतिशत की दर से गणना करके निश्चित की गई और उसी आधार पर निर्णीत ऋणी को 1927 से 1930 तक का समय दिया गया । प्रस्तुत मामले में डिक्री विक्रय की अंतिम डिक्री थी । जैसा कि अब आदेश 34, नियम 10 द्वारा माना गया है, बंधक का लेखा वास्तविक अदायगी के समय तक लिया जाना है जिससे कि देय राशि का अंतिम रूप से समायोजन हो जाए । बंधकदार द्वारा उस समय तक यथाविधि उपगत सब खर्चे, प्रभार और व्यय हिसाब में लिखे जाने हैं । फिर भी यदि मुख्य न्यायालय का दृष्टिकोण सही हो तो निष्पादन न्यायालय इस बात के लिए पूर्णतः अधिकारिता-विहीन है कि करार के आधार पर भी ऐसे प्रबंध के आधार पर देय ब्याज शामिल करें जिसके द्वारा बंधक संपत्ति डिक्री के अधीन बलात् विक्रय से बच गई ।

11. मुख्य न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने प्रमाण के रूप में **गोवर्धन दास** बनाम **दाऊ दयाल**[1] का अवलंब लिया और प्रयुक्त सिद्धांत यही है कि मूल डिक्री में परिवर्तन पक्षकारों द्वारा न्यायालय की मंजूरी से भी नहीं किया जा सकता और किसी भी दशा में पक्षकारों की सहमति ही निष्पादन न्यायालय को ऐसी अधिकारिता प्रदान नहीं कर सकती । यह तर्क भारतीय उच्च न्यायालयों के अन्य विनिश्चयों से भी समर्थित है, यद्यपि उसके विरुद्ध निर्णय और पद्धति भी उपलब्ध है । इस कठिन और महत्वपूर्ण प्रश्न पर हम मुख्य न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमत नहीं है । हमारे विचार से वह इन बातों पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता कि पक्षकारों के डिक्री के अधीन अधिकारों और बाध्यताओं के संबंध में उनकी संविदा करने की स्वतंत्रता पर संहिता में कोई सामान्य बंधन नहीं है और यदि वे ऐसी शर्तों की संविदा करते हैं जिनका संबंध डिक्री के निष्पादन, उन्मोचन या तुष्टि से है और जो उस पर प्रभाव डालती हैं, तो धारा 47 के उपबंधों के

[1] इं. ला. रि. 54 इलाहाबाद 573 = आ. इं. रि. 1932 इलाहाबाद 273.

अनुसार उन शर्तों संबंधी प्रश्नों का निर्णय निष्पादन न्यायालय द्वारा किया जाना होगा । डिक्री में संशोधन या परिवर्तन, चाहे वह धारा 152 के अधीन हो या पुनर्विलोकन द्वारा, संहिता के अधीन एक अलग बात है । निःसंदेह यदि समायोजन आदेश 21, नियम 2 के अधीन लेखबद्ध नहीं किया गया है तो उसका संज्ञान डिक्री का निष्पादन करने वाला कोई न्यायालय नहीं कर सकता । किंतु 1927 का समझौता तो लेखबद्ध किया गया था । वह समायोजन तो था ही, भले ही उससे कुछ अधिक हो और उसमें वे शर्तें थीं जिन पर समायोजन का करार किया गया था । वह इस प्रकार का प्रयत्न नहीं था कि उस बंधक या बंधवाद के बाहर का कोई दायित्व डिक्री के अंतर्गत लिया जाए, तुलना कीजिए **प्रद्युम्न कुमार मलिक** बनाम **दिनेन्द्र मलिक**[1] हमें संहिता में ऐसा कुछ नहीं मिलता जो हमसे यह अभिनिर्धारित करने की अपेक्षा करे कि यदि निर्णीत ऋणी ने करार की गई किस्तें समय से अदा कर दी होती तो 1927 के बाद अपीलार्थी के समझौते की शर्तों के विरुद्ध पूर्ण बकाया राशि के लिए डिक्री का निष्पादन कर सकते थे । और न हमें यह युक्तियुक्त लगता है कि यदि ऐसा समझौता निष्पादन न्यायालय द्वारा प्रवर्तित किया जाए तो वह समग्र रूप से प्रवर्तित नहीं किया जाना चाहिए । हम यह मानने को तैयार नहीं है कि यदि ब्याज की उचित दर के प्रतिफलस्वरूप समय देने का सामान्य सौदा किया जाए तो वह न्यायालय को डिक्री के संशोधन या परिवर्तन की शक्ति प्रदान करने का प्रयत्न होगा । ऐसा सौदा पक्षकारों के डिक्री के अधीन अधिकारों पर प्रभाव डालता है और निष्पादन न्यायालय को धारा 47 के अधीन अधिकारिता है कि उसका विधिक प्रभाव अभिनिश्चित करे और तद्नुसार आदेश दे । यह हो या न हो कि ऐसा प्रत्येक सौदा जो डिक्री का आशय के अनुसार निष्पादन कराने के डिक्रीदार के हक को प्रभावित करें "समायोजन" शब्द के अंतर्गत आता है । उस पर हम कोई राय व्यक्त नहीं करते । और न हम यहां इस पर विचार करते हैं कि इस निष्कर्ष के क्या परिणाम होंगे कि समय के लिए अमुक सौदा समायोजन नहीं था । हमारी दृष्टि में यह संभव नहीं है कि अभियुक्त कानूनी प्राधिकार के बिना या मानें कि आदेश 20, नियम 10 इस संभावना को वर्जित करता है कि पक्षकार समय के लिए विधिमान्य करार करें जिसका न्यायालय धारा 47 के अधीन ध्यान रखे । यह नियम सभी डिक्रियों को लागू नहीं होता, बल्कि केवल धन की अदायगी की डिक्रियों को वहां तक लागू होता है जहां तक कि वे उस प्रकृति की हैं ।

12. डिक्री पारित करने वाले न्यायालय को ऐसे आवेदनों के लिए 6

---

[1] 54 इंडियन अपील्स 302(308) = आ. इं. रि. 1937 प्रिवी कौंसिल 256.

मास के परिसीमाकाल की व्यवस्था पूर्णतः स्पष्ट नहीं है और उसके उद्देश्य एक से अधिक हो सकते हैं । किंतु स्वयं नियम की भांति यह उपबंध भी यह अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं करता कि संहिता पक्षकारों को इस बात के लिए पूर्णतः अक्षम बना देता है कि समय के लिए ऐसा प्रबंध करें जो निष्पादन कार्यवाही में प्रवर्तनीय हो । ऐसे सौदों के अनेक रूप हो सकते हैं और प्रत्येक मामले के विषय में पहले से निर्णय संभव नहीं है । यदि धारा 47 के अधीन कार्य करने वाले न्यायालय को यह प्रतीत हो कि करार का सही प्रभाव यह था कि निर्णीत ऋणी द्वारा दिए गए वचनों के बदले डिक्री तुरंत उन्मोचित हो जाए तो निःसंदेह न्यायालय को निष्पादन कार्यवाही के दौरान करार के प्रवर्तन का अवसर नहीं आएगा, बल्कि लेनदार को संविदा के आधार पर अलग वाद करने के लिए छोड़ दिया जाएगा । दूसरी ओर, यदि करार का आशय निर्णीत ऋणी के डिक्री के अधीन दायित्व को शासित करने का तथा प्रवर्तन के समय या ढंग को प्रभावित करने का है तो वह ऐसा विषय है जिस पर धारा 47 के अधीन विचार किया जाना है । ऐसे मामले में यह कहना कि लेनदार को संभवतः अलग वाद करना होगा संहिता का गलत अर्थ लगाना होगा, जो संहिता की ऐसे सब मामलों पर विचार निष्पादन में किए जाने की अपेक्षा करके निष्पादन न्यायालय की परिधि और कृत्यों का एक व्यापक दृष्टिकोण प्रकट करती है । हम उपर्युक्त **गोवर्धन दास**[1] वाले निर्णय में पृष्ठ 585 पर किए गए इस कथन से सहमत हैं कि अनेक मामलों में डिक्रीदार और निर्णीत ऋणी के बीच निष्पादन कार्यवाही के दौरान किया गया समझौता, जो यथाविधि लेखबद्ध कर लिया गया, प्रवर्तित किया गया है । और हमारी यह राय नहीं है कि यह बहुप्रचलित और पुरानी पद्धति संहिता के विरुद्ध है । हमारी राय में प्रस्तुत मामले में समझौता निष्पादन कार्यवाही में प्रवर्तित किया जा सकता है और किया जाना चाहिए ।

हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील मंजूर की जानी चाहिए, मुख्य न्यायालय की डिक्री अपास्त की जानी चाहिए और अधीनस्थ न्यायाधीश का 26.11.1932 का आदेश पुरःस्थापित किया जाना चाहिए । प्रत्यर्थी अपीलार्थियों को स्वतंत्रता होगी कि यदि यह खर्चा अदा न किया जाए तो उसे अपनी प्रतिभूति में जोड़ लें ।

अपील मंजूर की गई ।

---

[1] इं. ला. रि. 54 इलाहाबाद 573 = आ. इं. रि. 1932 इलाहाबाद 273.

रिचर्ड गिली .... अपीलार्थी

बनाम

पोशो लि. (समापनाधीन) .... प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड थैंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड रोमर व न्यायमूर्ति लार्ड पोटेर

साक्ष्य विधि – भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 – एक पक्षकार द्वारा अपने वकील को लिखा गया पत्र यह साबित करने के लिए सबूत में नहीं लाया जा सकता कि उस दिन के पहले दूसरे पक्षकार ने सौदा पक्का कर लिया था ।

इस अपील में पक्षकारों (क और ख) के बीच विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि क्या पक्षकार क कतिपय तारीख को पक्षकार 'ख' से भूमि खरीदने के लिए सहमत था । 'ख' के समर्थन में किसी अन्य पक्षकार को लिखा गया पत्र का कथन, जो 'क' के विरुद्ध था, साक्ष्य में ग्राह्य है या नहीं । मामला वापस भेजते हुए,

अभिनिर्धारित – यह भी साबित नहीं है कि प्रश्नगत पत्र अपीलार्थी की जानकारी में लिखा गया । यदि इस प्रकार का साक्ष्य ग्रहण किया जाए तो बहुत से लोग अपने-अपने इष्ट-मित्रों को पत्र लिखकर अपने पक्ष में साक्ष्य संग्रह कर लेंगे । अतः हमारे विचार से यह पत्र साक्ष्य में ग्राह्य नहीं था । ऐसी दशा में यह छोड़कर मामले का फैसला होना चाहिए । (पैरा 6)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1905]	(1905) 1 किंग्स बेंच 551 : **रेक्स** बनाम **ओसवर्न ;**	5
[1918]	(1918) 87 ला जर्नल किंग्स बेंच 775 : **जोंस** बनाम **एस. ई. एंड चेयम रेलवे कंपनीज मैनेजिंग कमेटी** ।	5

सिविल अपीली अधिकारिता : 1937 की अपील सं. 66.

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री राल्फ सुतन और रोजर पोजानी

प्रत्यर्थी की ओर से कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड पोटेर ने दिया ।

निर्णय संक्षेप

न्या. पोटेर – यह अपील पूर्वी अफ्रीका के अपील न्यायालय (कोर्ट आफ अपील) के 31.12.1932 के उस निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत द्वारा की गई है, जिसके द्वारा उन्होंने कीनिया के सुप्रीम कोर्ट की तारीख 16.7.1932 की डिक्री से अपीलार्थी की अपील खारिज कर दी थी । पक्षकारों के बीच विवाद उत्पन्न करने वाले तथ्य इस प्रकार थे :–

अपीलार्थी वर्ष 1926 के अंत में कीनिया आया और वह वहां एक फार्म बनाना चाहता था, जिसमें वह गेहूं की खेती कर सके । उस प्रयोजनार्थ उसका संपर्क डब्ल्यू. सी. हंटर एंड कंपनी नामक एक फर्म के वरिष्ठ भागीदार विलफ्रेड क्लेर हंटर से हुआ । उसे दिसंबर, 1926 के अंत में किसी समय श्री हंटर से संपर्क के लिए कहा । श्री हंटर उस फर्म के भागीदार होने के अतिरिक्त पोशो लि. नामक कंपनी के समापक भी थे, जिसके नौ फार्म विक्रयार्थ थे । इन्हीं में से एक फार्म का सौदा तय हुआ और पोशो कंपनी का वह फार्म बेचने का लिखित करार 3.2.1927 को हो गया । कब्जा भी अपीलार्थी को मिल गया । तय यह हुआ था कि अपीलार्थी निश्चित कीमत किस्तों में देने के अतिरिक्त वार्षिक लगान देगा और सब किस्तें अदा हो जाने पर फार्म उसके नाम कर दिया जाएगा । पूरी कीमत और लगान न मिलने पर कंपनी ने अपीलार्थी के विरुद्ध 17.11.1930 को एक वाद किया जिसमें पिछली किस्तों की बाबत 8 प्रतिशत ब्याज तथा 11,950 शिलिंग की तथा आनुपातिक लगान की बाबत 82.32 शिलिंग की और प्रतिवादी द्वारा विक्रय स्वीकार किए जाने की मांग की । अनुकल्पी रूप से यह मांग की गई कि संविदा समाप्त की जाए, कब्जा वादी को वापस दिलाया जाए और प्रतिवादी ने जो रुपया अदा किया है वह समपहृत हो जाए ।

2. प्रतिवादी की ओर से उत्तर दिया गया कि वह ऐसी भूमि चाहता था जो गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त हो, श्री हंटर ने उसे मौखिक आश्वासन दिया था जिसमें कि उन्होंने बताया था कि यह खेत गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त है तथा उनके कार्यालय में एक विज्ञापन भी दिखाया गया था जिसमें कहा गया था कि यह साबित हो चुका है कि यह खेत गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त है और इन्हीं बातों से प्रेरित होकर प्रतिवादी ने वह भूमि ली, किंतु वह गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त साबित नहीं हुई और इस प्रकार उसे धोखा दिया गया और उसका बहुत नुकसान हुआ ।

3. विचारण के दौरान मौखिक आश्वासन की बात नहीं मानी गई और विज्ञापन के विषय में यह निर्णय किया गया कि सौदा उससे प्रभावित नहीं हुआ बल्कि सौदा उसके बहुत पहले तय हो चुका था ।

4. सौदा पहले तय होने का निष्कर्ष मुख्यतः वादी द्वारा दिए गए 23.12.1926 के एक पत्र पर आधारित था जो श्री हंटर की ओर से कंपनी के सालिसिटरों को लिखा गया था । इसी के आधार पर कहा गया कि उससे स्पष्ट होता है कि सौदा उस तारीख के पूर्व ही तय हो चुका था और वह बाद की घटनाओं से किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुआ ।

5. अपीलार्थी का मुख्य तर्क यह है कि उक्त पत्र साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह वादी की ही स्वीकृति है जिसका लाभ वह स्वयं नहीं उठा सकता । सामान्य सिद्धांत यह है कि कोई पक्षकार स्वयं अपनी स्वीकृति का साक्ष्य देकर उसका लाभ नहीं उठा सकता । इसका एक अपवाद कुछ मामलों में मिलता है, विशेषतः स्त्री के विरुद्ध बलात्कार आदि के मामलों में । उनमें घटना के शीघ्र बाद अभियोक्त्री द्वारा की गई शिकायत साक्ष्य में ग्राह्य होती है । यह ग्रहण एक तो अभियाक्त्री के बाद के बयान की पुष्टि के लिए होता है और दूसरे यह प्रकट करने के लिए कि स्वयं उसने उस अपराधपूर्ण कार्य के लिए सहमति नहीं दी थी, देखिए **रेक्स** बनाम **ओसवर्न**[1] इस सिद्धांत का विस्तार अन्य मामलों में नहीं किया जा सकता, देखिए **जोंस** बनाम **एस. ई. एंड चेयम रेलवे कंपनीज मैनेजिंग कमेटी**[2] ।

6. यह भी साबित नहीं है कि प्रश्नगत पत्र अपीलार्थी की जानकारी में लिखा गया । यदि इस प्रकार का साक्ष्य ग्रहण किया जाए तो बहुत से लोग अपने-अपने इष्ट-मित्रों को पत्र लिखकर अपने पक्ष में साक्ष्य संग्रह कर लेंगे । अतः हमारे विचार से यह पत्र साक्ष्य में ग्राह्य नहीं था । ऐसी दशा में यह छोड़कर मामले का फैसला होना चाहिए ।

7. अपील न्यायालय में यह भी विचार व्यक्त किया गया कि 3.2.1927 को निष्पादित संविदा 29.1.1927 (विज्ञापन की तारीख) के पूर्व ही तय हुई होगी क्योंकि अन्यथा इतने थोड़े समय में वह तैयार होकर निष्पादित नहीं हो सकती थी । यह दृष्टिकोण भी सही नहीं प्रतीत होता क्योंकि संविदा बहुत साधरण है और उसकी तैयारी के लिए 4-5 दिन पर्याप्त थे । किसी भी दशा में वस्तुस्थिति का निर्णय निचले न्यायालय को

---

[1] (1905) किंग्स बेंच 551.

[2] (1918) 87 ला जर्नल किंग्स बेंच 775.

करना है और यह मामला विचारण न्यायालय को भेजा जाना चाहिए कि वह उक्त पत्र निकालकर तथा ग्राह्य साक्ष्य के आधार पर पुनः निर्णय करें ।

हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है । अपीलार्थी को इस बोर्ड का तथा पूर्वी अफ्रीका के अपील न्यायालय का खर्चा मिलेगा । विचारण न्यायालय के खर्चे का निर्णय नए विचारण के परिणाम के अनुसार होगा ।

मामला वापस भेजा गया ।

अनाथ नाथ विश्वास तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

द्वारका नाथ चक्रवर्ती तथा अन्य .... प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

हिस्सेदारी संपत्ति – कुछ हिस्सेदारों द्वारा भू-राजस्व अदा न किए जाने के कारण संपूर्ण जमींदारी का नीलाम – एक हिस्सेदार ने नीलाम क्रेता से उस जमींदारी का कुछ हिस्सा खरीद लिया – कुछ अन्य हिस्सेदारों द्वारा उस हिस्सेदार व अन्य खरीदारों के विरुद्ध वाद कि वह अपने द्वारा खरीदी गई जमींदारी में से उनके अपने-अपने हिस्से आनुपातिक मूल्य लेकर दे दें – निर्णय किया गया कि जब खरीदने वाले हिस्सेदार ने अन्य हिस्सेदारों के प्रति कोई छल कपट नहीं किया था तो अन्य हिस्सेदारों को उनका हिस्सा बेचने के लिए खरीदार को विवश नहीं किया जा सकता ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 41, नियम 22 और 33 – भू-राजस्व की अदायगी न होने के कारण जमींदारी का नीलाम होने पर नीलाम-क्रेता से एक हिस्सेदार ने जमींदारी का एक भाग खरीद लिया – अन्य हिस्सेदारों ने खरीदारों के विरुद्ध वाद किया कि उनका अपना-अपना हिस्सा उन्हें बेच दे – प्रश्न उस नीलाम की वैधता का भी था जिसमें कि जमींदारी बेची गई – निवारण न्यायालय ने नीलाम को वैध ठहराते हुए तथा नीलाम-क्रेता से खरीदने वाले हिस्सेदार का कपट मानते हुए वाद डिक्री कर दिया – निर्णीत ऋणी द्वारा अपील की जाने पर डिक्रीदार ने उसका विरोध किया, किंतु यह प्रत्यापत्ति दाखिल नहीं की कि नीलाम अविधिमान्य ठहराया जाना चाहिए – अपील में यह बहस करने पर नीलाम ही विधिमान्य था निर्णय किया गया कि प्रत्यापत्ति दाखिल न करने के कारण वह यह

प्रश्न नहीं उठा सकता क्योंकि वह नियम 22 के अंतर्गत नहीं आता और नियम 22(1) से परंतुक द्वारा वर्जित हो जाता है ।

इस अपील में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अपीलार्थी जिनका पहले हित मात्र बडे हुद्दे में था, विरोधकारी प्रत्यर्थी, जिसका अब हित केवल बड़ा हुद्दा में है, के विरुद्ध यह दावा कर सकते है कि वह उनके पूर्व हित आनुपातिक राशि की अदायगी पर उन्हें अंतरित करें । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अब प्रश्न बचता है नीलाम की वैधता को प्रश्नगत करने का कि क्या अपीलार्थियों को उस प्रश्न पर सुना जाना चाहिए था । नीलाम को अवैध कराने का वादहेतुक उससे बिल्कुल भिन्न था जिस पर कि अन्य हिस्सेदारों ने अपने हिस्से का दावा किया था । उसको लागू सिद्धांत भिन्न थे । हमारी राय में यह मामला आदेश 41 के नियम 22(1) के अंतिम शब्दों में जाता है "परंतु यह तब जब कि उसने ऐसा आक्षेप अपील न्यायालय में उस तारीख से एक मास के भीतर जिसको उस पर या उसके प्लीडर पर अपील की सुनवाई के लिए नियत दिन की सूचना की तामील हुई थी ।" ये शब्द प्रत्यर्थी के किसी भी विवाद्यक पर सुने जाने के अधिकार को सीमित कर देते हैं । अंत में बहस यह की गई कि इसी आदेश का नियम 33 इतना व्यापक है कि यह आपत्ति उसमें आ जाएगी । किंतु हमारी राय है कि वह नियम इस मामले में इस प्रकार लागू नहीं किया जा सकता था कि नियम 22(1) की उक्त शर्त समाप्त हो जाए जो कि अपील के आधार की सूचना के बिना सुने जाने का निषेध करती है । ऐसी दशा में उस प्रश्न को न उठाने देने में कोई त्रुटि नहीं है । (पैरा 11 और 12)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1916]	आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौं. 227 : **देवनन्दन प्रसाद** बनाम **जानकी सिंह** ।	2

सिविल अपीली अधिकारिता :	**1936 की अपील सं. 73 और 74.**
अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री सर टी. जे. स्ट्रांगमैन, जे. एम. प्रिंगले और डब्ल्यू. वालच
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री एल. पी. ई. युग और एस. हयाम

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

निर्णय संक्षेप

न्या. रैंकिन – बंगाल के 24 परगना जिले में एक तौजी सं. 151 है जिसका वार्षिक भू-राजस्व 39,786/- रु. है । यह दो भागों में विभाजित है । एक बड़ा हुद्दा या बडा व्यक्ति जिसमें 104 गांव हैं जो पूरे जिले में फैले हुए हैं और जिसका वार्षिक भू-राजस्व 37,000/- रु. से ऊपर आता है और दूसरा छोटा हुद्दा या छोटा गांव जिसमें 7 गांव है और जिसका भू-राजस्व लगभग 2,000/- रु. आता है इसकी भूमि कलकत्ता के बाहर है । प्रत्येक भाग के अनेक जमींदार हैं, जिनमें से कुछ के अलग खाते भी हैं, किंतु संपूर्ण तौजी संपूर्ण भू-राजस्व के लिए संयुक्ततः भी देनदार है । बंगाल लैंडरिवेन्यु सेल्स एक्ट (1859 का 11) के अधीन अलग प्रत्यर्थी राजय द्वारका नाथ चक्रवर्ती बहादुर (प्रत्यर्थी 1) दोनों हुद्दों में हिस्सेदार था । वादियों के तीनों सेटों का हित केवल बड़े हुद्दे में था । बड़ा हुद्दा में उसका कुछ 30 गांव में हिस्सा था । छोटा हुद्दा में उसे विभाजन के लिए अंतिम डिक्री द्वारा लगभग 100 बीघा आबंटित किया गया था छोटा हुद्दा में उसका आधा हिस्सा था । बाद में जो घटनाएं हुई उनके अनुसार कार्यवाही के परिणामस्वरूप (i) प्रत्यर्थी सं. 3-क बहादुर सिंह सिंधी मात्र बड़े हुद्दे के बारे में विरोधी प्रतिवाद हैं ; (ii) कुछ व्यक्ति जो पहले छोटे हुद्दे में हितबद्ध थे और जिन्हें प्रत्यर्थी सं. 1 ने उनका अपना पूर्ववर्ती हित बेच दिया ।

2. 1928 व 1929 में वे तीन वाद दाखिल किए गए जिनकी तीन अपीलें यहां समेकित की गई हैं । वादियों ने नीलाम विक्रय को ही प्रश्नगत किया और वह अधिकारिता न होने और अनियमिताओं के आधार पर किंतु विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने इन दलीलों के विरुद्ध निष्कर्ष निकाला । उनका दूसरा अनुरोध यह था कि प्रत्यर्थी सं. 1 उसके पुत्र गोपाल और नीलाम-क्रेता सुरेश सान्याल ने मिलीभगत करके अन्य हिस्सेदारों के प्रति कपट करके या अनुचित रूप से प्रश्नगत जमींदारी का विक्रय करा दिया और वह खरीद ली व एक भाग प्राप्त कर लिया था, अतः वादी हकदार हैं कि आनुपातिक मूल्य देकर अपना-अपना हिस्सा प्राप्त करें । विद्वान् विचारण न्यायाधरीश ने उस दलील को स्वीकार किया और नीलाम को तो अवैध नहीं माना किंतु छल-कपट वाला आक्षेप मानकर 5.1.1931 को बहादुर सिंह सिंधी को निदेश दिया कि 85,000/- रु. का आनुपातिक मूल्य प्राप्त करके वादियों को उनका पूववर्ती हिस्सा बेच दे । यह निर्णय इस बोर्ड के

देव नंदन प्रसाद बनाम **जानकी सिंह**[1] वाले निर्णय का अनुसरण करके दिया गया । उस मामले में हिस्सेदार के बंधकदार ने जानबूझकर राजस्व बकाया कर दिया और जमींदारी बिकवा ली, जिससे कि वह उसे खरीद ले ।

4. कलकत्ता उच्च न्यायालय में अपील की जाने पर न्यायमूर्तिगण श्री सी. सी. घोष और श्री एस. के. घोष ने कपट वाली बात को भी अमान्य करके वाद खारिज कर दिया । वादियों ने नीलाम की वैधता का प्रश्न उठाना चाहा, किंतु उसकी उन्हें अनुमति नहीं दी गई क्योंकि उन्होंने तद्‌विषयक प्रत्यापत्ति दाखिल नहीं की थी । उच्च न्यायालय के निर्ण्य से यहां अपीलें की गईं ।

5. नीलाम-क्रेता सुरेश सान्याल एक विधवा महिला श्रीमती शैलसुता देवी का, जो कि अपने दो अवयस्क पुत्रों की संरक्षिका थी, प्रबंधक था । वह तौजी सं. 151, 4,00,000/- रु. तक में खरीदने की इच्छुक थी । अतः उन्होंने सुरेश सान्याल को 1,00,000/- रु. दिया था जिससे कि 4,00,000/- रु. तक बोली जाने पर वह एक-चौथई जमा कर सके । किंतु 23.2.1928 को नीलाम 85,000/- रु. पर ही समाप्त हो गया और सुरेश सान्याल ने पूरा मूल्य चुका दिया । उसने प्रत्यर्थी सं. 1 के पुत्र गोपाल चक्रवर्ती से एक व्यवस्था की थी कि वह संपूर्ण छोटा हुद्‌दा और बड़े हुद्‌दे का एक-तिहाई हिस्सा गोपाल (वस्तुतः उसके पिता) के लिए खरीदेगा और गोपाल उसके लिए मंजूरकृत बोली का आनुपातिक अंश अदा करेगा । इस व्यवस्था के अंतर्गत उसने गोपाल से 23.2.1928 को 36,000/- रु. का एक वचनपत्र लिखवाया । यह गोपाल को वचनदत्त हिस्से का प्राक्कलित मूल्य था । बाद में पाया यह गया कि गोपाल को दिए जाने वाले हिस्से के लिए 31,180/- रु. ही देय होंगे । उच्च व्यवस्था शैलसुता देवी की संपत्ति और जानकारी के बिना की गई थी । उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में व्यक्त किया है कि श्रीमती शैल सुता देवी के साथ कपट किया गया । उधर सुरेश सान्याल ने 25.2.1928 के विलेख द्वारा संपूर्ण छोटा हुद्‌दा 4,269/- रु. में गोपाल को अंतरित कर दिया । यह राशि उक्त 36,000/- रु. के वचनपत्र में अदा की गई मानी गई । फिर 12.3.1928 के विलेख द्वारा गोपाल ने अपने पिता को छोटे हुद्‌दे का आधा भाग 2,134/- रु. 8 आ. में अंतरित कर दिया । जमींदारों के बकाया फिर भी अदा न कर पाने के कारण 17.8.1928 को नीलाम की पुष्टि कर दी गई । गोपाल ने जुलाई और अगस्त, 1928 में छोटे हुद्‌दे के कुछ पूर्ववर्ती हिस्सेदारों को उनके पूर्ववर्ती हित संपूर्णतः या

---

[1] 44 इंडियन अपील्स 30 = आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौं. 227.

अंशतः अंतरित कर दिए ।

6. श्रीमती शैलसुता देवी को उक्त व्यवस्था तथा विक्रय का पता चलने पर उन्होंने 25 सितंबर, 1928 को सुरेश सान्याल और चक्रवर्तियों पर एक वाद अपने अवयस्क पुत्रों की ओर से किया कि वादी ही तौजी सं. 151 के वास्तविक खरीदार हैं और उनके नाम में ही विक्रय प्रमाणपत्र दिया जाए । श्रीमती शैलसुता को औपचारिक कब्जा भी मिल गया । किंतु मुकदमे में अधिक झगड़ा होने पर उन्होंने जिला न्यायाधीश की अनुमति प्राप्त करके वह जमींदारी 2,31,000/- रु. में बहादुर सिंह सिंधी को बेच दी और उक्त वाद में अवयस्कों के स्थान पर वही वादी हो गया । 28.8.1929 को उस वाद में समझौता हो गया जिसके अनुसार गोपाल ने अपने सभी दावे व्यक्त कर दिए, उसे वचनपत्र से मुक्त कर दिया गया और तौजी सं. 151 बहादुर सिंह सिंधी में निहित मानी गई । साथ ही यह भी तय हुआ कि वह छोटे हुद्दे में अपना जमींदारी हित प्रत्यर्थी सं. 1 को 12,000/- रु. में बेच देगा । वैसा ही किया गया और फिर प्रतिवादी सं. 1 ने अपने कुछ पूर्व सह-हिस्सेदारों को छोटे हुद्दे में उनका हित अंतरित कर दिया ।

7. इन संव्यवहारों में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उपर्युक्त घटनाक्रम में अपीलार्थी, जिनका पहले हित मात्र बड़े हुद्दे में था, विरोधकारी प्रत्यर्थी बहादुर सिंह सिंधी, जिसका अब हित केवल बड़ा हुद्दा में है, के विरुद्ध यह दावा कर सकते हैं कि वह उनके पूर्व हित आनुपातिक राशि की अदायगी पर उन्हें अंतरित करे । इस प्रश्न पर यह किसी का कहना नहीं है कि नीलाम-विक्रय प्रत्यर्थी सं. 1 ने कराया या उसके द्वारा की गई चूक के परिणामस्वरूप हुआ । अन्य बातें भी कही गईं जो सुसंगत नहीं प्रतीत होती । यदि नीलाम विक्रय प्रत्यर्थी सं. 1 के किसी कपट के बिना किया गया तो वह इस बात का पूर्णतः हकदार था कि खरीदार से ठहराव (व्यवस्था) करे कि खरीद के बाद वह एक भाग उसे बेच दे और उसके ऐसे खरीदने पर उसके सह-हिस्सेदार अपने हिस्से वापस पाने के हकदार नहीं होंगे । वादियों का अब केवल यह कहना है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने स्वयं वह अपने पुत्र गोपाल के द्वारा इस प्रकार दोषपूर्ण काम किया कि उससे नीलाम विक्रय में हस्तक्षेप हुआ और उससे खरीदारों पर उन्हें हिस्सा बेचने का दायित्व आ गया ।

8. वाद सं. 36 सन् 1928, 22.2.1928 को 24 परगना के प्रथम अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष तीन वर्तमान प्रत्यर्थियों द्वारा दाखिल किया गया था, जो छोटे हुद्दे में हितबद्ध थे । उनका कहना था कि अगले दिन

दोपहर को लगा नीलाम अवैध और अनियमित हैं । उन्होंने नीलाम को रुकवाना चाहा । किंतु उन्हें रोक आदेश नहीं मिला और मामला अगले दिन के लिए लगा दिया गया । साथ ही न्यायाधीश ने वादियों को उस स्थगन आदेश की प्रति दी जाने का भी निदेश दिया कि वे कलेक्टर को दिखा सकें और नीलाम रोकने के विषय में निर्णय कलेक्टर ले । गोपाल ने उसकी प्रति प्राप्त कर ली । दूसरे दिन प्रातःकाल 10 बजे एक अंग्रेज सालिसिटर के साथ कलेक्टर के घर जाकर अनुरोध किया कि नीलाम आज न कराएं । किंतु कलेक्टर नहीं माने । फिर जब नीलाम प्रारंभ होने वाला था तब गोपाल ने अपना अनुरोध दोहराया और कहा कि सिविल न्यायालय में मामला सुना जाने वाला है अतः नीलाम बाद में किया जाए । कलेक्टर ने वह बात नहीं मानी और यह व्यक्त किया कि यदि प्रातःकाल सिविल वाद की बाबत बताया गया होता तो वे नीलाम कुछ घंटों के लिए रोक सकते थे, किंतु तब अन्य आपत्तियां ही की गईं । इसके आधार पर विचारण न्यायाधीश ने निष्कर्ष निकाला कि अधीनस्थ न्यायाधीश के आदेश को गोपाल ने जानबूझकर दबाया जिससे कि नीलाम हो जाए । उच्च न्यायालय ने यह बात नहीं मानी और कहा कि उन दोनों ने तो नीलाम रुकवाने का भरसक प्रयत्न किया । हम उनसे सहमत हैं । अतः उसके आधार पर कपट का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । यह अमान्य है कि प्रत्यर्थी सं. 1 नीलाम कराने का इच्छुक था । उससे उसको कोई लाभ नहीं होना था क्योंकि खरीदने में उन्हें काफी रुपया देना पड़ता । अपना हिस्सा उसे नीलाम न होने पर वैसे ही मिला रहता बल्कि नीलाम के बाद मूल हिस्सा के क्रय को भी प्रश्नगत किया जा सकता था । परिस्थितियों से प्रकट होता है कि ये लोग नीलाम कराने को उत्सुक नहीं थे ।

9. यह भी कहा गया कि प्रत्यर्थी सं. 1 तथा उसके पुत्र ने बोली लगाने वालों को यह कहकर चलता कर दिया कि आज नीलाम नहीं होगा । विचारण न्यायाधीश ने यह बात मानी है ; किंतु उच्च न्यायालय ने साक्ष्य और परिस्थितियों का विश्लेषण करके इसे अमान्य किया है । हम भी साक्ष्य का विश्लेषण करके उच्च न्यायालय के निष्कर्ष से सहमत हैं । इस बात का ही कोई मान्य साक्ष्य नहीं है कि कोई अन्य हिस्सेदार बोली लगाना चाहता था । और यदि होता भी तो वह चक्रवर्ती की बात क्यों मान जाता । इस बात का भी विश्वसनीय साक्ष्य नहीं है कि कोई हिस्सेदार रुपया देकर नीलाम रुकवाना चाहता था क्योंकि नीलाम में खरीदने की अपेक्षा वह सस्ता पड़ता । प्रत्यर्थी सं. 1 या उसके पुत्र द्वारा कपट का कोई मान्य साक्ष्य नहीं

है । जब प्रत्यर्थी सं. 1 का विक्रय के संदर्भ में कोई कपट नहीं था तो प्रतिवादियों को इस बात के लिए विवश नहीं किया जा सकता कि अन्य हिस्सेदारों के हिस्से उन्हें लौटाएं ।

10. इन लोगों ने श्रीमती शैलसुता देवी या अवयस्क के प्रति कितना ही संदोष कार्य किया और कराया हो किंतु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह सदोष कार्य प्रतिवादियों की भी दृष्टि में लाया गया । उपर्युक्त 44 इंडियन अपील्स 30 वाला निर्णय यहां लागू नहीं होता ।

11. अब प्रश्न बचता है नीलाम की वैधता को प्रश्नगत करने का कि क्या अपीलार्थियों को उस प्रश्न पर सुना जाना चाहिए था । नीलाम को अवैध कराने का वादहेतुक उससे बिल्कुल भिन्न था जिस पर कि अन्य हिस्सेदारों ने अपने हिस्से का दावा किया था । उसको लागू सिद्धांत भिन्न थे । हमारी राय में यह मामला आदेश 41 के नियम 22(1) के अंतिम शब्दों में जाता है "परंतु यह तब जब कि उसने ऐसा आक्षेप अपील न्यायालय में उस तारीख से एक मास के भीतर जिसको उस पर या उसके प्लीडर पर अपील की सुनवाई के लिए नियत दिन की सूचना की तामील हुई थी ।" ये शब्द प्रत्यर्थी के किसी भी विवाद्यक पर सुने जाने के अधिकार को सीमित कर देते हैं ।

12. अंत में बहस यह की गई कि इसी आदेश का नियम 33 इतना व्यापक है कि यह आपत्ति उसमें आ जाएगी । किंतु हमारी राय है कि वह नियम इस मामले में इस प्रकार लागू नहीं किया जा सकता था कि नियम 22(1) की उक्त शर्त समाप्त हो जाए जो कि अपील के आधार की सूचना के बिना सुने जाने का निषेध करती है । ऐसी दशा में उस प्रश्न को न उठाने देने में कोई त्रुटि नहीं है ।

हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि ये समेकित अपीलें खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपीलें खारिज की गई ।

श्रीमती वल्लन .... अपीलार्थी

बनाम

फजला तथा अन्य............................ प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

पंजाब भू-राजस्व अधिनियम, 1887 – धारा 44 – अधिकार अभिलेख की प्रविष्टियों के सही होने की उपधारणा होती है – अतः पुनरीक्षित व्यवस्थापन के समय तैयार की गई वंशावली के सही होने की उपधारणा होगी और सबूत का भार उस व्यक्ति पर होगा जो उसको गलत बताता है ।

प्रक्रिया – प्रिवी कौंसिल – जो प्रश्न निचले न्यायालयों में नहीं उठाया गया वह प्रथम बार प्रिवी कौंसिल में नहीं उठाया जा सकता ।

इस अपील में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि पंजाब रुढ़िज विधि के अनुसार प्रश्नगत भूमि पर उत्तराधिकार का हक अपीलार्थी को है या प्रत्यर्थियों को । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अतः यदि यूसुफ का पिता पनाह वस्तुतः नेका का पुत्र था, जैसा कि 1890-91 की वंशावली से प्रकट होता है, तो प्रत्यर्थीगण शेर मोहम्मद के साम्पार्श्विक थे और अपीलार्थी की अपेक्षा वे ही शेर मोहम्मद की पैतृक संपत्ति के उत्तराधिकार के हकदार थे । किंतु अपीलार्थी का कहना है कि यूसुफ का पिता पनाह वह पनाह नहीं था कि नेका का पुत्र और अहमद का भाई था और वह दूसरा पनाह कोई पुत्र छोड़े बिना मर गया तथा यूसुफ का पिता पनाह एक हाजी का पुत्र था । यदि यह तर्क सही है तो प्रत्यर्थी शेर मोहम्मद के सांपार्श्विक नहीं है और अपीलार्थी विवादित संपत्ति की हकदार है । यह देखते हुए कि भू-राजस्व अधिनियम की धारा 44 के अधीन अधिकार अभिलेख में की गई प्रविष्टियों के सत्य होने की उपधारणा होती है जब तक कि तत्प्रतिकूल साबित न कर दिया जाए या उसके स्थान पर नई प्रविष्टि विधिपूर्वक न कर दी जाए, अपीलार्थी पर यह दिखाने का भार आ जाता है कि 1890-91 के पुनरीक्षित व्यवस्थापन में तैयार की गई वंशावली, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया, गलत है, क्योंकि स्वीकृत रूप से बाद की ऐसी कोई प्रविष्टि नहीं है जो उक्त उद्धरण में लिखे तथ्य से असंगत हो । किंतु अपीलार्थियों का तर्क है कि उसने सबूत के भार का निर्वहन इस प्रकार कर दिया है : प्रथमतः वह एक कागज पेश करती है जो कि 1856 के नियमित व्यवस्थापन के समय तैयार की गई लिलहानी गांव की वंशावली है । उसका जो उद्धरण इस मामले के अभिलेख में है वह अप्रैल, 1931 में लिया गया प्रतीत होता है । (पैरा 4)

सिविल अधिकारिता : **1936 की अपील सं. 121.**

अपीलार्थी की ओर से श्री जे. एम. पारिख

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री एच. आर. मजीद

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड रोमर ने दिया ।

न्या. रोमर – इस अपील में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि पंजाब रुढ़िज विधि के अनुसार प्रश्नगत भूमि पर उत्तराधिकार का हक अपीलार्थी को है या प्रत्यर्थियों को । यह भूमि शेर मोहम्मद की अक्तूबर, 1929 में या उसके लगभग निःसंतान मृत्यु होने के समय उसके कब्जे में थी । यह लिलहानी नामक गांव की पट्टी दौलतानी में समाविष्ट है । वह वर्ष 1879 व 1881 में एक यूसुफ ने अर्जित की थी और उस पर अपीलार्थी का दावा सुविधापूर्वक इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :–

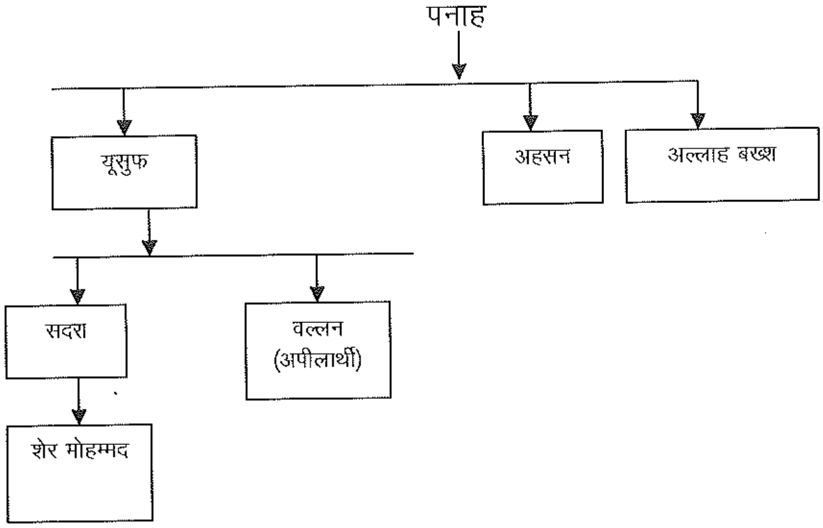

2. अहसन और अल्लाह बख्श की तथा यदि उसके कोई संतान थी तो उसकी भी मृत्यु शेर मोहम्मद के पूर्व हो गई प्रतीत होती है । यूसुफ द्वारा इस संपत्ति के अर्जन के बाद प्रथम पुनरीक्षित व्यवस्थापन 1890-91 में हुआ । उसमें गांव के जमींदारों की वंशावली इस प्रकार दी गई है :–

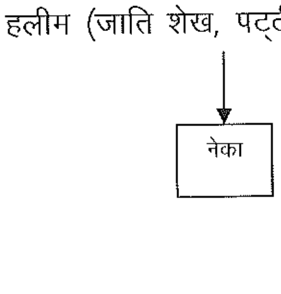

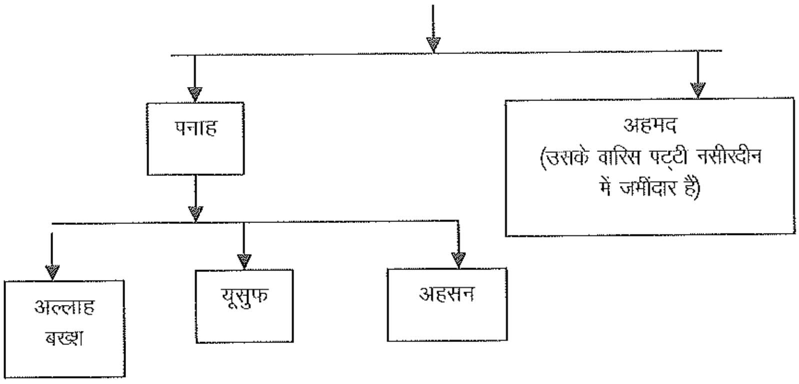

3. इससे प्रकट होगा कि युसूफ का पिता पनाह नेका का पुत्र था और पनाह के एक भाई अहमद था, जिसकी संतान पट्टी नसीरदीन में जमींदार हैं । अब वह संतान कौन है यह इस वंशावली से प्रकट होगा :–

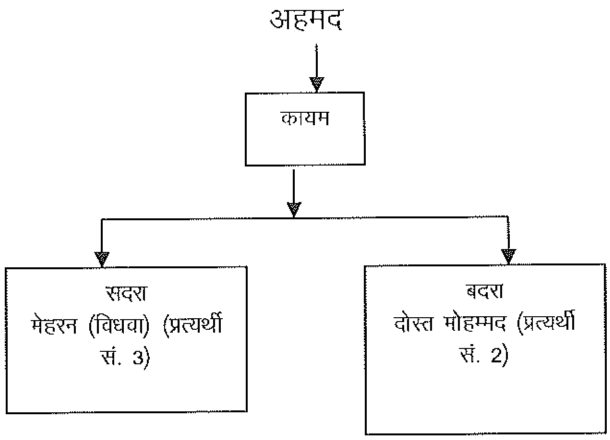

4. अतः यदि यूसुफ का पिता पनाह वस्तुतः नेका का पुत्र था, जैसा कि 1890-91 की वंशावली से प्रकट होता है, तो प्रत्यर्थीगण शेर मोहम्मद के साम्पार्श्विक थे और अपीलार्थी की अपेक्षा वे ही शेर मोहम्मद की पैतृक संपत्ति के उत्तराधिकार के हकदार थे । किंतु अपीलार्थी का कहना है कि यूसुफ का पिता पनाह वह पनाह नहीं था कि नेका का पुत्र और अहमद का भाई था और वह दूसरा पनाह कोई पुत्र छोड़े बिना मर गया तथा यूसुफ का पिता पनाह एक हाजी का पुत्र था । यदि यह तर्क सही है तो प्रत्यर्थी शेर मोहम्मद के सांपार्श्विक नहीं है और अपीलार्थी विवादित संपत्ति की हकदार है । यह देखते हुए कि भू-राजस्व अधिनियम की धारा 44 के अधीन अधिकार अभिलेख में की गई प्रविष्टियों के सत्य होने की उपधारणा होती है जब तक कि तत्प्रतिकूल साबित न कर दिया जाए या उसके स्थान पर

नई प्रविष्टि विधिपूर्वक न कर दी जाए, अपीलार्थी पर यह दिखाने का भार आ जाता है कि 1890-91 के पुनरीक्षित व्यवस्थापन में तैयार की गई वंशावली, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया, गलत है, क्योंकि स्वीकृत रूप से बाद की ऐसी कोई प्रविष्टि नहीं है जो उक्त उद्धरण में लिखे तथ्य से असंगत हो । किंतु अपीलार्थियों का तर्क है कि उसने सबूत के भार का निर्वहन इस प्रकार कर दिया है : प्रथमतः वह एक कागज पेश करती है जो कि 1856 के नियमित व्यवस्थापन के समय तैयार की गई लिलहानी गांव की वंशावली है । उसका जो उद्धरण इस मामले के अभिलेख में है वह अप्रैल, 1931 में लिया गया प्रतीत होता है । वह इस प्रकार है :–

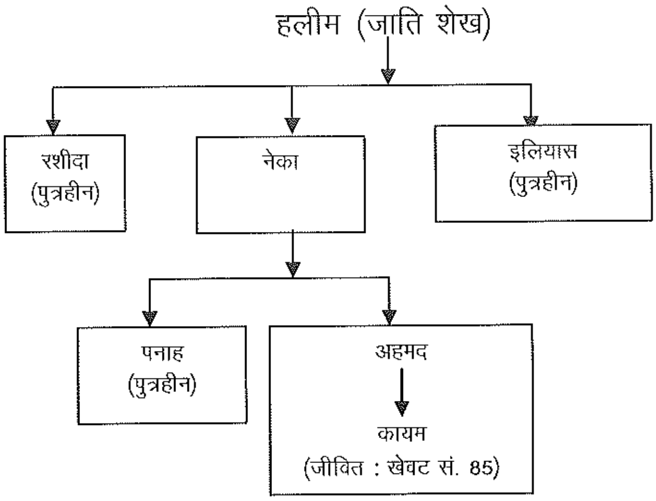

5. किंतु विशेष कानूनगो या राजस्व अधिकारी से पूछे गए परिप्रश्नों के उत्तर से प्रकट होगा कि "पुत्रहीन" शब्द वंशावली में उसी खाने में नहीं है जिसमें कि पनाह का नाम है बल्कि उसके नाम के चारों और एक नीला घेरा है (यह नहीं बताया गया है कि वह पेंसिल से है या स्याही से) और वंशावली में दी गई निर्देश सारणी के अनुसार वह चिह्न व्यक्ति का पुत्रहीन होना व्यक्त करता है । दूसरे, अपीलार्थिनी ने यूसुफ द्वारा 28.3.1870 को अपने पिता पनाह के मुख्तार के रूप में दाखिल किए गए वादपत्र की एक प्रति पेश की है । इसमें यूसुफ ने अपने पिता को हाजी का पुत्र, जाति शेख, आयु 105 वर्ष लिखा है । इसी साक्ष्य का आश्रय लेकर अपीलार्थी ने इस वाद में अपना वादपत्र 9.3.1931 को सरगधा के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में इस घोषणा के लिए दाखिल किया कि वह शेर मोहम्मद द्वारा

छोड़ी गई भूमि की अनन्य स्वामिनी है और प्रत्यर्थियों का उससे कोई संबंध नहीं है ।

6. यह वाद जनवरी, 1932 के प्रारंभ में सुनवाई के लिए पेश हुआ । विचारण में प्रत्यर्थियों ने स्वभावतः 1890-91 के पुनरीक्षित व्यवस्थापन में तैयार की गई वंशावली का आश्रय लिया । 1856 की वंशावली के संबंध में उनका कहना था कि उसमें छेड़छाड़ की गई है और पनाह के खाने में दिखाया गया गोल चिह्न बाद को कपटपूर्वक जोड़ दिया गया है । उनका आगे कहना था कि 1870 के बाद में यूसुफ ने स्वीकार किया था कि अहमद उसके पिता का भाई है । उस वाद में जो जैसा कि पहले बताया गया, यूसुफ द्वारा अपने पिता पनाह की ओर से किया गया था, दावा यह किया गया था कि पनाह लिलहानी गांव की कुछ भूमि का स्वामी है जो कि पनाह के 1856 के व्यवस्थापन के समय अनुपस्थित होने के कारण शामिलात दिखा दी गई थी । वाद का उद्देश्य यह दिखाए जाने का था कि वह भूमि पनाह की संपत्ति है । उस वाद में 127 प्रतिवादी थे जो गांव में हिस्सेदार थे, जिनमें एक कायम भी था जिसके बारे में प्रतीत होता है कि वह उपर्युक्त अहमद का पुत्र था । इन प्रतिवादियों में से कायम सहित 36 व्यक्तियों ने वादी का दावा सही होना स्वीकार होने का लिखित कथन दाखिल किया । उनका कहना था :–

> "वादी हमारा सांपार्श्विक और एक जमींदार है । वह व्यवस्थापन के समय अनुपस्थित था । अतः उसके स्वामित्व की सारी भूमि पूरे गांव की शामिलात दर्ज हो गई । वास्तव में वादी की भूमि व्यवस्थापन अभिलेखों में उसके सगे चचेरे भाई कायम के साथ दिखाई गई है ।"

7. इस अंतिम वाक्य का ठीक अर्थ क्या होगा, यह बहुत स्पष्ट नहीं है । किंतु यह कथन तो स्पष्ट है कि कायम पनाह का सगा चचेरा भाई है । अन्य प्रतिवादियों ने वादी के दावे का विरोध किया किंतु किसी ने भी उसकी कायम से रिश्तेदारी पर विवाद नहीं है और न यूसुफ ने अपने उस लिखित उत्तर में विवाद किया, जो दाखिल करने के लिए उसे आदेश दिया गया था और जिसके बारे में उसका कहना था कि मामले के तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए था, बल्कि इसके विपरीत पनाह के नाम से अभिवचन करते हुए उसने कायम का उल्लेख इन शब्दों में किया : "कायम, पुत्र अहमद, जो मेरे भाई का पुत्र है ।" वाद असफल हो गया प्रतीत होता है, यद्यपि हमें यह नहीं बताया गया कि ऐसा किस कारण से हुआ/प्रस्तुत मामले में उस वाद के निर्णय न्यायालय में साक्ष्य में नहीं दिए गए ।

8. 29.1.1932 को अधीनस्थ न्यायाधीश ने उस मामले में निर्णय अपीलार्थी के पक्ष में दिया । उनका निष्कर्ष था कि नेका का पुत्र पनाह, जो 1856 की वंशावली में कायम के पिता अहमद का भाई दर्ज है, यूसुफ के पिता पनाह से भिन्न व्यक्ति था । ऐसा निष्कर्ष निकालने में उन्होंने इस बात का आश्रय लिया कि उस वंशावली में पनाह कोई पुत्र छोड़े बिना दिवंगत दिखाया गया है । उनका कहना था कि प्रविष्टि सही है और उसमें कोई छेड़छाड़ दृश्य नहीं है । यूसुफ द्वारा 1870 के बाद में किए गए कथनों के विषय में उन्होंने वादी पनाह का वर्णन हाजी के पुत्र के रूप में होने का इस बात से बिल्कुल असंगत पाया कि वह नेका का पुत्र था । उन्होंने कहा कि यूसुफ का यह कहना कि अहमद का पुत्र कायम वादी पनाह का भतीजा था सही नहीं माना गया । उन्होंने कहा कि अन्यथा वह वाद निःसंदेह सफल होता । हमें यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि ऐसा क्योंकि यदि वादी नेका का पुत्र होता तो वाद सफल होता किंतु असफल हुआ क्योंकि ऐसा नहीं था । किंतु किसी भी दशा में यह ऐसा प्रश्न है जिसका विनिश्चय वाद में दिए गए निर्णय पढ़कर ही किया जा सकता है और वे निर्णय विद्वान् न्यायाधीश के समक्ष साक्ष्य में नहीं थे । यह कहने के सिवाय कि प्रत्यर्थियों के अभिवक्ता ने 1890-91 वंशावली का आश्रय लिया, विद्वान् न्यायाधीश ने उस महत्वपूर्ण साक्ष्य का कोई उल्लेख नहीं किया ।

9. 8.1.1935 को मामला लाहौर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील में आया । अपील मंजूर कर ली गई । न्यायमूर्तिगण एडीसन और दीन मोहम्मद ने निर्णय किया कि यूसुफ का पिता पनाह नेका का पुत्र था, जैसा कि 1890-91 के राजस्व अभिलेख में है । उनका कहना था कि 1870 के बाद में प्रत्येक बात उन प्रविष्टियों से संगत है, सिवाय इसके कि पनाह के पिता का नाम हाजी लिखा गया था, किंतु यह परिस्थिति महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जो भी व्यक्ति हज कर आता है वह हाजी कहलाता है । हम उस उक्ति से पूर्णतः सहमत हैं और 1856 की वंशावली के अभाव में हमारे लिए और कुछ कहना अनावश्यक होता । किंतु उच्च न्यायालय का यह विचार था कि यह प्रत्यक्ष है कि मूल प्रविष्टि इस वाद के प्रयोजनार्थ परिवर्तित की गई थी । उनके इस विचार के लिए कारण ये थे : अपीलार्थी ने वंशावली की जो प्रतिलिपि पेश की उसमें शब्द "पुत्रहीन" पनाह के नाम के खाने के नीचे लिखा गया है और यह प्रतिलिपि अप्रैल, 1931 में तैयार की गई थी । दूसरी ओर प्रत्यर्थियों ने एक प्रतिलिपि पेश की जो दिसंबर, 1921 में तैयार की गई थी और इस प्रतिलिपि में उस खाने के नीचे शब्द

"पुत्रहीन" नहीं था । किंतु जैसा कि पहले बताया गया, वह प्रविष्टि जिस रूप में है उसमें शब्द "पुत्रहीन" नहीं है, किंतु पनाह के नाम के चारों और एक नीली रेखा है जो उसी बात का संकेत करती है और हो सकता है कि अप्रैल, 1931 वाली प्रतिलिपि तैयार करने वाला व्यक्ति केवल उस नीली रेखा का अर्थ कर रहा हो । दूसरी ओर यह संभव है कि दिसंबर, 1921 के प्रतिलिपिकार ने स्वयं नीली रेखा को कोई महत्व नहीं दिया हो और इसी कारण उसे नहीं उतारा, क्योंकि पुत्रहीन मरने वाले कई अन्य जमींदारों के खाने में नीली रेखा भी है और उसके नीचे "पुत्रहीन" शब्द भी लिखा है । इसलिए मूल प्रविष्टि पनाह के नाम के चारों और नीली रेखा वाली हो सकती है । किंतु यदि ऐसा था भी तो यह महत्वहीन है क्योंकि 1890-91 की वंशावली तथा 1870 के वाद में यूसुफ के बयान निश्चायक सबूत प्रस्तुत करते हैं । क्योंकि उस वाद में जो कहा गया कि पनाह और यूसुफ उस समय अनुपस्थित थे जब कि 1856 का व्यवस्थापन विलेख तैयार किया गया और यह कल्पनीय है कि उनकी अनुपस्थिति में गलत तौर पर यह मान लिया गया कि पनाह की मृत्यु हो गई है और उसने कोई पुत्र नहीं छोड़ा, अथवा वह उस समय किसी के हित में था कि कपटपूर्वक दिखाए कि स्थिति ऐसी थी । अपीलार्थी के प्रति यह उचित होगा कि 1856 की वंशावली के प्रति इस संभव दृष्टिकोण का उल्लेख कर दिया जाए ।

10. उक्त के अधीन रहते हुए, हम उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष तथा उस निष्कर्ष के आधारभूत तर्क दोनों से सहमत हैं । उच्च न्यायालय के निर्णय के अंतिम शब्द हैं "यह विवादित नहीं है कि यदि प्रतिवादी सांपार्श्विक है तो वे उत्तराधिकार के हकदार हैं" । किंतु अपीलार्थी की ओर से हमारे समक्ष यह बहस की गई कि यदि प्रतिवादी सांपार्श्विक हैं तो भी अपीलार्थी उस संपत्ति की अधिमानी वारिस है जो शेर मोहम्मद के कब्जे में मृत्यु के समय थी क्योंकि वादगत भूमि पैतृक नहीं थी । किंतु यह तर्क न अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया गया और न उच्च न्यायालय में । वह अब प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । इन कारणों से हमारी राय है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी इस अपील का खर्चा अदा करे ।

अपील खारिज की गई ।

वैरीचरला नारायण गजपतिराजू .... अपीलार्थी

बनाम

राजस्व खंड अधिकारी, विजगापत्तमन .... प्रत्यर्थी

न्यायमूर्ति लार्ड मेकमिलन, न्यायमूति लार्ड रोमर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 – धारा 23 व 24 – अर्जित भूमि के मूल्यांकन के लिए इन धाराओं के अधीन वही सिद्धांत लागू होते हैं जो कि अंग्रेजी लैंड क्लाजेज ऐक्ट (भूमि खंड अधिनियम) के अधीन लागू होते थे ।

इस अपील में विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि विजगापत्तनम बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा अपीलार्थी की बंदरगाह से संलग्न कुछ भूमि के अनिवार्य अर्जन की बाबत प्रतिकर के रूप में उसे दिलाई जाने वाली उचित राशि क्या है ? अपील में तद्नुसार आदेश करते हुए,

अभिनिर्धारित – अतः प्रतिकर का अवधारण उस कीमत के निर्देश से किया जाना चाहिए जिसके बारे में किसी रजामंद विक्रेता को युक्तियुक्त रूप से आशा हो सके कि वह किसी रजामंद क्रेता से प्राप्त होगी । अपनी भूमि बेचने की विक्रेता की अनिच्छा तथा भूमि खरीदने की क्रेता की तुरंत आवश्यकता दोनों की समान रूप से उपेक्षा की जानी चाहिए । दो में से किसी के बारे में यह विचार नहीं होना चाहिए कि वह विवश होकर कार्य कर रहा है । यह इस सामान्य कहावत में समाहित है कि भूमि का मूल्य क्रेता की दृष्टि में मूल्य के रूप में आकलित नहीं किया जाना चाहिए । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस बात की उपेक्षा कर दी जाए कि एक क्रेता अन्य क्रेताओं की उपेक्षा भूमि अधिक चाहेगा । किसी क्रेता विशेष की इच्छा, जो विवशकारी न हो, मूल्य के अवधारण में सदैव विचार में ली जा सकती है, उसका महत्व कुछ भी हो । किंतु उसके महत्व के प्रश्न पर अर्थात् कि दिलाया जाने वाला प्रतिकर उससे कहां तक प्रभावित होगा इस पर विचार इस निर्णय में आगे किया जाएगा । चलते हुए यह भी बता दिया जाए कि बहुधा कहा जाता है कि आकलन उस मूल्य का किया जाना चाहिए जो विक्रेता की दृष्टि से उस भूमि का हो । किंतु यह पूरी तौर पर सही नहीं है । उदाहरणार्थ, विक्रेता की दृष्टि में भूमि का भावनात्मक मूल्य हो सकता है जो कि उसके बाजार मूल्य से कहीं अधिक हो । किंतु ऐसी किसी बात के कारण प्रतिकर बढ़ाया नहीं जाएगा । विक्रेता ऐसा विक्रेता माना जाना चाहिए जो भारतीय अधिनियम की धारा 23 की शब्दावली में

बाजार मूल्य पर बेचने को रजामंद हो । इस संबंध में संभवतः यह वाछंनीय है कि "बाजार मूल्य" पद के विषय में कुछ बताया जाए । सामान्यतः भूमि का कोई बाजार उस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में कि शेयरों, चीनी या ऐसी ही अन्य वस्तुओं का बाजार कहा जाता है । ऐसी किसी वस्तु का किसी विशिष्ट समय पर मूल्य उन कीमतों से तुरंत अभिनिश्चित किया जा सकता है जो बाजार में वैसी वस्तुओं का मिल रहा है । भूमि के बारे में सामान्यतः उसका मूल्य उन कीमतों का विचार करके आंका जा सकता है जो कि उसी प्रकार की ओर उसी स्थित भूमि की बाबत पहले मिला है और धारा 23 में "बाजार मूल्य" से सामान्यतः यही अभिप्रेत है । किंतु कभी ऐसा होता है कि मूल्यांकन की जाने वाली भूमि के कुछ असाधारण और हो सकता है कि अद्वितीय, लक्षण उसकी स्थिति या उसके उपयोग की संभावनाओं के विषय में हों । ऐसी दशा में मध्यस्थ को उसके मूल्य के अवधारण में कोई बाजार मूल्य मार्गदर्शन के लिए उपलब्ध नहीं होगा और उसके अपने समक्ष की सामग्री के आधार पर अधिकतम उत्तम ढंग से यह अभिनिश्चित करना होगा कि किसी रजामंद विक्रेता को किसी रजामंद क्रेता से उस विशिष्ट स्थिति और उन विशिष्ट संभावनाओं वाली भूमि के लिए क्या मूल्य मिलने की युक्तियुक्त रूप से आशा की जा सकती है । अनेक निर्णयों द्वारा यह प्रतिष्ठित हो चुका है कि भूमि का मूल्यांकन केवल उस उपयोग की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए जिसमें वह उस समय आ रही है जब कि उसका मूल्य अवधारित किया जाना है (भारतीय अधिनियम के अधीन वह समय धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना की तारीख का है), बल्कि उन उपयोगों की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए जिनमें वह भविष्य में युक्तियुक्त रूप से लाई जा सकती है । वस्तुतः इस प्रतिपादना के लिए कोई प्रमाण अपेक्षित नहीं है । यह स्वतः स्पष्ट है । जिस भूमि के विषय में निश्चित है अथवा संभाव्य है कि तुरंत अथवा युक्तियुक्त रूप से निकट भविष्य में उसका उपयोग निर्माण के प्रयोजनार्थ होगा, किंतु जो मूल्यांकन की तारीख को बंजर है या कृषिक प्रयोजनार्थ काम में आ रही है, उसके विषय में यह कोई नहीं मानेगा कि उसका स्वामी, वह चाहे जितना रजामंद विक्रेता हो, अपनी भूमि, यथास्थिति, बंजर या कृषि भूमि के मूल्य पर बेचने में संतुष्ट होगा । यह स्पष्ट है कि उसके मूल्य के अभिनिश्चय में उसके निर्माण के प्रयोजनार्थ उपयोग की संभावना को भी विचार में लेना होगा । साथ ही यह भी उतना ही स्पष्ट है कि भूमि का मूल्यांकन इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए जैसे कि उस पर निर्माण हो

चुका हो । यह सिद्धांत अधिनियम की धारा 24(5) में समाहित है और कभी वह यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि भूमि की संभावनाएं, न कि उसकी फलीभूत संभावनाएं, विचार में ली जानी चाहिए । किंतु भूमि की उपयोग संभावनाओं के कारण उसके मूल्य में होने वाली वृद्धि किस प्रकार आंकी जाए ? उपर्युक्त उदाहरण में जहां कि संभावना यह है कि भूमि का उपयोग निर्माण के प्रयोजनार्थ होगा मध्यस्थ (जिस शब्द से इस निर्णय में वह व्यक्ति भी अभिप्रेत है जिसे भूमि का मूल्य अवधारित करना है) के समक्ष संभवतः यह साक्ष्य होगा कि ऐसे प्रयोजनार्थ तुरंत अपेक्षित पड़ोस की भूमि के लिए क्या कीमत चुकाई गई । फिर इस प्रकार अभिनिश्चित मूल्य में से उतनी राशि घटानी होगी जो वह इस संभावना की मात्रा को देखते हुए उचित समझे कि भूमि की उक्त प्रयोजनार्थ आवश्यकता कभी नहीं होगी या बहुत समय तक नहीं होगी । किंतु ऐसी असाधारण प्रकृति के उपयोग की संभावनाओं वाली भूमि के मामले में, जब कि मध्यस्थ के मार्गदर्शन के लिए वैसे उदाहरण उपलब्ध न हों, भूमि का मूल्य किसी अन्य प्रकार से अभिनिश्चित किया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त ऐसे मामले में अधिसंभाव्यतः बहुत कम ऐसे व्यक्ति होंगे जो भूमि की संभावनाओं का उपयोग करने में समर्थ हों । यदि भूमि का स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति है जो ऐसा कर सकता है तो उसकी दृष्टि से मूल्य का अभिनिश्चय उस लाभ के आधार पर किया जाना चाहिए जो वह भविष्य में उस भूमि से प्राप्त कर सके । उदाहरणार्थ, ऐसी खाली भूमि के स्वामी को लिया जाए जो उसके कारखाने से लगी हुई है । भूमि की यह संभावना है कि उसका उपयोग कारखाने के विस्तारण के लिए लाभपूर्वक किया जा सकता है । किंतु स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति है जो उस संभावना का उपयोग कर सकता है । फिर भी भूमि का उसके तथा किसी रजामंद क्रेता के बीच मूल्यांकन करने में भूमि की उपयोग-संभावना का उसके लिए मूल्य अनिवार्यतः गिना जाएगा । यही बात उन मामलों में लागू होगी जब कि स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति नहीं है बल्कि वह उन व्यक्तियों में से एक है जो उस संभावना का उपयोग कर सकता है । उस संभावना का मूल्य उस लाभ से कम नहीं होगा जो उसे उस दशा में होता जब कि वह भूमि को अपने कब्जे में रखकर उसे उक्त उपयोग में लाता । किंतु अब उदाहरण ऐसे मामले का लिया जाए जिसमें कि स्वयं स्वामी कंपनी स्थापित करके या अन्यथा उस संभावना का उपयोग करने में समर्थ न हो । ऐसे मामले में बहुत से ऐसे व्यक्ति हों तो हमारे समक्ष उल्लिखित सभी निर्णयों में यह माना गया है

और हमें यह सामान्य बोध के अनुरूप लगता है, कि स्वामी हकदार है कि उसे वह मूल्य दिया जाए जो उस संभावना का उसके लिए हो, यद्यपि उस मूल्य का अभिनिश्चय अनके मामलों में बहुत कठिन हो सकता है । (पैरा 6, 7, 8, 9 और 10)

किंतु मास्टर आफ रोल्स ने कहा यह है कि खरीद पर विचार नहीं किया जाना चाहिए, न कि यह कि क्रेता पर विचार नहीं किया जाना चाहिए । यदि भूमि का इस कारण अतिरिक्त मूल्य हो जाता है कि भूमि का अर्जनकर्ता प्राधिकारी के प्रयोजनार्थ वैवश्यक अर्जन किया गया तो उसकी सदैव उपेक्षा की जानी चाहिए और मास्टर आफ रोल्स का इससे अधिक कोई आशय नहीं था । किंतु ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला पर विचार अधिक विस्तार से किया जाना चाहिए क्योंकि लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन की उस मामले में कुछ उक्तियों पर प्रत्यर्थी का मुख्य आश्रय है । जो भूमि उस मामले में वैवश्यक रूप से अर्जित की गई थी उसकी संभावनाओं का एकमात्र संभव क्रेता अर्जनकर्ता प्राधिकारी नहीं था । अतः अब जिस प्रश्न पर विचार हो रहा है वह उसमें विनिश्चयार्थ नहीं आया । किंतु निचले न्यायालय में ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला में न्यायमूर्ति ब्रे ने कहा था :–

> "हम इस प्रश्न पर वापस आते हैं कि यह तथ्य कि जलाशय के प्रयोजनार्थ कोई क्रेता नहीं मिलेगा सिवाय उस क्रेता के जिसको संसदीय शक्तियां प्राप्त हैं, भूमि के विशिष्ट मूल्य को बाजार मूल्य होने से रोकता है । हमारी राय में हमें इस प्रश्न का उत्तर 'न' में देना चाहिए ।"

कोर्ट आफ अपील में लार्ड जस्टिस वाघम विलियम्स ने पृष्ठ 25 पर कहा :–

> "मैं न्यायमूर्ति ब्रे से सहमत हूं कि यह तथ्य कि जलाशय के प्रयोजनार्थ कोई खरीदने वाला नहीं मिलेगा सिवाय उसके जिसे संसदीय शक्तियां प्राप्त हैं, उसका विशिष्ट मूल्य बाजार मूल्य होने से नहीं रोकता ।"

उन्होंने आगे कहा कि उनके सहमत होने का एक कारण यह है कि जो बोर्ड अर्जनकर्ता प्राधिकारी था स्वयं संभव खरीदार हो सकता था जो भूमि के लिए विशेष कीमत अदा करता और यह विचार में लिया जाना चाहिए । किंतु लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन ने कहा कि उनके विचार से निर्णय यह बताते हैं कि जब विशेष मूल्य केवल ऐसे विशिष्ट क्रेता के लिए

हो जिसे वैवश्यक क्रय की शक्तियां प्राप्त हैं तो वह कीमत नियत करने में विचार में नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा करने पर स्कीम के अधीन क्रय की जाने वाली भूमि का मूल्य स्कीम से बढ़ जाएगा । उन्होंने आगे कहा कि जहां अन्य संभव क्रेता हों वहां उनमें स्पर्धा होगी और इससे बाजार कीमत बढ़ जाएगी । विद्वान् लार्ड जस्टिस ने उन निर्णयों का हवाला नहीं दिया जिनमें कि प्रश्नगत सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था और हमें ऐसे किसी निर्णय का ज्ञान नहीं है जो उसे उचित ठहराए । किंतु यह माना जाना चाहिए कि स्कीम के अस्तित्व से कीमत उस दशा में नहीं बढ़ने देनी चाहिए जब कि "स्कीम" का भाव इस तथ्य से हो कि अर्जन की वैवश्यक शक्तियां उस संभावना के लाभप्रद उपयोग के लिए विशिष्ट स्कीम को क्रियान्वित करने के लिए प्राप्त की गई । मूल्यांकन सदैव इस प्रकार किया जाना चाहिए जैसे ऐसी शक्तियां प्राप्त न की गई हों और स्कीम का एकमात्र उपयोग इस साक्ष्य के रूप में हो सकता है कि अर्जनकर्ता प्राधिकारी को उचित तौर पर संभव क्रेता माना जा सकता है । किंतु हमें यह समझने में कुछ कठिनाई है कि इस बात को विचार में लेने से कि विशेष मूल्य केवल अर्जनकर्ता क्रेता के लिए है यह कहा जाए कि इससे स्कीम के अस्तित्व से भूमि का मूल्य बढ़ा दिया जाता है । स्कीम ने तो केवल यह अंतर किया है कि जो अर्जनकर्ता प्राधिकारी स्कीम के पहले क्रेता मात्र था वस्तुतः क्रेता हो गया जिसका भूमि के अर्जन की बड़ी आवश्यकता थी और वह ऐसी परिस्थिति है जिससे मूल्य कभी बढ़ने नहीं दिया जाता । दूसरी ओर यदि "स्कीम" से लार्ड जस्टिस का आशय अर्जनकर्ता प्राधिकारी द्वारा बनाए गए इस आशय से था कि भूमि की संभावनाओं का उपयोग किया जाए तो उनके कथन का केवल यही अर्थ हो सकता है कि भूमि का मूल्य इस बात से नहीं बढ़ना चाहिए कि वह संभव क्रेता है । इसका परिणाम यह होगा कि जिस मामले में दो या अधिक संभव क्रेता हों वहां भी उनके अस्तित्व के कारण मूल्य नहीं बढ़ने देना चाहिए क्योंकि प्रत्येक के बारे में समझना चाहिए कि उसकी अपनी एक स्कीम (योजना) है और उनकी पारस्परिक स्पर्धा के कारण मूल्य में वृद्धि जिसका लार्ड जस्टिस ने उल्लेख किया है, वस्तुतः स्कीमों के कारण मूल्यवृद्धि हो जाएगी । जहां तक कि इसका यह अर्थ है कि अभिनिश्चित किया जाने वाला मूल्य वह कीमत है जो कि कोई रजामंद क्रेता रजामंद विक्रेता को देगा, न कि वह कीमत जो कि एक विवश क्रेता अनिच्छुक विक्रेता को देगा, हम इससे सहमत हैं । किंतु जहां तक इसका अर्थ यह है कि इस संभावना की उपेक्षा की जानी चाहिए कि योजना का संप्रवर्तक

रजामंद क्रेता होने के नाते अन्य प्रतियोगियों से अधिक देने को तैयार होगा अथवा जिस मामले में वह उस संभावना का एकमात्र क्रेता हो उसमें उस संभावना से रहित भूमि के मूल्य से अधिक देगा, हम विद्वान् न्यायाधीश से सादर असहमत हैं । इन कारणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब भूमि की संभावना का एकमात्र संभव क्रेता वह प्राधिकारी है जिसने विवशकारी शक्तियां प्राप्त की हैं वहां मध्यस्थ को प्रतिकर दिलाने में अपनी पूर्ण योग्यता से प्रयत्न करना चाहिए कि किसी रजामंद क्रेता द्वारा किसी रजामंद विक्रेता को उस भूमि के लिए जिसमें वे संभावनाएं हैं, दी जाने वाली कीमत का अभिनिश्चय उसी प्रकार करें जैसे कि वह उस मामले में करता जिसमें कि अनेक संभव क्रेता हों और वह भूमि का पोरमबोक मूल्य दिलाने के लिए प्रथमोक्त मामले में उत्तरोक्त मामले की अपेक्षा अधिक सीमित नहीं है । जैसा कि पहले बताया गया, उस समय बंदरगाह अत्यंत मलेरिया-ग्रस्त स्थान था जो किसी औद्योगिक समुत्थन के लिए आकर्षक स्थल नहीं माना जा सकता था । अतः जब तक उस वस्तुस्थिति का उपचार नहीं कर दिया जाता तब तक अपीलार्थी के जल का कोई ग्राहक नहीं होता और उक्त विशेष उपयोगिता का उसके लिए मूल्य शून्य था । यह सही है कि यह लगभग निश्चित था कि बंदरगाह प्राधिकरण उसे यथासंभव मलेरिया-मुक्त करने के लिए कदम उठाएगा क्योंकि यदि कुछ ऐसा नहीं करते तो उस बंदरगाह का रुकने के पत्तन के रूप में भी अधिक उपयोग नहीं होता । किंतु आवश्यक मलेरिया निवारक संकर्म करने के लिए बंदरगाह प्राधिकरण के लिए आवश्यक था कि किसी स्रोत से जल प्रदाय प्राप्त करे जो उस क्षेत्र के उन कुंओं से भिन्न हो जो उस क्षेत्र की मलेरिया-ग्रस्त के लिए उत्तरदायी थे और जिन्हें तब बंद किया जाना था । अतः 13.2.1928 को अपीलार्थी इस असमंजस में होता । यदि जल का एकमात्र अन्य साधन अपीलार्थी का स्रोत था तो बंदरगाह प्राधिकरण ही एकमात्र संभव क्रेता होता । किंतु यदि दूसरी ओर वह प्राधिकरण किसी अन्य स्रोत से जल प्राप्त कर सकता था जो मलेरिया निवारक संकर्मों के लिए तथा बंदरगाह क्षेत्र के व्यापारियों के लिए जल प्रदाय करने के लिए पर्याप्त होता तो अपीलार्थी को प्राधिकरण की भूमि में स्पर्धी जल प्रदाय करने की इजाजत से लगभग निश्चय ही इंकार कर दिया जाता । तथ्यतः एक समय में जल प्राप्त करने के लिए एक अनुकल्पी योजना थी जो मेघाद्रि गेड्डा स्कीम कहलाती थी । वह स्कीम विजगापत्तन नगरपालिका, बंगाल नागपुर रेल, और बंदरगाह के फायदे के लिए थी । स्कीम का लक्ष्य प्रतिदिन 10,00,000 गैलन की आपूर्ति का था, जिसमें से बंदरगाह को

1,50,000 गैलन प्रतिदिन मिलना था । वह स्कीम आगे नहीं बढ़ी किंतु यह बताना असंभव है कि यदि लोवा बाग का स्रोत अर्जित नहीं किया गया होता तो उस स्कीम का क्या होता । इन परिस्थितियों में अपीलार्थी का जल बंदरगाह प्राधिकरण से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा उपलब्ध किए जाने की संभावना बिल्कुल नगण्य थी और अपीलार्थी की दृष्टि में भूमि की जल प्रदाय के लिए विशेष उपयुक्तता के कारण उसकी मूल्यवृद्धि वह राशि थी जितनी कि बंदरगाह प्राधिकरण रजामंद क्रेता के रूप में भूमि के पोरमबोक मूल्य के अतिरिक्त देने को रजामंद होता । हमने उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत की विपरीत दिशा में विचार करने के अपने कारण बता दिए हैं की अपीलार्थी को देय प्रतिकर निश्चित करने में ऐसी राशि विचार में ली जानी चाहिए और वह राशि केवल इस कारण नगण्य नहीं मानी जा सकती कि पत्तन प्राधिकरण ही एकमात्र संभव क्रेता था । (पैरा 17, 21 और 31)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1917]	(1917) अपील केसेज 187 = आ. इं. रि. 1918 प्रि. कौं. 308 : **फ्रेजर** बनाम **फेजर बिले** ;	19
[1915]	(1915) एस. सी. सी. 449 : **ग्लास** बनाम **इनलैंड रेवेन्यु** ;	13
[1914]	(1914) 3 किंग्स बेंच 466 : **इनलैंड रेवेन्यु कमिश्नर्स** बनाम **कले** ;	14
[1914]	(1914) 3 किंग्स बेंच 629 : **सिडनी** बनाम **नार्थ ईस्टर्न रेलवे कंपनी** ;	19
[1914]	(1914) अपील केसेज 569 = आ. इं. रि. 1914 प्रि. कौं. 199 : **सेडर्स रेपिड्स मेनुफैक्चरिंग एंड पावर कं.** बनाम **लाकोरस्ट** ;	18
[1908]	(1908) 1 किंग्स बेंच 16 : **ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला** ;	17

[1908]	(1908) 1 किंग्स बेंच 571 : **ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला ;**	17
[1904]	(1904) 1 किंग्स बेंच 417 : **इनरी गफ एंड दि अस्पाट्रिया सिलोट एंड डिस्ट्रिक्ट जायण्ट वाटर बोर्ड ;**	16

सिविल अधिकारिता : **1938 की अपील सं. 36.**

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री लियोनेल एल. कोहन, पी. वी. सुब्बा राव और के. उमामहेश्वरम

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री एच. यू. विलिंल, डब्ल्यू. वालच और डब्ल्यू. डब्ल्यू. के पेज

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड रोमर ने दिया ।

न्या. रोमर – जब भूमि की संभावना का उपयोग करने में समर्थ केवल अर्जनकर्ता हो तो भी उस संभावना के मूल्य पर विचार किया जाना चाहिए क्योंकि अर्जनकर्ता ही वह मूल्य दे देता, किंतु अर्जन की योजना के कारण हुई मूल्यवृद्धि विचार में नहीं ली जाएगी ।

यह अपील इस प्रश्न के संबंध में है कि विजगापत्तनम बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा अपीलार्थी की बंदरगाह से संलग्न कुछ भूमि के अनिवार्य अर्जन की बाबत प्रतिकर के रूप में उसे दिलाई जाने वाली उचित राशि क्या है । प्रत्यर्थी इस अपील के प्रयोजनार्थ उस प्राधिकारण का प्रतिनिधि है । जिन परिस्थितियों में यह भूमि अर्जित की गई वे इस प्रकार हैं – विजगापत्तनम बंदरगाह का निर्माण वर्ष 1920 में प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है । यह बंदरगाह विजगापत्तनम नगर के दक्षिण-पश्चिम में स्थित दलदली भूमि में खुदाई करके तथा दलदली भूमि से बंगाल की खाड़ी तक जाने वाली उस नगर के दक्षिण में स्थित एक संकरी खाड़ी की झमाई करके गहरा जलमार्ग बनाकर निर्मित किया गया । इन संकर्मों के लिए बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा अर्जित भूमि के दक्षिण में अपीलार्थी की संपत्ति स्थित है, जो लोवा बाग (लोवा गाडेग्न) के नाम से ज्ञात है । यह बाग एक घाटी से बनता है जो दक्षिण-पश्चिम की ऊंची भूमि से पूर्वोत्तर की नीची भूमि तक जाती है तथा उक्त संकरी खाड़ी के दक्षिण में बंदरगाह प्राधिकरण की भूमि से संलग्न है । इस घाटी के ऊपरी भाग में पहाड़ियों के बीच एक उथली द्रोणी है जो कि एक स्रोत के जलागम क्षेत्र के रूप में है । यह स्रोत द्रोणी

के पूर्वोत्तर की भूमि से निकलता है । इस स्रोत से शुष्क ऋतु में भी औसतन 50,000 गैलन प्रतिदिन बढ़िया पेय जल निकलता है । यह समुद्र तल से 150 फुट की ऊंचाई पर स्थित है । जैसा कि यहां आगे बताया गया, उसका एक भाग बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा मोड़ दिया गया था । उसके पूर्व इस स्रोत का संपूर्ण जल घाटी में बहता हुआ लोवा बाग के निचले किनारे तक जाता था और वहां से संकरी खाड़ी में चला जाता था । वर्ष 1926 के प्रारंभिक मासों में बंदरगाह के निर्माण का कार्य पर्याप्त प्रगति कर गया था और यह आशा की जाती थी कि वह 1929 के अंत तक खुलने के लिए तैयार हो जाएगा ।

2. उस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बंदरगाह स्थल का एक भाग बंदरगाह प्राधिकरण ने तेल कंपनियों तथा अन्य औद्योगिक समुत्थानों द्वारा उपयोग के प्रयोजनार्थ आबंटित कर दिया था । वस्तुतः बंदरगाह का संपूर्ण दक्षिणी भाग औद्योगिक प्रयोजनार्थ आबंटित कर दिया गया था । किंतु बंदरगाह की भूमि बहुत मलेरिया-ग्रस्त थी । यही स्थिति बंदरगाह के दक्षिण की अधिकांश भूमि की थी जिसमें लोवा बाग का निचला हिस्सा भी आता था । इस परिस्थिति के कारण बंदरगाह प्राधिकरण के मन में कुछ चिंता थी । अतः उन्होंने श्री सीनियर व्हाइट से परामर्श किया, जो कि इस विषय में विशेषज्ञ थे । उन महानुभाव ने उस क्षेत्र का मलेरिया निवारक सर्वेक्षण कराने के बाद अपने सर्वेक्षण के परिणाम 1.5.1926 को एक रिपोर्ट में समाहित किए । इस रिपोर्ट से उस क्षेत्र में स्थित गांवों में गंभीर स्थिति प्रकट हुई । उस समय ये गांव कम से कम 32 थे जिनमें से कम से कम 9 उक्त संकरी खाड़ी के दक्षिण में थे । ये गांव या उनमें से बहुत से अपनी जल-आपूर्ति के लिए कुंओं पर निर्भर थे और यह कुंए मलेरियावाही मच्छरों की प्रजनन भूमि थे । इस रिपोर्ट से स्पष्ट है कि बंदरगाह स्थल पर कारबार करने वाले व्यक्तियों को उस समय की स्थिति के अनुसार मलेरियाग्रस्त हो जाने का गंभीर खतरा था और इससे बंदरगाह-स्थल के औद्योगिक प्रयोजनार्थ विकास में बड़ी बाधा आती । इसके अतिरिक्त, जैसा कि श्री व्हाइट ने बताया, यह भी संभावना थी कि घट्टी (quay) पर पोत परिवहन भी संक्रमित हो जाए और यह संभावना मात्र भी, जो कि भारतीय प्रेस में पहले ही प्रकाशित की जा चुकी थी, पत्तन के हित के लिए हानिकर थी ।

3. बंदरगाह प्राधिकरण के उप मुख्य इंजीनियर राटेनबरी द्वारा लिखे गए 14.7.1926 के पत्र से प्रकट होता है कि इन परिस्थितियों में श्री व्हाइट इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि दक्षिण के कुंए बंद कर दिए

जाएं । पत्र में आगे कहा गया था कि यह तभी किया जा सकता था जब कि उनके बदले में बहाव के पानी की व्यवस्था कर दी जाए । यह आपूर्ति लोवा बाग के ऊपरी छोर के जलस्रोत से की जा सकती थी । तद्नुसार बंदरगाह प्राधिकरण ने यह विचार किया कि बंदरगाह को मलेरिया-मुक्त करने के प्रयोजनार्थ स्रोत के पानी का उपयोग किया जाए । इस प्रकार की आपूर्ति से मलेरिया को रोकने में जो सहायता मिलती उसके अतिरिक्त भी उसके अर्जन को औचित्य प्रदान करने के लिए उसके अपने लाभ थे, जैसा कि एक बंदरगाह अधिकारी द्वारा 2.10.1926 को लिखे गए एक पत्र में बताया गया था । वह जल तेल कंपनियों और अन्य औद्योगिक समुत्थानों को, जो बंदरगाह क्षेत्र के दक्षिणी भाग में स्थापित हों, उपलब्ध किया जा सकता था । इन परियोजनाओं के लिए जल के उपयोग का जो ढंग अंत में अपनाया गया वह इस प्रकार था : जल को घाटी के उपर्युक्त निचले भाग से घुमाकर कुछ दूर तक उस स्रोत के नीचे सीधे बंदरगाह क्षेत्र तक एक सुरंग द्वारा ले जाया जाना था । यह सुरंग घाटी की पश्चिमोत्तर की पहाड़ी भूमि में बनाई जानी थी । यह योजना अनुक्रम में क्रियान्वित की गई और अब चल रही है । इसमें यह अंतर्ग्रस्त था कि अपीलार्थी से वह उथली द्रोणी वाला भाग, जो स्रोत का जलागम क्षेत्र था, स्वयं स्रोत की अपनी भूमि और उसके नीचे की भूमि की एक पट्टी अर्जित की जाए । इस भूमि के भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 के उपबंधों के अधीन वैवश्यक अर्जन के लिए आवश्यक कदम सम्यक् क्रम में उठाए गए । उक्त अधिनियम की धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना 13.2.1928 को जारी की गई । जिस लोक प्रयोजनार्थ भूमि की आवश्यकता थी वह अधिसूचना में मलेरिया निवारक संकर्म बताया गया था । अपीलार्थी से अर्जित किया जाने वाला संपूर्ण क्षेत्रफल 108.9 एकड़ था । इस संपूर्ण क्षेत्र में स्रोत के स्थल सहित जलागम क्षेत्र, जो कि 2-1डी तथा 2-1ई के रूप में निर्दिष्ट है, 105.92 एकड़ था और शेष में स्रोत के नीचे की भूमि थी जो 2-1बी (0.53 एकड़) 2-1सी (0.48 एकड़) और 2-3बी (1.97 एकड़) के रूप में निर्दिष्ट है ।

4. अधिसूचना निकालने तथा अधिनियम की धरा 6, 7 और 8 में बताई गई प्रक्रिया पूरी करने के बाद कलेक्टर ने धारा 9, 10 और 11 में विहित कदम उस प्रतिकर के अवधारण के लिए उठाए जो अपीलार्थी को उसकी भूमि की बाबत दिया जाना था । अधिनियम की धारा 15 में उपबंध है कि ऐसा करने के कलेक्टर धारा 23 और 24 में दिए गए उपबंधों से मार्गदर्शित होगा और यह वर्णन आगे करने के पूर्व इन उपबंधों की ओर

ध्यान देना विधिपूर्ण होगा । जहां तक कि प्रस्तुत प्रयोजनार्थ तात्विक हैं, ये उपबंध इस प्रकार हैं :–

"23. (1) उस प्रतिकर की, जो इस अधिनियम के अधीन अर्जित भूमि के लिए अधिनिर्णीत किया जाना है, रकम अवधारित करने में न्यायालय निम्नलिखित पर विचार करेगा –

प्रथम, धारा 6 की उपधारा (1) के अधीन की अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख पर उस भूमि का बाजार मूल्य[1] ;

द्वितीय, वह नुकसान जो हितबद्ध व्यक्ति ने किन्हीं ऐसी खड़ी फसलों या वृक्षों के लिए अर्जन किए जाने के कारण उठाया हो, जब कलक्टर ने उस भूमि पर कब्जा किया, उस समय उस भूमि पर हों ;

तृतीय, वह नुकसान (यदि कोई हो) जो हितबद्ध व्यक्ति ने उस समय जब कलक्टर ने उस भूमि पर कब्जा किया इस कारण उठाया हो कि उस अर्जन से उसकी अन्य स्थावर या जंगम संपत्ति पर किसी अन्य राति में या उसके उपार्जन पर क्षतिकर प्रभाव पड़ा है ; .... "

"24. किंतु न्यायालय निम्नलिखित को विचार में न लेगा –

प्रथम आत्ययिकता की वह मात्रा जिसके कारण अर्जन किया गया है ;

द्वितीय, अर्जित भूमि विलग करने के बारे में हितबद्ध व्यक्ति की कोई अनिच्छा ;

....

पंचम, अर्जित भूमि के मूल्य में ऐसी कोई वृद्धि, जो उस उपयोग के परिणामस्वरूप होना संभाव्य है, जिसमें वह भूमि अर्जित हो जाने पर लाई जाएगी ।"

5. प्रतिकर के अवधारण के इन धाराओं के विनिर्दिष्ट सामान्य सिद्धांत किसी महत्वपूर्ण विषय में उनसे भिन्न नहीं है जिन पर कि इस देश में प्रतिकर भूमि अर्जन (प्रतिकर निर्धारण) अधिनियम, 1919 (land Acquisition Assessment of Compensation Act) के प्रवर्तन में आने के

---

[1] आ. इं. रि. 1939 प्रि. कौं. के पृष्ठ 101 पर उद्धृत अंश 1923 के संशोधन के पूर्व का है । हमने यहां भूल सुधार कर दिया है ।

पूर्व भूमि खंड अधिनियम, 1845 (land clauses Act) के अधीन दिलाया जाता था । जैसा कि न्यायमूर्ति बाड्सवर्थ ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत मामले में निर्णय देते हुए कहा :

> "यह सुप्रतिष्ठित है कि भूमि खंड अधिनियम, 1845 के अधीन अंग्रेजी निर्णय जो सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं वे भारतीय अधिनियम के अधीन कार्यवाही को समान रूप से लागू होते हैं ।"

6. अतः प्रतिकर का अवधारण उस कीमत के निर्देश से किया जाना चाहिए जिसके बारे में किसी रजामंद विक्रेता को युक्तियुक्त रूप से आशा हो सके कि वह किसी रजामंद क्रेता से प्राप्त होगी । अपनी भूमि बेचने की विक्रेता की अनिच्छा तथा भूमि खरीदने की क्रेता की तुरंत आवश्यकता दोनों की समान रूप से उपेक्षा की जानी चाहिए । दो में से किसी के बारे में यह विचार नहीं होना चाहिए कि वह विवश होकर कार्य कर रहा है । यह इस सामान्य कहावत में समाहित है कि भूमि का मूल्य क्रेता की दृष्टि में मूल्य के रूप में आकलित नहीं किया जाना चाहिए । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस बात की उपेक्षा कर दी जाए कि एक क्रेता अन्य क्रेताओं की उपेक्षा भूमि अधिक चाहेगा । किसी क्रेता विशेष की इच्छा, जो विवशकारी न हो, मूल्य के अवधारण में सदैव विचार में ली जा सकती है, उसका महत्व कुछ भी हो । किंतु उसके महत्व के प्रश्न पर अर्थात् कि दिलाया जाने वाला प्रतिकर उससे कहां तक प्रभावित होगा इस पर विचार इस निर्णय में आगे किया जाएगा । चलते हुए यह भी बता दिया जाए कि बहुधा कहा जाता है कि आकलन उस मूल्य का किया जाना चाहिए जो विक्रेता की दृष्टि से उस भूमि का हो । किंतु यह पूरी तौर पर सही नहीं है । उदाहरणार्थ, विक्रेता की दृष्टि में भूमि का भावनात्मक मूल्य हो सकता है जो कि उसके बाजार मूल्य से कहीं अधिक हो । किंतु ऐसी किसी बात के कारण प्रतिकर बढ़ाया नहीं जाएगा । विक्रेता ऐसा विक्रेता माना जाना चाहिए जो भारतीय अधिनियम की धारा 23 की शब्दावली में बाजार मूल्य पर बेचने को रजामंद हो ।

7. इस संबंध में संभवतः यह वाछंनीय है कि "बाजार मूल्य" पद के विषय में कुछ बताया जाए । सामान्यतः भूमि का कोई बाजार उस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में कि शेयरों, चीनी या ऐसी ही अन्य वस्तुओं का बाजार कहा जाता है । ऐसी किसी वस्तु का किसी विशिष्ट समय पर मूल्य उन कीमतों से तुरंत अभिनिश्चित किया जा सकता है जो बाजार में वैसी वस्तुओं का मिल रहा है । भूमि के बारे में सामान्यतः उसका मूल्य उन

कीमतों का विचार करके आंका जा सकता है जो कि उसी प्रकार की ओर उसी स्थित भूमि की बाबत पहले मिला है और धारा 23 में "बाजार मूल्य" से सामान्यतः यही अभिप्रेत है । किंतु कभी ऐसा होता है कि मूल्यांकन की जाने वाली भूमि के कुछ असाधारण और हो सकता है कि अद्वितीय, लक्षण उसकी स्थिति या उसके उपयोग की संभावनाओं के विषय में हों । ऐसी दशा में मध्यस्थ को उसके मूल्य के अवधारण में कोई बाजार मूल्य मार्गदर्शन के लिए उपलब्ध नहीं होगा और उसके अपने समक्ष की सामग्री के आधार पर अधिकतम उत्तम ढंग से यह अभिनिश्चित करना होगा कि किसी रजामंद विक्रेता को किसी रजामंद क्रेता से उस विशिष्ट स्थिति और उन विशिष्ट संभावनाओं वाली भूमि के लिए क्या मूल्य मिलने की युक्तियुक्त रूप से आशा की जा सकती है । अनेक निर्णयों द्वारा यह प्रतिष्ठित हो चुका है कि भूमि का मूल्यांकन केवल उस उपयोग की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए जिसमें वह उस समय आ रही है जब कि उसका मूल्य अवधारित किया जाना है (भारतीय अधिनियम के अधीन वह समय धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना की तारीख का है), बल्कि उन उपयोगों की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए जिनमें वह भविष्य में युक्तियुक्त रूप से लाई जा सकती है । वस्तुतः इस प्रतिपादना के लिए कोई प्रमाण अपेक्षित नहीं है । यह स्वतः स्पष्ट है । जिस भूमि के विषय में निश्चित है अथवा संभाव्य है कि तुरंत अथवा युक्तियुक्त रूप से निकट भविष्य में उसका उपयोग निर्माण के प्रयोजनार्थ होगा, किंतु जो मूल्यांकन की तारीख को बंजर है या कृषिक प्रयोजनार्थ काम में आ रही है, उसके विषय में यह कोई नहीं मानेगा कि उसका स्वामी, वह चाहे जितना रजामंद विक्रेता हो, अपनी भूमि, यथास्थिति, बंजर या कृषि भूमि के मूल्य पर बेचने में संतुष्ट होगा । यह स्पष्ट है कि उसके मूल्य के अभिनिश्चय में उसके निर्माण के प्रयोजनार्थ उपयोग की संभावना को भी विचार में लेना होगा । साथ ही यह भी उतना ही स्पष्ट है कि भूमि का मूल्यांकन इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए जैसे कि उस पर निर्माण हो चुका हो । यह सिद्धांत अधिनियम की धारा 24(5) में समाहित है और कभी वह यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि भूमि की संभावनाएं, न कि उसकी फलीभूत संभावनाएं, विचार में ली जानी चाहिए ।

8. किंतु भूमि की उपयोग संभावनाओं के कारण उसके मूल्य में होने वाली वृद्धि किस प्रकार आंकी जाए ? उपर्युक्त उदाहरण में जहां कि संभावना यह है कि भूमि का उपयोग निर्माण के प्रयोजनार्थ होगा मध्यस्थ (जिस शब्द से इस निर्णय में वह व्यक्ति भी अभिप्रेत है जिसे भूमि का मूल्य

अवधारित करना है) के समक्ष संभवतः यह साक्ष्य होगा कि ऐसे प्रयोजनार्थ तुरंत अपेक्षित पड़ोस की भूमि के लिए क्या कीमत चुकाई गई । फिर इस प्रकार अभिनिश्चित मूल्य में से उतनी राशि घटानी होगी जो वह इस संभावना की मात्रा को देखते हुए उचित समझे कि भूमि की उक्त प्रयोजनार्थ आवश्यकता कभी नहीं होगी या बहुत समय तक नहीं होगी । किंतु ऐसी असाधारण प्रकृति के उपयोग की संभावनाओं वाली भूमि के मामले में, जब कि मध्यस्थ के मार्गदर्शन के लिए वैसे उदाहरण उपलब्ध न हों, भूमि का मूल्य किसी अन्य प्रकार से अभिनिश्चित किया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त ऐसे मामले में अधिसंभाव्यतः बहुत कम ऐसे व्यक्ति होंगे जो भूमि की संभावनाओं का उपयोग करने में समर्थ हों ।

9. यदि भूमि का स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति है जो ऐसा कर सकता है तो उसकी दृष्टि से मूल्य का अभिनिश्चय उस लाभ के आधार पर किया जाना चाहिए जो वह भविष्य में उस भूमि से प्राप्त कर सके । उदाहरणार्थ, ऐसी खाली भूमि के स्वामी को लिया जाए जो उसके कारखाने से लगी हुई है । भूमि की यह संभावना है कि उसका उपयोग कारखाने के विस्तारण के लिए लाभपूर्वक किया जा सकता है । किंतु स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति है जो उस संभावना का उपयोग कर सकता है । फिर भी भूमि का उसके तथा किसी रजामंद क्रेता के बीच मूल्यांकन करने में भूमि की उपयोग-संभावना का उसके लिए मूल्य अनिवार्यतः गिना जाएगा ।

10. यही बात उन मामलों में लागू होगी जब कि स्वामी ही एकमात्र व्यक्ति नहीं है बल्कि वह उन व्यक्तियों में से एक है जो उस संभावना का उपयोग कर सकता है । उस संभावना का मूल्य उस लाभ से कम नहीं होगा जो उसे उस दशा में होता जब कि वह भूमि को अपने कब्जे में रखकर उसे उक्त उपयोग में लाता । किंतु अब उदाहरण ऐसे मामले का लिया जाए जिसमें कि स्वयं स्वामी कंपनी स्थापित करके या अन्यथा उस संभावना का उपयोग करने में समर्थ न हो । ऐसे मामले में बहुत से ऐसे व्यक्ति हों तो हमारे समक्ष उल्लिखित सभी निर्णयों में यह माना गया है और हमें यह सामान्य बोध के अनुरूप लगता है, कि स्वामी हकदार है कि उसे वह मूल्य दिया जाए जो उस संभावना का उसके लिए हो, यद्यपि उस मूल्य का अभिनिश्चय अनके मामलों में बहुत कठिन हो सकता है ।

11. यह कहा गया कि उसके अभिनिश्चय के लिए मध्यस्थ को एक नीलाम की कल्पना करनी चाहिए । किंतु जिन लोगों का यह सुझाव है उनके प्रति पूरा सम्मान रखते हुए भी हम यह नहीं समझ पाते कि इससे

मध्यस्थ का क्या काम चलेगा । ऐसे काल्पनिक नीलाम में निःसंदेह सभी संभव क्रेताओं की उपस्थिति की कल्पना करनी होगी । अतः उनमें वे व्यक्ति होंगे जो भूमि की संभावनाओं में किसी प्रकार रूचिबद्ध नहीं हैं और ऐसे व्यक्ति उससे अधिक कीमत की बोली नहीं लगाएंगे जितनी कि उन संभावनाओं से रहित वैसी ही भूमि का मूल्य हो । इस निर्णय में उस मूल्य को "पोरमबोक" मूल्य कहा गया है । साथ ही उस नीलाम में वे भी होंगे जो संभावनाओं के क्रेता कहे जा सकते हैं । उनमें कुछ सट्टेबाज क्रेता भी हो सकते हैं जो पोरमबोक मूल्य से अधिक की बोली इस संभावना को लेकर लागएंगे कि वे संभावनाओं के किसी क्रेता को पुनः बेचकर लाभ कमा लेंगे । किंतु यह तर्कसम्मत होगा कि ऐसे क्रेता की उपेक्षा की जाए, क्योंकि काल्पनिक नीलाम का उद्देश्य यह पता लगाने का होगा कि उसके लिए संभावना का क्रेता क्या देने को तैयार होगा और यह उन व्यक्तियों की नीलाम में उपस्थिति से प्रभावित नहीं होगा जो कम देने को तैयार हों, सिवाय उस दशा के जब कि ऐसे अंतिम क्रेता के बारे में समझा जाए कि वह कोई भी असाधारण कीमत, जो उसे स्पर्धा के कारण देनी पड़े, देने को तैयार हो जाएगा । किंतु यह किसी का कहना नहीं है ।

12. अब हम काल्पनिक नीलाम को लेकर आगे बढ़ते हैं । उसमें दो वर्गों के क्रेता है, अर्थात् पोरमबोक क्रेता और संभावना क्रेता । प्रथमोक्त बोली लगाने से उसी समय निकल जाएंगे जब कि बोली पोरमबोक मूल्य पर पहुंच जाएगी और तत्पश्चात् बोली लगाना संभावना क्रेताओं तक सीमित रहा जाएगा । किंतु उनकी बोली किस राशि पर रुकेगी ? जैसा कि पहले बताया गया, यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह बोली तब तक बढ़ती रहेगी जब कि अंतिम क्रेता स्पर्धा में आकर असाधारण कीमत की बोली लगा दे, क्योंकि हमने माना है कि वह रजामंद क्रेता है, न कि ऐसा क्रेता जिसे परिस्थितियों ने खरीदने को विवश किया है । न यह कल्पना की जा सकती है कि बोली पोरमबोक मूल्य पर एक चरण बढ़कर ही रुक जाएगी क्योंकि विक्रेता रजामंद विक्रेता है न कि ऐसा विक्रेता जो अपनी भूमि की संभावनाओं को जो भी कीमत मिले उस पर बेचने को परिस्थितियों द्वारा विवश हो । अतः मध्यस्थ काल्पनिक बोलियां तब तक चालू रखेगा जब कि ऐसी बोली आ जाए जो मध्यस्थ के आकलन के अनुसार उस संभावना का विक्रेता की दृष्टि से सही मूल्य है । इस प्रकार नीलाम मध्यस्थ की कल्पना का नितांत अपव्यय होगा । यदि संभावना का मूल्य "क" हो तो काल्पनिक नीलाम काल्पनिक बोलियों से उक्त "क"

मूल्य के अभिनिश्चय के लिए ही किया जाएगा और इतना ही कहा जा सकता है कि बोली "क" रुपयों पर रुकेगी । सही बात यह है कि संभावना का मूल्य मध्यस्थ द्वारा ऐसी सामग्री के आधार पर अभिनिश्चित किया जाना है, जो उसे उपलब्ध हो और यह कार्य कल्पना की कलाबाजी में लगे बिना किया जाना चाहिए ।

13. यदि हमारे समक्ष बहस में प्रत्यर्थी के अभिवक्ता के कल्पनिक नीलाम के आश्रय से यह दिखाने का प्रयत्न नहीं किया होता कि जब संभावना का एक ही क्रेता संभव हो तो उसका विक्रेता की दृष्टि से मूल्य शून्य होगा, अर्थात् संभावना-सहित भूमि का मूल्य संभावना रहित मूल्य से सारतः कुछ भी अधिक नहीं होगा तो हम यह आवश्यक नहीं समझते कि इस काल्पनिक नीलाम की चर्चा इतने विस्तार से करें । यह उल्लेखनीय है कि यह तर्क **ग्लास** बनाम **इनलैंड रेवेन्यु**[1] वाले स्काटलैंड के मामले में लार्ड कलेन को ठीक लगा, किंतु न्यायालय के बहुमत ने उसे अमान्य कर दिया ।

14. जहां केवल एक संभव क्रेता हो वहां संभावना के मूल्य के प्रश्न पर कुछ निर्णय हैं जिनका हमें उल्लेख करना होगा । किंतु उनके उल्लेख के बिना चर्चा में यह प्रकट करना होगा कि मूल्य वह राशि होना चाहिए जिसके बारे में मध्यस्थ का आकलन हो कि वह रजामंद क्रेता अदा करेगा, न कि वह राशि जो कि क्रेता विवश होकर अदा करेगा । प्रत्यर्थी की ओर से बहस की गई कि जब नीलाम में संभावना का केवल एक ही संभव क्रेता हो तो बोली पोरमबोक मूल्य पर उतनी ही उठेगी कि नीलाम उस क्रेता की बोली पर समाप्त कर दिया जाए । किंतु यदि संभावना क्रेता की दृष्टि में भी मूल्यवान हो और उसके दो या अधिक क्रेता हों तो यह समझ पाना कठिन है कि वह उसे व्यर्थ में केवल इस कारण क्यों दे देगा कि केवल एक क्रेता है । उसे ऐसा करने को विवश करने में उससे ऐसी आशा करना हो जाएगा जैसे कि वह ऐसा विक्रेता है जो अपनी भूमि रजामंद विक्रेता के रूप में नहीं बल्कि विवश होकर दे रहा है । वास्तविकता यह है कि संभावना का एक ही संभव क्रेता होने पर भी वह प्रायः उसका मूल्य चुकाने को पूर्णतः रजामंद होता है । इसका एक उदाहरण **इनलैंड रेवेन्यु कमिश्नर्स** बनाम **क्ले**[2] में मिलता है । वह मामला वित्त (1909-1910) अधिनियम, 1910 की धारा 25(1) के अधीन था और संभवतः प्रस्तुत मामले के लिए पूरी तौर पर सुसंगत नहीं है । किंतु उसके तथ्य

---

[1] (1915) एस. सी. सी. 449.

[2] (1914) 3 किंग्स बेंच 466.

उल्लेखनीय हैं । एक मकान था जिसका मूल्य कुछ न्यासियों के अलावा किसी के लिए 750 पौंड से अधिक नहीं था । ये न्यासी एक नर्स-गृह के स्वामी थे, जो उस मकान से लगा था और वे अपने परिसर का विस्तार करना चाहते थे । अतः उन्होंने वह मकान 1,000 पौंड में खरीद लिया और इस प्रकार स्वामी को 250 पौंड अपनी मकान की उस संभावना के कारण मिल गया कि वह नर्स-गृह से लगा हुआ था । अपील न्यायालय ने निर्णय किया कि 1,000 पौंड कीमत रजामंद विक्रेता के लिए मकान का मूल्य है । मास्टर आफ रोल्स लार्ड कोजन्स हार्डी ने कहा :–

> "मुझे यह हास्यास्पद लगता है कि एक धनी भू-स्वामी की संपदा के मध्य में स्थित एक छोटे खेत का मूल्यांकन इस बात की ओर ध्यान दिए बिना कि वह अधिसंभाव्यतः बड़ी कीमत अदा करने का रजामंद होगा केवल कृषिक मूल्य के आधार पर किया जाए ।"

15. यदि उस मामले में रेल कंपनी या स्थानीय प्राधिकारी ने उस मकान का वैवश्यक अर्जन भूमि खंड समेकन अधिनियम, 1845 (Land clauses Consolidation Act) के उपबंधों के अधीन उसकी न्यासियों द्वारा खरीद के पहले कर लिया होता तो हमारी राय में उपर्युक्त कारणों से मकान का मूल्यांकन 1,000 पौंड ही होता, न कि केवल 750 पौंड । अनेक बातों में **क्ले** (उपर्युक्त) वाले मामले में सदृश मामला है उपर्युक्त (1915) एस. सी. सी. 449 । वह मामला भी वित्त (1909-1910) अधिनियम, 1910 के अधीन उठा था । उसमें कृषिक दृष्टि से 3,379 पौंड मूल्य की भूमि 1911 में जल आयुक्तों को 5,000 पौंड में बेची गई थी । कृषिक प्रयोजनों से भिन्न प्रयोजनार्थ वह भूमि खरीदने वाले वही एकमात्र क्रेता थे । निर्णय यह किया गया कि भूमि का 30.4.1909 को मूल्यांकन करने में यह संभावना विचार में ली जानी चाहिए कि आयुक्त भूमि के लिए कृषिक मूल्य से अधिक दे सकते हैं । लार्ड जान्सटन के शब्दों में भूमि का 30.4.1909 को मूल्य निश्चित करने के लिए यह अभिनिश्चित करना आवश्यक था कि "इस अधिसंभाव्यता के कारण इन परिस्थितियों में कितना मूल्य लगाया जाएगा कि जल आयुक्त इस संपत्ति को अर्जित करना चाहते हैं और परस्पर वार्ता में वे कितनी राशि अदा करने को तैयार होते ।"

16. जो भी हो, कहा यह गया कि मामला उस दशा में बिल्कुल भिन्न हो जाता है जब कि एकमात्र संभव क्रेता वह है जिसे कि खरीदने की वैवश्यक शक्तियां प्राप्त हैं और यह ऐसे निर्णयों से यह प्रतिष्ठित हो चुका है जिसका इस बोर्ड को अनुसरण करना चाहिए । इन निर्णयों में पहला

उल्लेखनीय निर्णय है **इनरी गफ एंड दि अस्पाट्रिया सिलोट एंड डिस्ट्रिक्ट जायण्ट वाटर बोर्ड**[1] उस मामले में यह साबित नहीं हुआ था कि अर्जन करने वाला प्राधिकारी ही एकमात्र संभव क्रेता था और यह हो सकता है कि कोर्ट आफ अपील ने केवल यह विनिश्चय किया कि प्रतिकर के दावेदार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विनिर्दिष्ट करें कि अमुक व्यक्ति संभव क्रेता थे, यद्यपि लार्ड चीफ जस्टिस लार्ड एल्वएर्टन का निर्णय इस मत से पूर्णतःसंगत प्रतीत होता है कि संभावना का मूल्यांकन उस दशा में भी किया जाना चाहिए जब कि अर्जनकर्ता प्राधिकारी ही एकमात्र संभव क्रेता हो । किंतु बहस की गई कि मास्टर आफ रोल्स सर रिचर्ड हेनकोलिन्स ने तत्प्रतिकूल मत प्रकट किया । प्रश्नगत भूमि की विशिष्ट उपयोगिता का उल्लेख करने और यह कहने के बाद कि प्रतिकर की राशि के आकलन में उस पर विचार किया जाना चाहिए, उन्होंने पृष्ठ 423 पर कहा :–

> "यह मत निर्णयों और दीर्घ परंपरा द्वारा समर्थित है ; किंतु उसके मूल में प्रश्न है जो कि मध्यस्थ के लिए तथ्य का प्रश्न है, कि क्या इस स्थल के लिए संभव बाजार है और उसके अवधारण में कानूनी खरीद पर विचार नहीं किया जाना चाहिए ।"

17. किंतु मास्टर आफ रोल्स ने कहा यह है कि खरीद पर विचार नहीं किया जाना चाहिए, न कि यह कि क्रेता पर विचार नहीं किया जाना चाहिए । यदि भूमि का इस कारण अतिरिक्त मूल्य हो जाता है कि भूमि का अर्जनकर्ता प्राधिकारी के प्रयोजनार्थ वैवश्यक अर्जन किया गया तो उसकी सदैव उपेक्षा की जानी चाहिए और मास्टर आफ रोल्स का इससे अधिक कोई आशय नहीं था । किंतु **ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला**[2] पर विचार अधिक विस्तार से किया जाना चाहिए क्योंकि लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन की उस मामले में कुछ उक्तियों पर प्रत्यर्थी का मुख्य आश्रय है । जो भूमि उस मामले में वैवश्यक रूप से अर्जित की गई थी उसकी संभावनाओं का एकमात्र संभव क्रेता अर्जनकर्ता प्राधिकारी नहीं था । अतः अब जिस प्रश्न पर विचार हो रहा है वह उसमें विनिश्चयार्थ नहीं आया । किंतु निचले न्यायालय में **ल्युकस एंड चेस्टरफील्ड गैस एंड वाटर बोर्ड का मामला**[3] में न्यायमूर्ति ब्रे ने कहा था :–

---

[1] (1904) 1 किंग्स बेंच 417.

[2] (1908) 1 किंग्स बेंच 16.

[3] (1908) 1 किंग्स बेंच 571.

"हम इस प्रश्न पर वापस आते हैं कि यह तथ्य कि जलाशय के प्रयोजनार्थ कोई क्रेता नहीं मिलेगा सिवाय उस क्रेता के जिसको संसदीय शक्तियां प्राप्त हैं, भूमि के विशिष्ट मूल्य को बाजार मूल्य होने से रोकता है । हमारी राय में हमें इस प्रश्न का उत्तर 'न' में देना चाहिए ।"

कोर्ट आफ अपील में लार्ड जस्टिस वाघम विलियम्स ने पृष्ठ 25 पर कहा :–

"मैं न्यायमूर्ति ब्रे से सहमत हूं कि यह तथ्य कि जलाशय के प्रयोजनार्थ कोई खरीदने वाला नहीं मिलेगा सिवाय उसके जिसे संसदीय शक्तियां प्राप्त हैं, उसका विशिष्ट मूल्य बाजार मूल्य होने से नहीं रोकता ।"

उन्होंने आगे कहा कि उनके सहमत होने का एक कारण यह है कि जो बोर्ड अर्जनकर्ता प्राधिकारी था स्वयं संभव खरीदार हो सकता था जो भूमि के लिए विशेष कीमत अदा करता और यह विचार में लिया जाना चाहिए । किंतु लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन ने कहा कि उनके विचार से निर्णय यह बताते हैं कि जब विशेष मूल्य केवल ऐसे विशिष्ट क्रेता के लिए हो जिसे वैवश्यक क्रय की शक्तियां प्राप्त हैं तो वह कीमत नियत करने में विचार में नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा करने पर स्कीम के अधीन क्रय की जाने वाली भूमि का मूल्य स्कीम से बढ़ जाएगा । उन्होंने आगे कहा कि जहां अन्य संभव क्रेता हों वहां उनमें स्पर्धा होगी और इससे बाजार कीमत बढ़ जाएगी । विद्वान् लार्ड जस्टिस ने उन निर्णयों का हवाला नहीं दिया जिनमें कि प्रश्नगत सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था और हमें ऐसे किसी निर्णय का ज्ञान नहीं है जो उसे उचित ठहराए । किंतु यह माना जाना चाहिए कि स्कीम के अस्तित्व से कीमत उस दशा में नहीं बढ़ने देनी चाहिए जब कि "स्कीम" का भाव इस तथ्य से हो कि अर्जन की वैवश्यक शक्तियां उस संभावना के लाभप्रद उपयोग के लिए विशिष्ट स्कीम को क्रियान्वित करने के लिए प्राप्त की गई । मूल्यांकन सदैव इस प्रकार किया जाना चाहिए जैसे ऐसी शक्तियां प्राप्त न की गई हों और स्कीम का एकमात्र उपयोग इस साक्ष्य के रूप में हो सकता है कि अर्जनकर्ता प्राधिकारी को उचित तौर पर संभव क्रेता माना जा सकता है । किंतु हमें यह समझने में कुछ कठिनाई है कि इस बात को विचार में लेने से कि विशेष मूल्य केवल अर्जनकर्ता क्रेता के लिए है यह कहा जाए कि इससे स्कीम के अस्तित्व से भूमि का मूल्य बढ़ा दिया जाता है । स्कीम ने तो

केवल यह अंतर किया है कि जो अर्जनकर्ता प्राधिकारी स्कीम के पहले क्रेता मात्र था वस्तुतः क्रेता हो गया जिसका भूमि के अर्जन की बड़ी आवश्यकता थी और वह ऐसी परिस्थिति है जिससे मूल्य कभी बढ़ने नहीं दिया जाता । दूसरी ओर यदि "स्कीम" से लार्ड जस्टिस का आशय अर्जनकर्ता प्राधिकारी द्वारा बनाए गए इस आशय से था कि भूमि की संभावनाओं का उपयोग किया जाए तो उनके कथन का केवल यही अर्थ हो सकता है कि भूमि का मूल्य इस बात से नहीं बढ़ना चाहिए कि वह संभव क्रेता है । इसका परिणाम यह होगा कि जिस मामले में दो या अधिक संभव क्रेता हों वहां भी उनके अस्तित्व के कारण मूल्य नहीं बढ़ने देना चाहिए क्योंकि प्रत्येक के बारे में समझना चाहिए कि उसकी अपनी एक स्कीम (योजना) है और उनकी पारस्परिक स्पर्धा के कारण मूल्य में वृद्धि जिसका लार्ड जस्टिस ने उल्लेख किया है, वस्तुतः स्कीमों के कारण मूल्यवृद्धि हो जाएगी ।

18. इन परिस्थितियों में हम उपर्युक्त (1909) 1 किंग्स बेंच 16 में लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन की उक्ति का अनुसरण करने को तैयार नहीं हैं और वह राय पसंद करते हैं जो कि वहां लार्ड जस्टिस वाघम विलियम्स ने व्यक्त की । किंतु कहा यह गया कि लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन की उक्ति को एक से अधिक बार इस बोर्ड का अनुमोदन प्राप्त हो चुका है । किंतु जिन निर्णयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया उनमें से किसी में भी बोर्ड केवल एक संभव क्रेता पर विचार नहीं कर रहा था और विधि के लार्ड जस्टिस द्वारा कथन के अनुमोदन के बारे में केवल यह समझना चाहिए कि इसका अनुमोदन उस सीमा तक है जहां तक कि वह उस समय बोर्ड के समक्ष के विशिष्ट प्रश्न को प्रभावित करता है । इस मामले में दो ऐसे निर्णयों का उल्लेख पर्याप्त होगा । **सेडर्स रेपिड्स मेनुफैक्चरिंग एंड पावर कं.** बनाम **लाकोस्ट**[1] में पृष्ठ 576 पर लार्ड डनेडिन ने बोर्ड का निर्णय सुनाते हुए कहा :–

> "ली गई भूमि के लिए प्रतिकर दिलाने के विषय में कनाडा की विधि के सिद्धांत वहीं हैं जो इंग्लैड की विधि में हैं और यह अनेक निर्णयों में स्पष्ट किया जा चुका है और वह उससे अधिक सूक्ष्मता से कही नहीं किया गया है जितनी कि (1909) 1 किंग्स बेंच 16 (उपर्युक्त) में है जिसमें कि लार्ड जस्टिस वाघम विलियम्स और लार्ड

---

[1] (1914) अपील केसेज 569 = आ. इं. रि. 1914 प्रि. कौं. 199.

जस्टिस फ्लेचर मोल्टन संपूर्ण विषय की चर्चा स्वतःपूर्ण रूप से और ठीक-ठीक करते हैं ।"

19. जैसा कि पहले बताया गया, अब विचाराधीन प्रश्न पर दोनों लार्ड जस्टिसों के मत एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत थे । दूसरा निर्णय है **फ्रेजर** बनाम **फेजरविले**[1] उसमें बोर्ड का निर्णय सुनाते हुए लार्ड बकमास्टर ने पृष्ठ 194 पर कहा :–

"वैवश्यक रूप से अर्जित की गई भूमि के लिए प्रतिकर निश्चित करने का विनियमन करने वाला सिद्धांत अनेक विनिश्चयों के विषय रहे हैं और उनमें से नवीनतम हैं (1909)1 किंग्स बेंच 16 (उपर्युक्त), (1914) अपील केसेज 569 (उपर्युक्त) और **सिडनी** बनाम **नार्थ ईस्टर्न रेलवे कंपनी**[2] उन मामलों के सिद्धांतों पर इन निर्णयों में सावधानी से और सही-सही विचार किया गया है, जो अपील का विषय है और उनका सार इस प्रकार है : अभिनिश्चित किया जाने वाला मूल्य वह है जो कि विक्रेता की दृष्टि में संपत्ति खरीदे जाने के समय, उसकी वास्तविकता दशा में उसके सारे लाभों और उसकी सारी संभावनाओं सहित हो, किंतु उस लाभ को छोड़ते हुए जो उस योजना के क्रियान्वयन से हो जिसके लिए कि संपत्ति का वैवश्यक अर्जन किया गया और वह योजना क्या है यह तथ्य का प्रश्न है जिसका प्रत्येक मामले में विनिश्चय मध्यस्थ को करना है ।"

20. यह दर्शनीय है कि लार्ड बकमास्टर वर्तमान प्रश्न का कोई उल्लेख नहीं करते । किंतु महान एवं विद्वान् लार्ड ने जिन निर्णयों का हवाला दिया उनमें से (1914)3 किंग्स बेंच 629 (उपर्युक्त) में न्यायमूर्ति रोलट के बारे में विचार है कि उन्होंने बहुत कुछ वही कहा जो लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन ने कहा था । उस मामले में कुछ भूमि के बारे में संभावना थी कि वह रेल के प्रयोजनार्थ उपयोग में लाई जा सकती है । उस संभावना का उपयोग वह रेल कंपनी कर सकती थी जिसने कि उसे अर्जित करने की विवशकारी शक्ति प्राप्त कर ली थी या लगी हुई कोयला खान का स्वामी कर सकता था । उस भूमि के लिए रेल कंपनी द्वारा दिए जाने वाले प्रतिकर के निर्धारण में मध्यस्थ ने इस संभावना पर विचार किया कि रेल कंपनी द्वारा अर्जन न किए जाने की दशा में हो सकता था कि

---

[1] (1917) अपील केसेज 187 = आ. इं. रि. 1918 प्रि. कौं. 308.

[2] (1914) 3 किंग्स बेंच 629.

कोयला खान का स्वामी उसे खरीद लेता ; किंतु उन्होंने इस संभावना पर विचार नहीं किया कि कंपनी मैत्रीपूर्ण वार्ता में कोयला खान के स्वामी की अपेक्षा अधिक देने को रजामंद हो सकती थी । हमारी राय में यह उनकी गलती थी । किंतु खंड न्यायालय ने बताए गए मामले के आधार पर मध्यस्थ के विनिश्चय की पुष्टि कर दी । अपने निर्णय में न्यायमूर्ति रोलट ने कहा :–

> "यदि और जब तक अनेक प्रतियोगी मैदान में हैं, जिनमें वस्तुतः लेने वाला भी है, जिनके बारे में यह विचार किया जा सकता है कि वे बाजार में उस योजना जैसे प्रयोजनार्थ हैं और उनके द्वारा भूमि के लिए राशि देने की संभावना उसके मूल्य का एक अंग है जो उस संभावना से भिन्न नहीं है जो अन्य प्रयोजनार्थ आफरों की हो । अतः वह स्वामी की दृष्टि से सही बाजार मूल्य के रूप में ग्राह्य है, न कि केवल लेने वाले की दृष्टि में मूल्य के रूप में । किंतु जब ऐसी कीमत पहुंच जाए जिस पर कि सभी अन्य प्रतियोगिता समाप्त समझी जानी चाहिए तो उसके ऊपर मूल्य किस कारण से कहा जा सकता है ? उस राशि पर पहुंच गए जब कि स्वामी को उससे अधिक का आफर दिया गया जितना मूल्य उसके अपने प्रयोजनार्थ था और जो कोई भी अन्य व्यक्ति आफर करता, सिवाय उस व्यक्ति के जो योजना का संप्रवर्तक है और जो अब प्रतियोगिता से मुक्त है, यद्यपि पहले नहीं था । विवशकारी शक्तियों के अभाव में स्वामी के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उसे बेंचे और आवश्यकता उच्चतर आफर देने और प्राप्त करने की होती । प्रश्न उठता है कि यह अतिरिक्त आफर किसके बदले होगा । इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि वह अर्जनकर्ता की दृष्टि में अपनी योजना के लिए उसका मूल्य है और वह ऐसा आफर देने को प्रेरित होता है क्योंकि स्वामी उसे तब तक बेचने को तैयार नहीं होगा जब तक कि उसे उस मूल्य में हिस्सा नहीं मिल जाता । इस प्रकार की बात अनुमत नहीं की जा सकती ।"

21. जहां तक कि इसका यह अर्थ है कि अभिनिश्चित किया जाने वाला मूल्य वह कीमत है जो कि कोई रजामंद क्रेता रजामंद विक्रेता को देगा, न कि वह कीमत जो कि एक विवश क्रेता अनिच्छुक विक्रेता को देगा, हम इससे सहमत हैं । किंतु जहां तक इसका अर्थ यह है कि इस संभावना की उपेक्षा की जानी चाहिए कि योजना का संप्रवर्तक रजामंद क्रेता होने के नाते अन्य प्रतियोगियों से अधिक देने को तैयार होगा अथवा

जिस मामले में वह उस संभावना का एकमात्र क्रेता हो उसमें उस संभावना से रहित भूमि के मूल्य से अधिक देगा, हम विद्वान् न्यायाधीश से सादर असहमत हैं । इन कारणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब भूमि की संभावना का एकमात्र संभव क्रेता वह प्राधिकारी है जिसने विवशकारी शक्तियां प्राप्त की हैं वहां मध्यस्थ को प्रतिकर दिलाने में अपनी पूर्ण योग्यता से प्रयत्न करना चाहिए कि किसी रजामंद क्रेता द्वारा किसी रजामंद विक्रेता को उस भूमि के लिए जिसमें वे संभावनाएं हैं, दी जाने वाली कीमत का अभिनिश्चय उसी प्रकार करें जैसे कि वह उस मामले में करता जिसमें कि अनेक संभव क्रेता हों और वह भूमि का पोरमबोक मूल्य दिलाने के लिए प्रथमोक्त मामले में उत्तरोक्त मामले की अपेक्षा अधिक सीमित नहीं है ।

22. अब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उस घटनाक्रम पर विचार करे जिसकी परिणिति इस अपील में हुई । अपीलार्थी ने प्रतिकर का अपना दावा 5.1.1919 को दाखिल किया । उसमें निश्चय ही हिसाब की कमी नहीं थी, किंतु विचित्र बात है कि उसमें यह संकेत नहीं था कि भूमि के इस उपयोग की संभावना है कि वह ऐसा स्रोत बने जिससे कि लोवा बाग के बाहर के व्यक्तियों और निगमों को जल प्रदाय किया जा सके । किंतु उसने यह कहा था कि लोवा बाग की निर्माण स्थल के रूप में मूल्यवान संभावना है और यदि उसे स्रोत से वंचित कर दिया गया तो वह संभावना समाप्त हो जाएगी । तद्नुसार उसने इस बाबत, 2,50,000/- रुपए का दावा किया और उसे पृथक्करण द्वारा हुआ नुकसान बताया । यद्यपि सही तौर पर उसे कहा जाना चाहिए था कि वह अर्जन के अन्य संपत्ति को दुष्प्रभावित करने के कारण हुआ नुकसान है । उसने भूमि की बाबत भी 1,200/- रुपए प्रति एकड़ का और निर्माणों, सड़कों और भूमि पर के वृक्षों की बाबत 16,050/- रुपए का दावा किया । इस प्रकार कुल दावा 3,96,730/- रुपए का था ।

23. 18.1.1929 का भूमि अर्जन अधिकारी ने अपना अधिनिर्णय दिया । उन्होंने कुल 17,745/- रुपए 1 आ. 3 पा. दिलाए, जिसमें अधिनियम की धारा 23(2) द्वारा विहित अतिरिक्त 15 प्रतिशत थी शामिल था । उस तारीख के अधिनिर्णय के आधारों से प्रकट होता है कि उन्होंने लोवा बाग की निर्माण-स्थल के रूप में संभावना नहीं मानी और वह संभावना अब इस मामले से लिप्त हो गई है और उसकी पुनः चर्चा अनावश्यक है । उन्होंने 2-3ख को छोड़कर शेष भूमि का मूल्यांकन 50/- रुपए प्रति एकड़ किया ।

2-3ख का मूल्यांकन उन्होंने 300/- रुपए प्रति एकड़ किया । पृथक्करण के कारण हुए नुकसान की बाबत दावे के संबंध में उनका विचार था कि स्रोत के पानी से रहित होने पर भूमि उसके सहित होने की अपेक्षा बेहतर होगी । बाग का निचला हिस्सा दलदली और मलेरियाग्रस्त था और उसमें जल अत्यधिक था । किसी भी दशा में उनका विचार था कि अपीलार्थी को स्रोत के जल की हानि के लिए 5,000/- रुपए का प्रतिकर पर्याप्त होगा और इस मद में उन्होंने इतना ही दिलाया । उनका कहना था कि अपीलार्थी का 2,50,000/- रुपए का दावा युक्ति-विहीन था । वृक्षों और निर्माणों की बाबत उन्होंने 4,4,93/- रुपए दिलाए । तब अपीलार्थी ने मांग की कि मामला न्यायालय को धारा 18 के अधीन अवधारणार्थ निर्देशित किया जाए और सम्यक् क्रम में वह विजगापत्तनम के अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई में आया ।

24. तब अपीलार्थी की ओर से दावा किया गया कि अर्जन न होने की दशा में स्रोत का उपयोग उसके द्वारा बंदरगाह प्राधिकरण को या तेल कंपनियों को या बंदरगाह क्षेत्र में रहने या कारबार करने वाले लोगों को जल प्रदाय के स्रोत के रूप में किया जा सकता था और उस अपीलार्थी के उस आधार पर प्रतिकर का दावा किया । उनके समक्ष लंबी सुनवाई के बाद, जिसमें कि विधि और तथ्यों के अनेक प्रश्नों पर, जो अब नहीं उठते, चर्चा की गई, विद्वान् न्यायाधीश ने अपना अधिनिर्णय दिया । उन्होंने यह तथ्य साबित पाया, और उस तथ्य पर विवाद नहीं किया जा सकता, कि 13.2.1928 को स्रोत का जल वादी की भूमि के बाहर के व्यक्तियों को जल प्रदाय के स्रोत के रूप में उपयोग में आ सकता था । उन्होंने यह भी पाया कि उस तारीख को जल के एकमात्र संभव क्रेता थे स्वयं बंदरगाह प्राधिकरण तथा वे तेल कंपनियों और श्रमिक बस्तियां जो बंदरगाह के विकास के परिणामस्वरूप स्थापित हों । उन्होंने कहा कि यह बात प्रतिकर की राशि निश्चित करने में विचार में ली जाएगी । किंतु इस विषय पर प्रमाणों पर विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विधि की दृष्टि से विक्रेता को अपनी भूमि की संभावना का मूल्य तब भी निर्धारित किया जा सकता है जब कि अर्जित करने वाले प्राधिकारी के अलावा कोई अन्य संभव क्रेता न हो । अपना अधिनिर्णय देने में अपने मार्गदर्शक के लिए उनके द्वारा वर्णित सिद्धांत थे कि उपयोगकर्ता की समाश्रित संभावना मूल्यांकन के आधार के रूप में विचार में ली जानी चाहिए न कि फलीभूत संभावना मात्र और अर्जनकर्ता प्राधिकारी ने संपत्ति का जो उपयोग वस्तुतः किया वह यह दिखाने के लिए प्रबल साक्ष्य माना जा सकता है कि भूमि का

उक्त उपयोग स्वामी द्वारा अर्जन की तारीख को किया जा सकता था ।

25. इन सिद्धांतों को लागू करके उन्होंने पाया कि अर्जित भूमि का स्रोत सहित मूल्य, 1,05,000/- रुपए था जो कि अधिनियम की धारा 23(2) के अधीन 15 प्रतिशत जोड़ने पर कुल 1,20,750/- रुपए हुआ । भूमि अर्जन अधिकारी द्वारा दिलाए गए 17,745/- रुपए अपीलार्थी को दे दिए गए थे और वे उसने आपत्तिपूर्वक प्राप्त कर लिए थे । 1,20,750/- रुपए में से उक्त राशि घटाने पर अपीलार्थी को 1,03,004/- रुपए 14 आ 9 पा देय रहे । उन्होंने अपीलार्थी के पक्ष में कुछ ब्याज सहित उक्त राशि की डिक्री कर दी । 1,05,000/- रुपए का मूल्य इस प्रकार निकाला गया । अपीलार्थी की ओर से दो साक्षियों ने विद्वान् न्यायाधीश के समक्ष बयान दिया था कि स्रोत से बंदरगाह क्षेत्र को जल प्रदाय के लिए उचित प्रभार क्या होगा और उनके आकलन के अनुसार यह प्रभार 1 रुपए 8 आ. प्रति 1000 गैलन था । किंतु विद्वान् न्यायाधीश ने कहा कि उनके द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को देखते हुए (जो संभवतः उपर्युक्त विधिविषयक और तथ्य-विषयक निष्कर्ष थे) उनका विचार था कि अर्जित संपत्ति का अर्थात् जल स्रोत का अर्जन की तारीख को मूल्य 1 रुपए प्रति 1000 गैलन की दर से नियत करना युक्तियुक्त और उचित होगा । 50,000 गैलन प्रतिदिन का औसत जल प्रदाय मानने पर जल का सकल वार्षिक मूल्य 18,250/- रुपए आया । उनके आकलन के अनुसार अनुरक्षण व्यय, मशीन का अवक्षयण और पूंजी लागत पर ब्याज 12,273/- रुपए आएगा । मोटे तौर पर यह 13,000/- रुपए होगा । इस प्रकार स्रोत से शुद्ध वार्षिक आय 5,250/- रुपए होगी । इसका 20 वर्ष के गुणनफल के आधार पर पूंजीकृत मूल्य 1,05,000/- रुपए आया । अपीलार्थी द्वारा प्रथमतः किए गए अत्यधिक दावों तथा अन्य बातों को विचार में लेते हुए उन्होंने उसे कोई खर्चा नहीं दिलाया ।

26. वर्तमान प्रत्यर्थी ने उक्त विनिश्चय के विरुद्ध अपील मद्रास उच्च न्यायालय में की । अपीलार्थी ने अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा किए गए मूल्यांकन के विरुद्ध प्रत्यापत्ति ज्ञाप दाखिल किया, जिसके वर्णन की यहां आवश्यकता नहीं है । अपील न्यायमूर्तिगण वाड्सवर्थ और स्टोडर्ट ने सुनी तथा अपील मंजूर करने का निर्णय 4.5.1937 को सुनाया गया । न्यायमूर्ति वाड्सवर्थ ने इस विनिश्चय के जो कारण दिए, जिस निर्णय से न्यायमूर्ति स्टोडर्ट सहमत हुए, उनका संक्षेप इस प्रकार है :–

27. घाटी (अर्थात् लोवा बाग) में जल के उपयोग की और मलेरिया

निवारक कार्यों की योजना वस्तुतः कोई स्वतंत्र योजना नहीं थी । वह बंदरगाह के दक्षिणी भाग में सभी ओर मच्छरों के प्रजनन-स्थानों से मुक्ति पाने की बृहत्तर योजना भी थी, जिससे की वह संपूर्ण क्षेत्र विकास के लिए उपयुक्त हो जाए । यह योजना बनने के समय वह संपूर्ण क्षेत्र अविकसित था । वह मलेरिया से भरा हुआ था और मलेरिया निवारक कार्यक्रम की, जिसका कि यह अर्जन एक भाग था, सफलता के बिना वह लाभपूर्ण उपयोग के लिए अनुपयोगी था । यह कल्पनीय भी नहीं था कि स्वयं अपीलार्थी कभी जल प्रदाय योजना विकसित कर सकता और वह आवश्यक मलेरिया निवारक कार्य चलाता और इस प्रकार कारबारी उपक्रमों को बंदरगाह की भूमि के अधिभोग और उससे जल खरीदने के लिए प्रेरित करता । अतः निष्कर्ष यही होना चाहिए कि भूमि की पेय जल प्रदाय के लिए विशेष उपयोगिता का उस योजना से अलग कोई मूल्य नहीं था जिसके लिए अर्जन किया गया ।

28. अतः अधिसूचना की तारीख को पत्तन प्राधिकरण ही अपीलार्थी की भूमि से पेय जल प्रदाय का एकमात्र संभव क्रेता था और ऐसी स्थिति में अधीनस्थ न्यायाधीश ने अपीलार्थी की भूमि की बाहर के व्यक्तियों को जल प्रदाय के लिए विशेष उपयोगिता के आधार पर प्रतिकर दिलाने में गलती की । विभिन्न निर्णयों का और विशिष्टतः उपर्युक्त (1909)1 किंग्स बेंच 16 में लार्ड जस्टिस फ्लेचर मोल्टन की उक्ति का उल्लेख करने के बाद उन्होंने कहा :–

"इसमें संदेह नहीं हो सकता कि विधि की यह व्याख्या प्रस्तुत मामले में हमारे द्वारा बताए गए तथ्यों को लागू करने पर इस निष्कर्ष को औचित्य प्रदान करेगी कि केवल बंदरगाह को पेयजल प्रदाय के लिए इस भूमि के विशेष उपयोग के लिए कोई मूल्य नहीं दिलाया जा सकता, यदि यह दिखाया जा सके कि जल के स्रोत के रूप में इस भूमि का किसी अन्य के लिए कोई मूल्य नहीं था ।"

29. 'बंदहगाह' से विद्वान् न्यायाधीश का तात्पर्य बंदरगाह प्राधिकरण से था । जैसा कि पहले बताया गया, न्यायमूर्ति स्टोडर्ट, न्यायमूर्ति वाट्रसवर्थ से सहमत हुए और उन्होंने आगे कहा :–

"यह नहीं कहा गया कि बंदरगाह प्राधिकरण के अलावा कोई लोक प्राधिकारी या प्राइवेट उपक्रमी इस क्षेत्र का विकास करने और उसे निवास योग्य बनाने के लिए कभी आगे आएगा । अतः पेयजल

के उद्गम के रूप में स्रोत का मूल्य पूर्णतः उस मलेरिया निवारक योजना से उत्पन्न हुआ जो बंदरगाह प्राधिकरण से चलाई और वह उस योजना की सफलता पर निर्भर करता था । हमारे विचार से भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 24 की उपधारा (5) इस मामले के तथ्यों को पूर्णतः लागू होती है ।"

30. तद्नुसार यह अपील उस न्यायालय के तथा निचले न्यायालय के खर्चे सहित मंजूर कर ली गई और भूमि अर्जन अधिकारी का निर्णय पूर्णतः पुनः स्थापित कर दिया गया । प्रत्यापत्तियों का ज्ञाप खर्चे सहित खारिज कर दिया गया । निर्णय के विरुद्ध आवश्यक इजाजत प्राप्त करके अपीलार्थी अब सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील करता है । हम उच्च न्यायालय से सहमत हैं कि 13.2.1928 को अपीलार्थी की भूमि की जल प्रदाय के स्रोत के रूप में विशेष उपयोगिता का एकमात्र संभव क्रेता बंदरगाह प्राधिकरण था । उस समय स्थिति यह थी कि बंदरगाह का कार्य इतना बढ़ गया था कि कुछ ही वर्षों में उसे खोल देने का विचार था । यह आशा की जाती थी कि वैसा हो जाने पर तेल कंपनियों तथा अन्य औद्योगिक समुत्थान अपनी सहगामी श्रमिक बस्तियों सहित बंदरगाह क्षेत्र की ओर आकर्षित होंगे और उन सब को जल प्रदाय प्राप्त करने की आवश्यकता होगी । यह स्पष्ट है कि न तो अपीलार्थी की ओर न उसके किसी क्रेता को स्रोत का जल बंदरगाह क्षेत्र की दक्षिणी सीमा तक ले जाने में कोई अभियंत्रण कठिनाई होती और न वे उस सीमा से तेल कंपनियों तथा अन्य संबंधित समुत्थनों के अनरूप परिसरों में जल ले जाने में किसी अभियंत्रण कठिनाई का अनुभव करते । किंतु बंदरगाह क्षेत्र में आवश्यक पाइप लाइनें डालने के लिए उन्हें बंदरगाह प्राधिकरण की सम्मति प्राप्त करनी होती और अपीलार्थी की दृष्टि में भूमि की विशेष उपयुक्तता के मूल्यांकन में इस संभावना को विचार में लेना होगा कि उक्त सम्मति देने से इंकार किया जा सकता था, यद्यपि यह मानने पर कि कोई अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं था जहां से बंदरगाह प्राधिकरण स्वयं जल प्रदाय कर सकता, ऐसी संपत्ति से इंकार का खतरा गंभीर नहीं था किंतु 12.3.1928 को एक कहीं अधिक गंभीर बात विचारणीय थी ।

31. जैसा कि पहले बताया गया, उस समय बंदरगाह अत्यंत मलेरिया-ग्रस्त स्थान था जो किसी औद्योगिक समुत्थन के लिए आकर्षक स्थल नहीं माना जा सकता था । अतः जब तक उस वस्तुस्थिति का उपचार नहीं कर दिया जाता तब तक अपीलार्थी के जल का कोई ग्राहक नहीं होता और उक्त विशेष उपयोगिता का उसके लिए मूल्य शून्य था ।

यह सही है कि यह लगभग निश्चित था कि बंदरगाह प्राधिकरण उसे यथासंभव मलेरिया-मुक्त करने के लिए कदम उठाएगा क्योंकि यदि कुछ ऐसा नहीं करते तो उस बंदरगाह का रुकने के पत्तन के रूप में भी अधिक उपयोग नहीं होता । किंतु आवश्यक मलेरिया निवारक संकर्म करने के लिए बंदरगाह प्राधिकरण के लिए आवश्यक था कि किसी स्रोत से जल प्रदाय प्राप्त करे जो उस क्षेत्र के उन कुंओं से भिन्न हो जो उस क्षेत्र की मलेरिया-ग्रस्त के लिए उत्तरदायी थे और जिन्हें तब बंद किया जाना था । अतः 13.2.1928 को अपीलार्थी इस असमंजस में होता । यदि जल का एकमात्र अन्य साधन अपीलार्थी का स्रोत था तो बंदरगाह प्राधिकरण ही एकमात्र संभव क्रेता होता । किंतु यदि दूसरी ओर वह प्राधिकरण किसी अन्य स्रोत से जल प्राप्त कर सकता था जो मलेरिया निवारक संकर्मों के लिए तथा बंदरगाह क्षेत्र के व्यापारियों के लिए जल प्रदाय करने के लिए पर्याप्त होता तो अपीलार्थी को प्राधिकरण की भूमि में स्पर्धी जल प्रदाय करने की इजाजत से लगभग निश्चय ही इंकार कर दिया जाता । तथ्यतः एक समय में जल प्राप्त करने के लिए एक अनुकल्पी योजना थी जो मेघाद्रि गेड्डा स्कीम कहलाती थी । वह स्कीम विजगापत्तन नगरपालिका, बंगाल नागपुर रेल, और बंदरगाह के फायदे के लिए थी । स्कीम का लक्ष्य प्रतिदिन 10,00,000 गैलन की आपूर्ति का था, जिसमें से बंदरगाह को 1,50,000 गैलन प्रतिदिन मिलना था । वह स्कीम आगे नहीं बढ़ी किंतु यह बताना असंभव है कि यदि लोवा बाग का स्रोत अर्जित नहीं किया गया होता तो उस स्कीम का क्या होता । इन परिस्थितियों में अपीलार्थी का जल बंदरगाह प्राधिकरण से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा उपलब्ध किए जाने की संभावना बिल्कुल नगण्य थी और अपीलार्थी की दृष्टि में भूमि की जल प्रदाय के लिए विशेष उपयुक्तता के कारण उसकी मूल्यवृद्धि वह राशि थी जितनी कि बंदरगाह प्राधिकरण रजामंद क्रेता के रूप में भूमि के पोरमबोक मूल्य के अतिरिक्त देने को रजामंद होता । हमने उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत की विपरीत दिशा में विचार करने के अपने कारण बता दिए हैं की अपीलार्थी को देय प्रतिकर निश्चित करने में ऐसी राशि विचार में ली जानी चाहिए और वह राशि केवल इस कारण नगण्य नहीं मानी जा सकती कि पत्तन प्राधिकरण ही एकमात्र संभव क्रेता था ।

32. अब भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 24(5) पर विचार शेष रहता है । प्रस्तुत मामले को लागू करने पर उस धारा का इससे अधिक अर्थ नहीं हैं : 13.2.1928 को अपीलार्थी की भूमि का मूल्यांकन उसकी उस स्थिति

में होना चाहिए जिसमें वह तब थी, न कि उस स्थिति में जिसमें वह तब आई जब वह अर्जित हो गई और उसका जल बंदरगाह क्षेत्र को मलेरिया मुक्त करने के लिए उपयोग में आ गया । अन्यथा बंदरगाह प्राधिकरण को जल का दोहरा मूल्य चुकाना होगा । किंतु इस उपधारा का यह अर्थ नहीं है कि भूमि की विशेष उपयुक्तता के कारण किसी क्रेता के अधिक मूल्य देने की संभावना की केवल इस बात के कारण उपेक्षा कर दी जाए कि भूमि उसके हाथों में आने पर उस उपयुक्तता का उसके द्वारा उपयोग कर लिए जाने पर वह भूमि उससे अधिक मूल्यवान होगी जितनी की वह भूमि विक्रेता के हाथों में रहने पर होती, जो उसका उपयोग नहीं कर पाता । उदाहरणार्थ, उपर्युक्त (1914) 3 किंग्स बेंच 466 में नर्स गृह में जुड जाने के बाद मकान निःसंदेह पहले से अधिक मूल्यवान हो गया । वस्तुतः इसी कारण से उस गृह के न्यासियों ने किसी अन्य क्रेता द्वारा दी जाने वाली राशि से 250 पौंड अधिक दिए । उस मामले में मकान का मूल्य 1,000/- रुपए इस कारण नहीं ठहराया गया था कि यह मूल्य तब होता जब वह उस उपयोग में आ गया जिसके लिए वह अर्जित किया गया था बल्कि वह इस कारण था कि वह ऐसी कीमत थी जो कि एक रजामंद क्रेता अर्जित संपत्ति के लिए देने को तैयार था । प्रस्तुत मामले में भूमि का मूल्यांकन उस राशि पर नहीं किया जाना चाहिए जो कि उसके बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा अर्जित हो जाने और मलेरियारोधी प्रयोजनार्थ उपयोग में आ जाने के बाद होता बल्कि उस राशि पर किया जाना चाहिए जो कि प्राधिकरण (लार्ड जांस्टन के शब्दों में) मैत्रीपूर्ण वार्ता 13.2.1928 को उन प्रयोजनों के लिए वह भूमि अर्जित करने के लिए देने को रजामंद होता ।

33. अब हम विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा प्रस्तुत मामले में दिए गए अधिनिर्णय पर वापस आते हैं । यह उल्लेखनीय है कि अपीलार्थी की दृष्टि से भूमि का उसकी विशेष उपयोगिता सहित मूल्य 1,05,000/- रुपए मानने में उन्होंने इस आधार पर कार्य किया कि स्वयं अपीलार्थी बंदरगाह प्राधिकरण द्वारा वैवश्यक अर्जन के अभाव में बंदरगाह को जल प्रदाय करने की स्थिति में होता । उन्होंने यह मूल्यांकन इस आधार पर भी किया प्रतीत होता है कि वह स्रोत 13.2.1928 को आय-प्रद वस्तु बनाया जा सकता था । अन्यथा वे 1,05,000/- रुपए में से पर्याप्त कटौती करते । अतः यह स्पष्ट था कि यह देखते हुए कि जल का उपयोग स्वयं अपीलार्थी द्वारा नहीं किया जा सकता था और जल के बंदरगाह प्राधिकरण के हाथों में लाभप्रद होने में कुछ वर्ष लग जाते, क्रेता चाहे जितना इच्छुक होता ; वह उतनी राशि देने

को सहमत नहीं होता । इन परिस्थितियों में कड़ा रुख अपनाने पर मामला अधीनस्थ न्यायाधीश को वापस भेजना होगा कि वे अपने अधिनिर्णय का पुनरीक्षण करें । किंतु इस अपील के दोनों पक्षकारों ने हमसे अनुरोध किया है कि खर्चा बचाने की दृष्टि से हम यह बता दें कि अधिनिर्णय की उचित राशि क्या होगी और हम ऐसा करने को सहमत हो गए हैं । मामले पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार गंभीरतम विचार करने पर हमारी राय है कि 13.2.1928 को बंदरगाह प्राधिकरण अर्जित भूमि के लिए जो कुल कीमत देने को तैयार होता वह 40,000/- रुपए हो जाती है । हमारे विचार से उच्च न्यायालय का 4.5.1937 का आदेश समाप्त किया जाना चाहिए सिवाय उस सीमा तक कि उन्होंने अपीलार्थी का आपत्ति ज्ञाप खर्चे सहित खारिज कर दिया । अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी के पक्ष में डिक्रीत राशि 1,03,000/- रुपए 14 आ. 4 पा. से घटाकर 28,254/- रुपए 14 आ. 9 पा. और अधिनिर्णय में दिलाया गया ब्याज कर दी जानी चाहिए उनका खर्चे के विषय में आदेश कायम रहेगा । किंतु प्रत्यर्थी अपीलार्थी का उच्च न्यायालय का खर्चा और इस अपील का खर्चा अदा करें । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

तद्नुसार आदेश किया गया ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	—	—	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	—	—	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	—	—	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	—	—	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	—	—	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	—	—	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	—	—	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	—	—	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	—	—	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	—	—	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	—	—	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	—	—	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	—	—	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	—	—	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	—	—	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	—	290	—
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	—	60	—

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

Cover IV

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105